ला॰ ...न्शीराम जी (गृहस्थ)

महात्मा मुन्शीराम जी (वानप्रस्थ)

स्वामी श्रद्धानन्द जी (संन्यासी)

ला० मुन्शीराम जी (गृहस्थ)

महात्मा मुन्शीराम जी (वानप्रस्थ)

स्वामी श्रद्धानन्द जी (संन्यासी)

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ सं०

१. तव वन्दन हे नाथ करें हम — २६१
२. कुलपिता श्रद्धानन्द का दीक्षान्त-संस्कार में स्नातकों को उपदेश — २६२
३ कुलपिता श्रद्धानन्द का कुलजन्मोत्सव के समय कुल-पुत्रों को उपदेश — २६४
४. श्रद्धानन्द का बलिदान (कविता)— श्रीयुत बद्रीनाथ जी भट्ट — २६५
५ स्वामी श्रद्धानन्द— डा० रवीन्द्रनाथ जी ठाकुर — २६६
६. स्वामी श्रद्धानन्द की यादगार में— डा० तारकनाथदास जी एम. ए. — २६९
७. स्वामी श्रद्धानन्द के चरणों में शोकाञ्जलि (कविता)— श्रीहरि जी — २७९
८. गुरुकुल का महत्त्व—श्रीमान् राजाधिराज नाहरसिंह जी शाहपुराधीश — २७२
९. संस्कृत, संस्कृति, संस्कार और गुरुकुल— श्री राज्यरत्न आत्माराम जी — २७३
१०. स्वामी जी के चरणों में श्रद्धाञ्जलि (कविता)— श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति — २७७
११. ब्रह्मचर्य—श्री प्रो० धर्मदत्त जी विद्यालङ्कार — २७८
१२. मंत्र—साधन (कविता) साहित्य रत्न श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय — २८८
१३ सहजात प्रवृत्तियें और उनका शिक्षा में स्थान— श्री पं० प्रियव्रत जी विद्यालंकार — २९०
१४. कुल-भूमि (कविता) श्रीहरि जी — २९४
१५. कुल की कहानी (कविता) — २९५
१६ आश्चर्यमय गुरुकुल — २९८
१७. मेरा तपोवन (कविता) श्री पं० विद्यानिधि जी सिद्धान्तालङ्कार — ३०२
१८. गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली—श्री प्रो० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार — ३०३
१९. कुल-वन्दना (गीति) — ३०६
२०. गुरुकुल-वृक्ष—श्री प्रो० चन्द्रमणि जी — ३०७
२१. कुल-गीत — ३०८
२२. गुरुकुल कांगड़ी की शाखायें — ३०९-३१७
(१) शाखा-गुरुकुल मुलतान — ३०९
(२) शाखा-गुरुकुल कुरुक्षेत्र — ३१०
(३) शाखा-गुरुकुल मटिण्डू — ३१२
(४) शाखा-गुरुकुल रायकोट — ३१३
(५) शाखा-गुरुकुल सूपा — ३१५
(६) शाखा-गुरुकुल झज्झर — ३१६
(७) कन्या-गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ — ३१७
२३. गुरुकुल में प्रविष्ट होते हुए पुत्र को पिता का उपदेश—(कविता) श्रीकण्ठ — ३१८
२४. महात्मा गुरुकुल और मिस्टर कालेज की बातचीत—श्रीपादराव सातवलेकर जी — ३२२
२५. मेरा स्वर्ग (कविता) श्री पं० विद्याधर जी विद्यालङ्कार — ३२६
२६. विद्वानों की दृष्टि में गुरुकुल — ३२९
२७, ऋषि के जीवन पर एक पृष्ठ— श्रीयुत् प्रेमचन्द जी — ३३०
२८. गुरुकुल द्वारा उत्पन्न साहित्य — ३३३

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

शहीद स्वामी श्रद्धानन्द महाराज के शव का जलूस

वर्ष ३, अङ्क ९,१०] फाल्गुन, चैत्र [पूर्ण संख्या ३३,३४

अलङ्कार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अरंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५।

तव वन्दन हे नाथ! करें हम।

तव चरणन की छाया पाकर,
शीतल सुख उपभोग करें हम॥

भारत-जननी की सेवा का,
व्रत भारी व्रत नाथ धरें हम॥

माता का दुःख हरने के हित,
न्योछावर निज प्राण करें हम॥

पाप-शैल को तोड़ गिरावें,
वेदाज्ञा इक सीस धरें हम॥

फूले गुरुकुल की फुलवारी,
विद्या-मधु का पान करें हम॥

राग द्वेष को दूर भगाकर,
प्रेम-मन्त्र का जाप करें हम॥

सायं प्रातः तुझ को ध्यावें,
दुःख-सागर के पार तरें हम॥

कुल-पिता श्रद्धानन्द का दीक्षान्तसंस्कार में स्नातकों को उपदेश।

पुत्रो ! आज मैं तुम्हें उन बन्धनों से मुक्त करता हूं, जिन के अनुसार गुरुकुल में चलना तुम्हारे लिए आवश्यक था। पर यह न समझना कि अब तुम्हारे लिए कोई बन्धन नहीं है। प्राचीन काल से हमारे ऋषियों ने कुछ बन्धन बांध रक्खे हैं, उन्हें मैं आज तुम्हें सुनाना चाहता हूं। इन बन्धनों के पालन करने में किसी का तुम पर दबाव नहीं, इसी लिए ये बन्धन और भी कड़े हैं। ये बन्धन उन उपनिषद् वाक्यों में वर्णित हैं, जिन्हें आज से हज़ारों वर्ष पहले इस पवित्र भूमि में प्रत्येक आचार्य अपने स्नातकों को विद्या-समाप्ति के समय सुनाया करता था। उन्हीं पुराने आचार्यों का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हें वे वाक्य सुनाता हूं।

पुत्रो ! परमात्मा सत्यस्वरूप है। उस के प्यारे बनने के लिए अपने जीवन को सत्यस्वरूप बनाओ। तुम्हारे मन में, तुम्हारी वाणी में, और तुम्हारी क्रिया में सत्य हो।

धर्म-मर्यादा का उल्लंघन मत करो। इस मर्यादा का साक्षि अन्तःकरण ही है, बाहर से कोई धर्म बतलाने वाला नहीं है। जो हृदय परमात्मा का आसन है, वही तुम्हें धर्म की मर्यादा बतलादेगा। अपने आत्मा की वाणी को सुनो और उसके अनुसार चलो।

स्वाध्याय से कभी मुख न मोड़ो। वह तुम्हें प्रमाद से बचायेगा।

जिस आचार्य ने तुम्हारी इतने दिनों तक रक्षा की, उसके प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे अपने हृदय से पूछो। यह कुल तुम्हारा आचार्य है। मैं नहीं जानता कि तुम इसे क्या दक्षिणा देना चाहते हो। मैं तुम से केवल एक ही दक्षिणा मांगता हूं। मैं चाहता हूं कि तुम्हारा ऐसा कोई काम न हो, जिस से तुम्हें अपने आत्मा और परमात्मा के सामने लज्जित होना पड़े।

तुम में से अब कई गृहस्थ में प्रवेश करेंगे। उनसे मैं कहता हूं कि पांचों यज्ञों के करने में कभी प्रमाद न करना।

माता पिता आचार्य और अतिथि, ये तुम्हारे देवता हैं, इनकी सदा शुश्रूषा करना धर्म समझो।

पुराने ऋषि बड़े उदार और निरभिमान थे। वे कभी पूर्ण या दोषरहित होने का दावा नहीं करते थे। उन्हीं का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हें कहता हूं कि हमारे अच्छे गुणों का अनुकरण करो, और दोषों को छोड़ दो। इस संसार की अँधयारी में किसी को अपना ज्योतिःस्तम्भ बनाओ। पढ़ा पढ़ाया कुछ अंश तक पथ-दर्शक होता है, पर सच्चे पथ दर्शक वे ही महापुरुष होते हैं, जो अपना नाम संसार में छोड़ जाते हैं। वे जीवन-समुद्र में ज्योतिःस्तम्भ का काम देते हैं। ऐसे आत्मत्यागी- सत्यवादी और पक्षपात रहित महापुरुषों के, चाहे वे जीवित हों या ऐतिहासिक, पीछे चलो।

लेना तो सभी संसार जानता है, तुम इस योग्य हुए हो कि अपनी बुद्धि और विद्या में से कुछ दे सको। जो तुम्हारे पास है, उसे उदारता से फैलाओ। हाथ खुला रक्खो, मुट्ठी को बन्द न होने दो। जो सरोवर भरता है वह फैलाता है, यह स्वाभाविक नियम है।

जिस भूमि की मिट्टी से तुम्हारा देह बना है, जिस की गङ्गा का तुमने निर्मल जल पीया है, और जिसके गौरव के सामने संसार का कोई देश ठहर नहीं सकता, उस पवित्र भारत-भूमि में रहते हुए तुम उसके यश को उज्ज्वल करोगे, यह मुझे पूरी आशा है। इस के साथ ही जिस सरस्वती की कोख में तुमने दूसरा जन्म लिया है, उसे मत भूलना। किसी भी काम को करते हुए सावित्री माता की उपासना से विमुख न होना।

यह मैंने संक्षेप से उन वाक्यों का सारांश सुना दिया है, जो कि सहस्रों वर्षों से इस पवित्र भूमि में गूंजते रहे हैं। इन्हें गुरु-मंत्र समझो और अपना पथ-दर्शक बनाओ।

इस के अतिरिक्त मेरा भी तुम्हारे साथ कई वर्षों का संबन्ध रहा है। मैं तुम से गुरुदक्षिणा नहीं मांगता। गुरुदक्षिणा देना तुम्हारा धर्म है, मांगना मेरा धर्म नहीं। मैं तुम से यह भी नहीं पूछता कि तुम्हारे राजनैतिक सामाजिक या मानसिक विचार क्या क्या हैं। मैं केवल तुम से यही पूछता हूं कि क्या तुम्हारे सब काम सत्य पर आश्रित हैं

या नहीं । स्मरण रक्खो, यह संसार सत्य पर आश्रित है। सत्य के बिना राजनीति धिक्कारने योग्य है, सत्य के बिना समाज के नियम पददलित करने योग्य हैं। यदि सत्य तुम्हारे जीवन का अवलम्बन है, तो मुझे न कोई चिन्ता है और नाहीं कुछ मांगना है। +

कुलपिता श्रद्धानन्द का कुलजन्मोत्सव
के समय कुलपुत्रों को उपदेश

पुत्रो ! आज मुझे इतनी प्रसन्नता है कि तुम उसका अनुभव नहीं कर सकते। मुझे अपने जीवन में जिस बात के देखने की आशा नहीं थी, उसे मैंने देख लिया। यदि आज मेरे प्राण भी चलने को तय्यार हों तो मैं बड़ी खुशी से उन्हें आज्ञा देसकता हूं। इस आनन्द का कारण मैं बताना निरर्थक समझता हूं, तुममें से प्रत्येक उसे अनुभव कर रहा है। लोग समझा करते थे कि हम दिमागों को परतन्त्र बनाना चाहते हैं, परन्तु अब लोग देख रहे हैं कि यदि कोई ऐसा स्थान है जहां स्वतन्त्रता नहीं रुक सकती तो वह यही स्थान है। मेरा अपने ब्रह्मचारियों को केवल एक ही उपदेश है; मत देखो कि लोग तुम्हें क्या कहते हैं, सत्य की दृढ़ता को पकड़ो। सारे संसार का सत्य ही आधार है। यदि तुम्हारा मन वचन और कर्म सत्यमय है, तो समझो कि तुम्हारा उद्देश्य पूरा होगया। प्रसिद्धि के पीछे भाग कर कोई काम मत करो। प्रसिद्धि के पीछे भागने से किसी की प्रसिद्धि नहीं हुई। अपने सामने एक उद्देश्य रखलो, उसी में लग जाओ, फिर गिरावट असम्भव है। उपदेशक बनो या मत बनो, पर एक बात याद रखो, बनावटी मत बनो। सब को परमात्मा वाणी की शक्ति या उपदेश देने की शक्ति नहीं देता। वाणी न हो न सही, किन्तु आचरण सत्यमय हो। नट न बनो, न इस संसार को नाट्य-शाला बनाओ। स्वच्छ जीवन रक्खो। यदि इस प्रकार का स्नातकों का आचरण होगा तो मेरा पूरा सन्तोष है। *

+ यह उपदेश कुलपिता ने दूसरे दीक्षान्त-संस्कार में २८ मार्च १९१४ ई० को दिया था।

* यह उपदेश कुलपिता ने चतुर्थ कुलजन्मोत्सव के समय फाल्गुन बदी १०, सम्वत् १९७० को दिया था।

श्रद्धानन्द का बलिदान

काँप गयी है धरा, देख कर तेरा आज बलिदान ।
सहम गया आकाश, बढ़ा जब तेरा उसकी ओर विमान ॥

देख रही है भौचक दुनिया, आर्यवीर क्या करते हैं ।
धार्मिक युद्ध-क्षेत्र में कैसे हँसते हँसते मरते हैं ॥

जितना पीछे इन्हें धकेलो उतने आगे बढ़ते हैं ।
जितना ही पैरों से कुचलो उतने सिर पर चढ़ते हैं ॥

हुई संगठन की जय सच्ची, हुई शुद्धि की पूरी जीत ।
घर घर में क्या, हृदय हृदय में, गाये जाते इनके गीत ॥

कर सकता था जीते जी जो, मर कर उससे अधिक किया ।
अमर बने रहने का सीधा पथ जो हम को दिखा दिया ॥

एक एक शोणित-कण से जनमेंगे सौ सौ श्रद्धानन्द ।
जो पल भर में आर्यजाति के काटेंगे दुखदायी फन्द ॥

कौन सदा जीवित रहने को इस दुनिया में आया है ।
धन्य वही है, आत्मत्याग से जिसने सुयश कमाया है ॥

जाओ स्वामी, पुनर्जन्म ले अबकी जब तुम आओगे ।
तब सचमुच ही काम अधूरा पूर्ण हो चुका पाओगे ॥

आँखों में ये अश्रु नहीं हैं हृदय स्वच्छ करते हैं हम ।
जान हथेली पर लेकर अब पग आगे धरते हैं हम ॥

होगा जीवन धन्य, धर्म पर जावेंगे जब अपने प्राण ।
धार्मिकता की विडम्बना से मातृभूमि पावेगी त्राण ॥

श्रीयुत बद्रीनाथ जी भट्ट

स्वामी श्रद्धानन्द

(डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्तिनिकेतन)

हमारे देश में जो सत्य—व्रत के ग्रहण करने के अधिकारी हैं, एवं इस व्रत के लिये प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहां पर है, वहां पर स्वामी श्रद्धानन्द से इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं उनके चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है। बार बार इतिहास में देखा जाता है कि जिन्हों ने अपना सब कुछ देकर कल्याण-व्रत को ग्रहण किया है, अपमान और अपमृत्यु ने उनके ललाट पर जय-तिलक की तरह अपना स्थान जमाया है। महापुरुष आते हैं प्राण की मृत्यु के ऊपर जय करने के लिये, सत्य को जीवन की सामग्री बनाने के लिये। हमारे खाद्य द्रव्य में प्राण देने का जो उपकरण है, वह वायु में भी है, एवं वैज्ञानिक परीक्षागार में भी है। परन्तु जब तक वह उद्भिज प्राणी में जीव आकार नहीं धारण करता तब तक प्राण की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। केवल वाक्यों के द्वारा आकर्षण कर उसे जीवन-गत करने की शक्ति कितनों में है? सत्य को जानते बहुत हैं, किन्तु उसको मानता वही है जो विशेष शक्तिमान है। प्राणों की आहुति के द्वारा मान कर ही हम उस सत्य को सब मनुष्यों के लिये उपयोगी बना देते हैं। यह मानकर चलने की शक्ति ही एक सुन्दर वस्तु है। इस शक्ति की सम्पद् को जो समाज को अर्पित करते हैं उन्हीं के दान का महामूल्य है। सत्य के प्रति उसी निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को देगये हैं। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था वही सार्थक हुआ। सत्य की उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा वे अपनी साधना को मूर्ति के रूप में सजीव कर गये हैं। इसी से उनकी मृत्यु भी प्रकाशमय हो उनकी श्रद्धा को उस भयहीन दोषहीन तथा क्लांतिहीन अमृतमय छवि को उज्वल कर प्रकाशित कराती है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उन के चरित्र के मध्य आज हम सार्थक आकार में देख रहे हैं। यह सार्थकता बाह्य

फल स्वरूप नहीं है, अपितु निज की ही अकृत्रिम वास्तविकता में है।

विधाता जब दुःख को हमारे पास भेजता है तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है। वह हम से पूंछता है कि तुम हम को किस भाव से ग्रहण करोगे? विपद आवेगी नहीं ऐसा नहीं हो सकता— सङ्कट का समय उपस्थित होता है, उद्धार का कोई भी उपाय नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार विपद् का हम व्यवहार करते हैं इसी के ऊपर प्रश्न का सदुत्तर निर्भर है। किसी पाप के उपस्थित होने पर हम उस से डरें वा उसके सन्मुख अपना सिर झुकावें? अथवा उस पाप के विरुद्ध पाप ही को सन्मुखीन करें, मृत्यु के आघात दुःख के आघात के ऊपर रिपु की उन्मत्तता को जागृत करें? शिशु के आचरण में देखा जाता है कि जब वह गिरता है तब वह उल्टे जमीन ही को मारता है। वह जितना ही मारता है, फलस्वरूप उसको उलटा ही लगाता है। परन्तु यदि किसी वयस्क की ठोकर लगता है तो वह सोचता है कि वह किस प्रकार दूर की जावे। परन्तु हम देखते हैं कि किसी समय बाहर के आकस्मिक आघात की चमक में मनुष्य भी शिशु की बुद्धि वाला हो जाता है। वह उस समय सोचता है कि धैर्य का अवलम्बन करना ही कापुरुषता है, क्रोध का प्रकाश करना ही पौरुष है। हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन स्वभावतः ही क्रोध आवेगा, मानव धर्म तो बिल्कुल छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु यदि क्रोध से अभिभूत हों तो वह भी मानव-धर्म नहीं है। आग के लग जाने पर यदि सब कुछ भस्म हो जावे तो आग की रुद्रता लेकर आलोचना करना वृथा है। विपद सभी पर आती है, जिनके पास उसके प्रतिकार के उपाय नहीं हैं वे भी दोषी हैं।

भारतवर्ष के अधिवासियों के मुख्यतया दो भाग हैं- हिन्दू और मुसलमान। यदि हम यह समझें कि मुसलमानों को एक ताक में रख देश की सभी मङ्गल चेष्टाओं में सफल होंगे तो यह भी एक बहुत भारी भूल है। हमारे लिये सब से ज्यादा अमंगल और दुर्गति का विषय यह है कि मनुष्य मनुष्य के पास रहता है किन्तु उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राज्य में राजपुरुषों के साथ हमारा एक वाह्य योग-दल है, किन्तु आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राजत्व में यही हमारे लिये सब से अधिक पीड़ाजनक है।

इसी से आज हमें देखना होगा कि हमारे हिन्दू समाज में कहां कौन सा छिद्र है, कौन सा पाप है, अति निर्भय भाव से उस पर हमें आक्रमण करना होगा। इसी उद्देश्य को लेकर आज हिन्दू समाज को आवाहन करना

होगा, कहना होगा हम पीड़ित हुए हैं हम लज्जित हुए हैं, बाहर के आघात से नहीं किन्तु अपने भीतर के पापों के फलस्वरूप। आओ, आज हम सब मिल कर उस पाप को दूर करें। परन्तु हमारे लिये यह बहुत सहल बात नहीं है, क्यों कि हमारे भीतर बहुत प्राचीन अभ्यस्त भेद-बुद्धि भरी हुई है। बाहर बहुत पुरानी भेद की प्राचीर है। मुसलमानों ने जिस समय किसी उद्देश्य को लेकर मुसलमान समाज को आवाहन किया है, उन्हें कोई भी बाधा नहीं पड़ी। एक ईश्वर के नाम पर 'अल्लाह हो अकबर' कह कर उन्हें बुलाया है। फिर आज हम सब बुलावेंगे हिन्दू आओ, तब कौन आवेंगे? हमारे मध्य कितने छोटे छोटे सम्प्रदाय है, कितनी प्रादेशिकता है, उनको पार कर कौन आवेगा? कितनी आफ़तें पड़ीं परन्तु कभी भी तो हम एकत्रित नहीं हुए। बाहर से जब पहला वार मुहम्मद गौरी का हुआ था, तब भी तो उस आसन्न विपद् के दिन हिन्दू एकत्र नहीं हुए थे। इसके बाद मन्दिर के बाद मन्दिर लुटने लगे, देव-मूर्तियें झूठी होने लगीं, तब वे अच्छी तरह लड़े हैं, मारे गये हैं, खण्ड खण्ड होकर युद्ध करके मरे हैं, किन्तु एकत्र नहीं हुए। अलग २ थे, इसी लिये मारे गये। युग युग में हमारे इसके प्रमाण हैं। हां, सिक्खों ने अवश्य एक समय इस बाधा को दूर किया था। परन्तु सिक्खों ने जिसके द्वारा इस बाधा को दूर किया वह सिक्ख धर्म था। पञ्जाब में सिक्ख धर्म के आवाहन करने पर जाट-प्रकृति सभी जातियां एक झण्डे के नीचे एकत्रित हो सकीं थी। एवं, वे ही धर्म की रक्षा करने के लिये खड़ी हो सकीं थी। शिवाजी ने भी एक समय धर्मराज्य की स्थापना की नींव डाली थी। उनकी जो असाधारण शक्ति थी उसी के द्वारा वे समस्त मराठों को एकत्र कर सके थे। इसी सम्मिलित शक्ति ने भारत वर्ष को अपनाकर छोड़ा था। घोड़े के साथ जब घुड़सवार का सामञ्जस्य रहता है तभी वह घोड़ा किसी भी तरह नहीं रुकता। शिवाजी के साथ होकर जो उस दिन लड़े थे, उनके साथ भी शिवाजी का ऐसा ही सामञ्जस्य था। बाद में ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा। पेशवाओं के मन में आचरण में भेद-बुद्धि का उदय हुआ, और इसी के फलस्वरूप उनका पतन भी हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो हमने भेद-बुद्धि के पाप को पाल रखा है, यह अत्यन्त भयङ्कर है। पाप का प्रधान आश्रय दुर्बल के मध्य है। अत एव यदि मुसलमान हमें मारते हैं और हम यदि उसे पड़े पड़े सह रहे हैं, तो यह केवल सम्भव हुआ है हमारी दुर्बलता के कारण। हमारे लिये, एवं

स्वामी जी की चिता ज्वाला

वीर स्नातक धर्मपाल
विद्यालंकार

स्वामी भक्त सेवक
धर्मसिंह

Punjab Fine Art Press Calcutta.
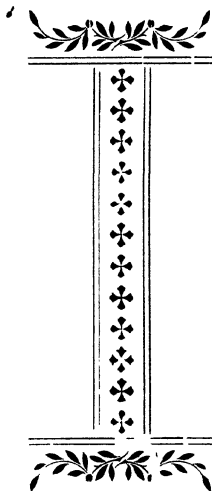
प्रतिवेशियों के लिये भी हमें अपनी दुर्बलता को दूर करना होगा। हम प्रतिवेशियों के निकट अपील करते हैं कि तुम इतने क्रूर मत बनो, अपनी उन्नति करो। नरहत्या के ऊपर किसी भी धर्म की भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती। परन्तु यह अपील इसी दुर्बलता का रोना है। जिस प्रकार वायुमण्डल के घिर आने पर झड़ी आप ही आरम्भ हो जाती है, धर्म की दुहाई दे उसे कोई बाधा नहीं दे सकता, उसी प्रकार दुर्बलता के पाल रखने पर अत्याचार भी होने लगते हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता। कुछ समय के लिये एक उपलक्ष्य को लेकर परस्पर में कृत्रिम बन्धुता हो सकती है, किन्तु चिरकाल के लिये नहीं हो सकती।

आज हमारे अनुताप का दिन है, आज अपराध का प्रायश्चित्त करना होगा। सत्यमय प्रायश्चित्त यदि हम करेंगे तभी शत्रु हमारा मित्र हो सकेगा, रुद्र हमारे प्रति प्रसन्न होंगे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी की यादगार में

(लेखक श्रीयुत डा० तारकानाथदास० एम०ए०, पी०एच० डी०)

एक आततायी की गोली ने ऋषि श्रद्धानन्द को हम से छीन लिया। आप का भौतिक देह हम से बिछुड़ गया परन्तु आपकी आत्मा हमारे बीच में ही है। आज श्री स्वामी जी के भौतिक वियोग पर मैं उनकी आत्मा से और भी निकट सम्बन्ध का अनुभव कर रहा हूं। मेरे लिये वह ऋषि 'दधीचि' थे जिन्होंने धर्म-वेदी पर जीवन की अन्तिम आहुति भी दे डाली। वीरता के वह साक्षात् अवतार थे। हिन्दुओं की निर्बलताओं व कुरीतियों को दूर करने में उनसा पराक्रमी कोई नज़र नहीं आता था। उनका मिशन करोड़ों पतितों और मनुष्यता के जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित हिन्दु भाइयों का उद्धार करना ही न था, अपितु उनका पवित्र मिशन उन विधर्मियों को, जो ऋषि-सन्तान होते हुए भी तलवार के बल पर मुसलमान बनाये गये, शुद्ध करके हिन्दू धर्म में फिर से दीक्षित करने का था। सारांश में उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक उत्थान के लिये जी जान से कोशिश की और अपने उद्योग में सफल हुए। भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिये जिन साधनों का उन्होंने सहारा लिया था, मैं उनकी गहराई में नहीं जाता, परन्तु इतना अवश्य कहूंगा कि वह हिन्दुओं के उन शहीदों में से जिन के नाम पर हिन्दू जाति गर्व करती है श्रेष्ठतम थे और भारतीय राष्ट्र के निर्माताओं में सब से उत्कृष्ट थे।

हिन्दूओं के कुछ राजनीतिज्ञों को

हिम्मत नहीं हुई कि वह शुद्धि और अछूतोद्धार के पवित्र कार्य में महान् स्वामी का हाथ बटा सकें, क्यों कि वह विधर्मियों की धर्मान्धता से भय खाते थे। ऐसे राजनीतिज्ञों ने उस महान् स्वामी के महान् कार्यों का ज़ाहिरा और पोशीदा तौर पर विरोध करके भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को भारी नुकसान पहुंचाया है, और एकता के आधारभूत सिद्धान्त धार्मिक सहिष्णुता के कायम होने में बड़ी भारी रुकावट डाली है। उम्मेद् है कि ऐसे अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ अपनी आंखें खोलेंगे और स्वामी जी के कार्यों में पूरा सहयोग देकर इस पाप का प्रायश्चित करेंगे।

उस महान् व्यक्ति की स्मृति को ताजा बनाये रखने का एक ही उपाय है, और वह यह कि उन द्वारा संचालित कार्यों को द्विगुण उत्साहसे चलाया जाये। शुद्धि और संगठन के कार्यों के अतिरिक्त २५ करोड़ हिन्दुओं को एक ही छत्रच्छाया के नीचे लाना भी उनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य के लिये 'स्वामी श्रद्धानन्द–दिवस' मनाया जाना चाहिये और उनके कार्यों के लिये धनसंग्रह होना चाहिए। इस काम में पं० मालवीय, लाला जी, डा० मुंजे, मि० केलकर, श्रीनिवास आयंगर तथा मि० बिर्ला आदि को पूरा सहयोग देना चाहिये। प्रतिवर्ष हिन्दू जाति को स्वामी श्रद्धानन्द-दिवस मनाना चाहिए और उन के मिशन को पूरा करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये।

स्वामी श्रद्धानन्द जी 'ब्रह्मचर्य' के प्रचारक थे। स्त्री–शिक्षा और विधवा-विवाह के वह कट्टर पक्षपाती थे। हर एक हिन्दू का, जो स्वामी जी के भक्त होने का दावा भरता है, कर्तव्य है कि वह उक्त कार्यों का क्रियात्मक प्रचार करे। २५ करोड़ हिन्दुओं में से यदि २ लाख हिन्दू भी सच्चे हृदय और दृढ़ संकल्प के साथ स्वामी जी के कार्यों को पूरा करने का व्रत ले लें तो १० वर्षों में हिन्दू जाति की काया पलट हो जाय।

हिन्दुओं को याद रखना चाहिये कि श्री स्वामी जी को हिन्दू जाति के उत्थान के निमित्त जीवन की आहुति देनी पड़ी है। एक तरह से हिन्दू जाति की पतित अवस्था ही एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा स्वामी जी की हत्या का कारण है। इस लिए याद रखिये स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की जिम्मेवारी उन सब हिन्दुओं पर है जो हिन्दू जाति की पतित अवस्था को देखते हुए भी उत्थान के लिए अपना कर्तव्य पालन नहीं करते। आइये, आज उस पाप को हम धो डालें और प्रायश्चित कर के श्री स्वामी जी द्वारा शुरु किए हुये कार्यों को द्विगुण उत्साह से करें ताकि शहीद श्रद्धानन्द का यश अमर हो और हिन्दू जाति फिर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर सके।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के

श्रीचरणों में "शोकाञ्जलि"

(१)

निज मातृभू के भक्त थे तुम दीन-जन के बन्धु थे ।
थे नाथ ! नाथ अनाथ के श्रद्धा-सुधा के सिन्धु थे ।।
कुलभूमि के कुलदेव थे, देवत्व की वर पूर्ति थे ।
मृत-जाति-जीवन-स्फूर्ति थे, करुणा क्षमा की मूर्ति थे ।।

(२)

आलोक थे इस लोक के, तुम आर्य जनता-प्रान थे ।
परतन्त्र भारत के सदा ही, मूर्तिमय अभिमान थे ।।
निज धर्म-धन के थे धनी, धृति सिन्धु के शुभ पोत थे ।
अशरन-शरन थे पुण्य-पावन, प्रेम-गङ्गा-स्रोत थे ।।

(३)

इस आर्त हिन्दू जाति के, तुम एक ही आधार थे ।
रणधीर थे, नरवीर थे, वर-आत्म-बल-आगार थे ।।
आपत्ति से हो भीत, देश-द्रोह तुम करते न थे ।
कर्त्तव्य-पालन में कभी, हा ! मृत्यु से डरते न थे ।।

(४)

हे वीर ! तुम तो वीर गति को पा चले इस लोक से ।
क्यों रो रही है आज हिन्दू-जाति फिर इस शोक से ।।
बलिदान की विधि धर्म पर, इस मृत्यु ने सिखला दिया ।
होते अमर मर करके कैसे, दृश्य यह दिखला दिया ।।

(५)

हे देव ! तुमने गोलियों को इस हृदय पर सह लिया ।
हो मूक केवल ईश से मृत जाति का हित कह लिया ।।
हे वीर ! जाओ शान्ति से, इस लोक से जो जा रहे ।
पर देखना इस पुण्य-पथ पर, वीर कितने आ रहे ।।

साहित्याचार्य गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि'

गुरुकुल का महत्त्व

(हिज़ हाइनेस श्रीमान् राजाधिराज सर नाहरसिंह जी बहादुर के०सी०आई० ई० शाहपुरा)

शिक्षा का महत्त्व केवल विद्वत्ता में नहीं प्रत्युत सदाचार में है। एक बड़ा भारी विद्वान्, प्रत्येक दार्शनिक विषय को भली प्रकार समझाने की योग्यता रखने वाला यदि अपने आचार द्वारा प्रभाव नहीं डाल सकता तो उसकी समस्त विद्वत्ता लोगों के लिए व्यर्थ और उसके लिये भार स्वरूप है। इस के विरुद्ध एक साधारण विद्वान् जो अपने आचार द्वारा यह दिखला सकता है कि श्रेय और हेय मार्ग क्या है, संसार का बड़ा उपकार कर सकता है। अतएव शिक्षा पूर्ण तभी है जब कि विद्वत्ता के साथ २ चरित्र-संगठन का भी बल हो। वही शिक्षा-संस्था वस्तुतः लोकोपयोगी संस्था है जहां इस प्रकार का प्रबन्ध हो।

प्रसन्नता है कि गुरुकुल इस प्रकार की संस्थाओं में से एक है जहां विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करते हुये विद्या की प्राप्ति कराई जाती है। वृक्ष की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता उसके फल द्वारा निश्चय की जाती है। गुरुकुल से निकले हुये स्नातकों में से कइयों ने यह दिखला दिया है कि उन की शिक्षादात्री संस्था सचमुच देश के एक आवश्यक अङ्ग की पूर्ति कर रही है।

यह ठीक है कि बहुत से लोग इस से निराश होगये हैं, परन्तु इस का कारण है। वह यह है कि कार्य आरम्भ करते ही लोग बड़े २ फल की इच्छा करने लग जाते हैं, उन लोगों ने आशा की थी कि गुरुकुल से कणाद और गौतम निकलेंगे, परन्तु यह नहीं ध्यान दिया कि इतने दिनों की बिगड़ी हुई परिपाटी एक दम कैसे सुधर सकती है। आखिर वे बालक जो गुरुकुल में प्रविष्ट हुवे हैं, उन लोगों के ही सन्तान हैं जिन्होंने नियम पूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया है, और उन के पढ़ाने वाले किसी गुरुकुल के नहीं, प्रत्युत कालेज के निकले हुये हैं और आधुनिक शिक्षा प्रणाली के वातावरण से बाहर नहीं हैं। धैर्य पूर्वक स्वामी जी के बतलाए हुये मार्ग का अनुकरण करते चले जायें, तो आशा है अवश्य सफलता प्राप्त होगी, और किसी न किसी समय वह दिन भी देखने में आजायगा जिसकी सब को प्रतीक्षा है। ईश्वर वह दिन लावे।

संस्कृत संस्कृति संस्कार और गुरुकुल

(ले० श्रीयुत राज्यरत्न आत्माराम जी बड़ौदा)

२२ कोटि हिन्दु प्रजा धर्म की उपासक है। मुट्ठीभर उसके सच्चे वीर नेता कांग्रेस आदि द्वारा उसको स्वराज्य दिलाने की चिन्ता में है। पर इस प्रजा का यथार्थ स्वरूप वह अभी नहीं समझ सके। वह सच्चे हैं, उनका अनुभव भी ठीक है। उन्हों ने आँखों से युरोप आदि में जाकर देख लिया है कि मज़हबी दीवानगी इस समय वहां नहीं, और जबतक वहाँ की प्रजा मज़हब की एकमात्र पुजारी बनी रही तब तक वह इस वैभव को प्राप्त नहीं कर सकी। महात्मा गांधी जी ने भी जब चरखे से स्वराज्य दिलाने की प्रतिज्ञा करते हुए हजारों हिन्दु युवकों को कारागार भिजवाया, तब भी वह सच्चे रहे, कारण कि वह कहते थे कि भारत के सब मनुष्य चर्खा नहीं कात सके इस लिये मैं स्वराज्य कैसे दिलाता ? अङ्गरेज़ी शिक्षण जो कुछ भी फैला है, उसका कुछ भी प्रभाव कालेजों के पढ़े हुए युवक हिन्दु जाति के सुधारने में नहीं दिखा सके। ब्रह्मसमाज का दृष्टान्त काफ़ी है। हिन्दुओंका समाज दौर्भाग्य-वश 'धर्म' शब्द के गिर्द ही चक्कर काट रहा है। महमूद गज़नवी की तलवार और वर्तमान काल की मुसलिम-गुंडेशाही ने इस के मन्दिर तोड़े, पर यह उनकी मुरम्मत करने की चिन्ता में है न कि मूर्तिपूजा छोड़ने की। एक वर्ष में एक सहस्र बालविधवाओं को मुसलमान गुंडे घरों, मेलों, तीर्थों, रेलों, यज्ञों, मन्दिरों, नदियों, तथा सड़कों पर से उड़ा ले जाते हैं। पर यह बाइस करोड़ हिन्दुजाति क्या बालविधवा-विवाह की घोषणा करने को तैय्यार है ? गङ्गा-स्नान से मुक्ति दिलाने वाले हमारे धर्मनेता ब्राह्मण क्या ७ करोड़ दलित और दो करोड़ भीलों को कल गंगा-स्नान से शुद्ध कर सकते हैं। देहली के 'तेज' पत्र के कृष्णांक में श्रीयुत रामप्रसाद जी बी. ए. भूतपूर्व संपादक 'बन्देमातरम्' ने सच लिखा है कि हिन्दुवीर राजनीति का दुरुपयोग करने के कारण हारते रहे। श्री सातवलेकर जी ने उसी पत्र में सत्य कहा है कि वैज्ञानिक शस्त्रों से शून्य होने के कारण हिन्दुवीर अनेक बार परास्त हुए। महाराजा रणजीतसिंह जी ने कवायद सिखाने के लिये फ्रैंच नायक रखा था, पर यदि वीर सिख सेनापति युरोप भेजे जाते तो कितना उत्तम होता ? पर विदेश-गमन पाप है, यह हिन्दुधर्म कह रहा था। इस लिये जो महानुभाव देशभक्त हिन्दुनेता होने पर २२ कोटि हिन्दुप्रजा को धर्म की बातों से एकदम हटा कर स्वराज्य की अलफ़ बे पढाना चाहते हैं, वे सच्चे

देशभक्त हैं, इस में संदेह नहीं। यह डाक्टर हितैषी है, यह तो ठीक हैं, पर मरीज़ की मरज़ दूसरी है। जब तक घोड़े पर बैठ कर एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में रोटी खाने को हिन्दुप्रजा तैय्यार नहीं, जब तक वह यवन वा गोरे के पानी को रणभूमि में पीने को तैय्यार नहीं, तब तक उसको स्वराज्य का पात्र समझना ठीक नहीं हो सकता। अभी दिल्ली बहुत दूर है, यह कहावत ठीक घटती है।

अब प्रश्न केवल यह रह गया कि इन २२ कोटि हिन्दुओं का सामाजिक सुधार करने के लिये पहिले क्या किया जावे? क्यों कि जब तक ये कल्पित धर्म के भूत से डर रहे हैं तब तक आत्म-हत्या और समाज-हत्या के कुमार्ग में विवश जा रहे हैं।

इनका सामाजिक रोग भी तो बड़ा भयंकर और असाध्य कोटि का बन रहा है। जो धर्म के रक्षक कहलाते हैं, वही इस समय दुर्दैव से हिन्दुसमाज के प्राणघातक बन रहे हैं। संस्कृत भाषा के एकमात्र वे ठेकेदार हैं। २२ कोटि हिन्दुप्रजा उनकी बात को ईश्वर-वाक्य मान रही है। वे यदि कहदें कि विधवा विवाह पाप है तो क्या मज़ाल कोई सेठ इसको कर तो जावे? इस लिये वेदों वा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में क्या लिखा है? और उसके अर्थ व्याकरण अनुसार क्या है? ये बातें जब तक घर घर में न पहुंचाई जावें तब तक २२ कोटि प्रजा नहीं मान सकती कि सत्य धर्म क्या है? कानपुर से 'धर्म' नामी एक मासिकपत्र ६ वर्ष से निकलता है। वह एक सौ पण्डितों वा शास्त्रियों की नामावलि छाप कर भोले हिन्दुओं को कहता रहता है कि एक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने यदि भूल की तो क्या हुआ, सैंकड़ों पंडित विधवा-विवाह के विरोधी हैं। इस का यथार्थ उत्तर गुरुकुल के हो जाने पर हम छाती ठोक दे सकते हैं कि यदि आप १०० संस्कृतज्ञ पंडितों के नाम विरोध में दे सकते हो तो हम गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों के नाम, जो भारी पंडित है, उन से दुगुने वा तिगुने दे सकते हैं। विदेश-गमन पाप है, शुद्धि पाप है, दलितोद्धार पाप है, रण में जाना पाप है, ये सब पाप शीघ्र ही पुण्य हो जावें यदि शीघ्र ही हम गुरुकुलों की संख्या बढ़ा सकें।

संस्कृत-भाषा, संस्कृत-विद्या, वैदिक-संस्कृति और संस्कार, सब लुप्त हो चुके थे। काशी में ब्राह्मण के पुत्र को ही केवल संस्कृत और शास्त्र पढ़ाते थे। क्षत्रियों और वैश्यों के बालक कभी नहीं पढ़ पाते थे। आज गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार का भारी प्रताप है कि यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वा दलित बालक संस्कृत तथा वेद पढ़ना चाहे, उसके लिए कोई रुकावट

का बंधन नहीं। इस समय उक्त गुरुकुल में चारों वर्णों के ही बालक जहां वेद पढ़ रहे हैं वहां यज्ञ भी करते हैं। यही नहीं परन्तु एक पंक्ति में भोजन भी करतेहैं। यह वह उत्तम काम है जिस की स्तुति हो नहीं सकती। संगठन का यही महाप्राण है।

सत्य सनातन वैदिक सिद्धान्तों, महती आर्ष संस्कृति, मनुष्य को देवता वीर तथा तपस्वी बनाने वाले वैदिक षोडश-संस्कार, इनके तत्त्व को वही छात्र जान सकता है जो गुरुकुल में रह कर संस्कृत का भारी पण्डित होकर निकले। दण्ड तथा कौपीनधारी होने से प्रत्येक ब्रह्मचारी बालचर बन जाता है। आर्य-भोजन अथवा अन्नाशन की महिमा गुरुकुल खूब दिखा रहा हैं। राममूर्त्ति समान पत्थर तोड़ते हुए, और पृथिवीराज समान बाण चलाते हुए अन्नाशी ब्रह्मचारी वीरपद को सार्थक कर रहे हैं। गुरुकुल कांगड़ी के छात्रों का डंडों से शेर की मार डालना, उनके ब्रह्मचर्य्य वीरता तथा अन्नाशन का भारी प्रकाशक है। गुरुकुल कांगड़ी के जन्म तथा जीवन को मैं सफल समझता हूँ, क्योंकि यह छात्रों की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति को साथ साथ करने में रातदिन लगा हुआ है।

इस समय देशभक्त ला० हरदयाल जी संस्कृत भाषा सीखने की जरूरत आर्य्य-जाति के प्रत्येक छात्र को बता रहे हैं। कलकत्ते में जो अभी भारतीय संस्कृत-प्रचारक मंडल का अधिवेशन हुआ है, उसने आर्य्य-जनता का विशेष ध्यान संस्कृत भाषा सीखने की तरफ आकृष्ट किया है। जिस संस्कृत-भाषा की तरफ इस समय आर्य जनता का ध्यान खैंचा जा रहा है, उस संस्कृत-भाषा के प्रचार का भारी काम गुरुकुल कर रहा है और करता रहेगा। महर्षि दयानन्द का जीवन व्यवहाररूप से संस्कृत भाषा सीखने तथा सिखाने का सच्चा मार्ग-दर्शक है। लौकिक और वैदिक संस्कृत का भेद जना कर अंग तथा उपाङ्ग ग्रन्थों सहित वेद तथा वैदिक साहित्य को पढ़ने की ऋषि ने अनुभव-सिद्ध चेतावनी दी है। उनके इस मार्ग पर मुनिवर त्यागवीर महात्मा पंडित गुरुदत्त एम० ए० ने चलकर दिखा दिया। उस मुनि ने अष्टाध्यायी महाभाष्य निरुक्त आदि अंग और छः दर्शन वा उपाङ्ग ग्रन्थ स्वयं पढ़े और गृह पर अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा निरुक्त आदि पढ़ाने के लिए दो श्रेणियां खोलदीं। और तीन वर्ष तक वा मरण-पर्य्यन्त उनको चलाते रहे। जब साधु केशवानन्द ने सनातन धर्म सभा लाहौर की तरफ से धारा-प्रवाह संस्कृत में भाषण दिए तो उस समय दो घंटे तक धारा प्रवाह शुद्ध संस्कृत बोल कर

वैदिक सिद्धान्तों का मंडन करते हुए पंडित गुरुदत्त ने सिद्ध कर दिया कि ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सनातन आर्षविधि अङ्ग उपाङ्ग सहित वेद पढ़ने की सफल हो गई। पं० गुरुदत्त के इस सिद्ध प्रयोग ने गुरुकुल कांगड़ी को स्थापन करने की व्यवहार रूप से प्रेरणा की।

ज्यों २ गुरुकुल से स्नातक वा वैदिक पंडित अधिक से अधिक संख्या में निकलेंगे, त्यों २ ही वेद-मंत्रों के सच्चे अर्थ जिन्हें आज तक पौराणिक छिपा रहे थे सब पर खुल जावेंगे और विधवा विवाह तथा नियोग को रोकने की शक्ति फिर किसी में न होगी। विदेश-यात्रा, शुद्धि, दलितोद्धार, स्त्री-शिक्षण, सहभोज, तथा संस्कार आदि सामाजिक विषय, जो इस समय गोरखधंधे के रूप में दृष्टि पड़ते हैं, सरल हो जावेंगे। यूनिर्वसिटी ने परीक्षा को रोग बना कर उस की चिन्ता से जो सैंकड़ों युवकों के मन मार दिये हैं, उसका भी संशोधन गुरुकुल की न्याय तथा प्रेम युक्त परीक्षा-प्रणाली कर रही है। मुसलमानों ने जो भ्रम फैला रखा है कि मांस खाने से ही बल आता है, इसका उत्तर गुरुकुलों ने उत्तम रूप से दे रखा है। पत्थर उठाने तीर चलाने तथा लाठी आदि की खेलें करते हुए कांगड़ी ब्रह्मचारियों ने कांगड़ी के जंगल में कुछ वर्ष हुए एक शेर को डंडों से मार कर दिखा दिया कि मांस खाए बिना भी सब वीर हो सकते हैं।

योरुप के शिक्षण-शास्त्री कहते हैं कि आदर्श-छात्र वह हो सकता है जो शरीर से पुष्ट, विद्या से विभूषित और चारित्रवान् हो, तथा समाज-सेवक बन सके। यह आदर्श गुरुकुल विशेष उत्तमता तथा सुविधा से पूर्ण कर रहा है, क्यों कि इसको यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं के लिए घोटा लगवाने की जरूरत नहीं।

देश सेवा के जो अन्य भारी तत्व हैं, उनकी तरफ भी गुरुकुल कांगड़ी का पूरा ध्यान सदैव रहता है। यथा, यहां शिक्षण का माध्यम हिन्दी भाषा है। इस के अतिरिक्त यहां सब वर्णों के बालक, ब्राह्मण से लेकर शूद्रकुलोत्पन्न तक न केवल संग ही रहते हैं किन्तु एक ही पंक्ति में खाना खाते हैं। अछूत बालक भी बराबर इस में लिये जाते और समान अधिकार पाते हैं। इस लिए उक्त सब कारणों से मैं इस गुरुकुल का जन्म तथा जीवन सफल समझता हूं। जब तक नगर नगर में ऐसे २ उत्तम गुरुकुल नहीं होंगे तब तक आर्यजाति की संतान की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति एक साथ नहीं हो सकेगी।

गुरुकुल कांगड़ी भूमि के प्रदाता दानवीर मुन्शी अमन सिंह जी

गुरुकुल कांगडी के उपाध्यायगण

Punjab Fine Art Press Bowbazar Calcutta

श्री पूज्य स्वामी जी के चरणों में

श्रद्धाञ्जलि

ऐ पूज्य मेरे स्वामी, क्या भेंट मैं चढ़ाऊं ।
भगवन् ! तुम्हीं बतादो, कैसे तुम्हें रिझाऊं ॥
उपकार जो किये थे, मुझ से गिने न जाते ।
ऋण से दबा हूँ उन के, कैसे उऋण कहाऊं ॥
जो कुछ भी मैं बना हूं, सब आप की कृपा थी ।
बदला मैं उस दया का, कैसे कहो चुकाऊं ॥
मङ्गल भरा तुम्हारा, नित हाथ शीश रहता ।
आशीष थी तुम्हारी, अब कैसे उस को पाऊं ॥
दलितों के तुम सहारे, तुम ने पतित उभारे ।
उस कार्य को तुम्हारे, पा शक्ति मैं बढ़ाऊं ॥
त्यागी परोपकारी, तुम दिव्य-देहधारी ।
मन में सदा तुम्हारी, प्रतिमा गुरो ! बिठाऊं ॥
वो दिव्य बल तुम्हारा, दिल साफ जोश वाला ।
पाऊं कि जिस से मैं भी, औरों के काम आऊं ॥
दुःख को मिटा चुके हो, अमरत्व पा चुके हो ।
क्यों देव सद्गति की, फिर प्रार्थना कराऊं ॥
श्रद्धा का दिव्य मन्दिर, यह मेरा दिल विमल हो ।
चल के तुम्हारे पथ में, जीवन सफल बनाऊं ॥
बस कामना यही अब, सेवा में सब लगाऊं ।
फिर अन्त में तुम्हारी, सी वीर मृत्यु पाऊं ॥

—धर्मदेव विद्यावाचस्पति

ब्रह्मचर्य्य

(ले० प्रो० धर्मदत्त जी विद्यालंकार, उपाध्याय आयुर्वेद महाविद्यालय)

विषय-वासना के संयम करने का नाम ब्रह्मचर्य्य है। विषय का संस्कार बीजरूप से प्रत्येक बालक के मन में विद्यमान रहता है। उसके युवावस्था में आने पर कुछ २ अंकुरित होने लगता है और पूर्ण युवा हो जाने पर अधिक विकसित हो जाता है। इस प्रकार विषय-वासना प्रत्येक मनुष्य के अन्दर स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। पर इस के आधीन हो जाना ब्रह्मचर्य का नाश और इसे अपने आधीन रखना ही ब्रह्मचर्य्य है।

जब बालक के शरीर में शुक्र उत्पन्न होने लगता है तब उस का स्वभाव भी बदलने लगता है। पहले वह माता पिता की आँख के नीचे रहना पसन्द करता था, अब स्वतन्त्र और उच्छृङ्खल रहना पसन्द करता है। अब उसे किसी की आधीनता और और किसी का आश्रय अखरता है; जिन माता पिता के बिना वह थोड़ी देर में व्याकुल हो जाता था वे ही यदि उसे आधीनता की बेड़ियों में रखना चाहें तो उन के विरुद्ध द्रोह करने लगता है। स्कूलों के मास्टर बालक के इस स्वभाव-परिवर्त्तन को न समझ कर उन्हें बलात्कार जकड़ कर रखना चाहते हैं, जिस से बालक उनके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं और उन के तथा विद्यार्थियों के बीच झगड़े उत्पन्न हो जाते हैं। अध्यापकों को जानना चाहिये कि यह स्वतन्त्रता की प्रवृति युवावस्था प्रारम्भ होने का एक ज़रूरी परिणाम है। गुरुओं को चाहिये कि वे इस आयु में बालक की नियन्त्रण-रज्जु को न तो बहुत ढीला करें और न ही बहुत खींच कर रखें, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में बालक के बिगड़ने का डर है।

बालक के अन्दर अब साहस भी आने लगता है। जो पहले रात को बाहर नहीं निकल सकता था, वह अन्धेरे में निकल कर बड़े २ उपद्रव करने लगता है; प्रायः कर बालक शैतानी के कामों में इस साहस को प्रकट करते हैं, यह साहस भी युवावस्था का एक परिणाम है।

परन्तु एक विशेष परिवर्तन और भी होता है। जो बालक अब तक विषय की बात नहीं जानता था वह अब विषय की बातों में दिलचस्पी लेने लगता है। जननेन्द्रिय के लिए एक प्रकार की उत्सुकता अनुभव करने लगता है और सुन्दर बालकों तथा सुन्दर कन्याओं की ओर आकर्षण भी अनुभव करने लगता है।

बारहवें वर्ष से सोलहवें वर्ष के बीच किसी समयमें यह विषय सम्बन्धी

विचार प्रत्येक बालक में उत्पन्न होने आरम्भ होते हैं। इन विचारों के झोंके उसे डगमगाने लगते हैं। परन्तु यदि माता पिता और आचार्य्य की तीव्र आँखे बालक पर हर समय लगी रहें और यदि इन के अमृतमय उपदेश उसे प्राप्त होते रहें तो बालक इन झोंकों द्वारा गिरने से बच जाता है। पर यदि दौर्भाग्य से माता पिता अपने काम धन्धों में लगे रह कर और आचार्य्य दूसरे प्रबन्ध के काम में लगे रह कर ऐसे संकटमय काल में बालक को अकेला छोड़ दें तो वह इन झोंकों से डगमगाया हुआ ऐसे अन्धेरे कुएं में जा गिरता है जिस में से फिर उसे उबारना कष्ट-साध्य हो जाता है। अभिप्राय यह है कि बारहवें से सोलहवें वर्ष के बीच जब कि अण्ड-ग्रन्थियां शुक्र को बनाना आरम्भ करने लगती हैं, और युवावस्था आरम्भ होने लगती है तब बालक पुरुष बनना आरम्भ होता है। इस अवस्था में स्वाभाविक तौर से उस के अन्दर कुछ विषय सम्बन्धी विचार उत्पन्न होने लगते हैं।

शुक्रोत्पत्ति का प्रयोजन

युवावस्था में—यह ठीक है कि शुक्रोत्पति के साथ विषय सम्बन्धी विचार भी आरम्भ होते लगते हैं, परन्तु शुक्रोत्पत्ति का एक मात्र प्रयोजन बालक की मानसिक तथा शारीरिक अभिवृद्धि करने का होता है। यदि इस आयु में शुक्र उत्पन्न न हो तो बालक सदा के लिए बालक ही रह जाय और पुरुष न बन सके।

शुक्र उत्पन्न हो कर फिर से शरीर में विलीन हो जाता और शरीर की मांसपेशियों नसों और अस्थियों के निर्म्माण में सहायक होता है, अतः इसे "जीवनीय रस" कहते हैं। यदि यह जीवनीय रस शरीर में उत्पन्न न हो तो कितना ही पौष्टिक भोजन खाया जावे तब भी शरीर और मस्तिष्क की वृद्धि न हो। परीक्षण से देखा गया है कि यदि किसी प्राणी के युवाकाल के आरम्भ में ही उसकी अण्ड-ग्रन्थियां निकाल दी जावें तो उसके शरीर और मन की वृद्धि सर्वथा रुक जाती है और वह बालक के समान ही रह जाता है। पर यदि फिर उसकी किसी जगह की त्वचा को काट कर त्वचा के नीचे किसी दूसरे प्राणी की अण्ड-ग्रन्थियाँ स्थापित कर दी जावें और ऊपर से त्वचा सी दी जावे तो उस की रुकी हुई शारीरिक और मानसिक वृद्धि फिर से आरम्भ हो जाती है, जिस से पता लगता है कि अण्ड-ग्रन्थियों का रस या शुक्र शरीर और मस्तिष्क की अभिवृद्धि का अत्यावश्यक कारण है।

शरीर और मस्तिष्क की अभिवृद्धि बारहवें से बीसवें वर्ष तक विशेष तौर से होती है। बीसवें वर्ष के पीछे

अभिवृद्धि की मात्रा कुछ मन्द हो जाती है, किन्तु चौबीसवें या पच्चीसवें वर्ष तक जारी रहती है। अतः २४ या २५ वर्ष की आयु तक शुक्र का एक मात्र प्रयोजन शरीर और मस्तिष्क की अभिवृद्धि करना ही है। इस अभिवृद्धि-काल में विषय सम्बन्धी विचार और चेष्टाएं उत्पन्न होने लगती हैं। परन्तु जो युवक उनको अपना परम शत्रु समझ कर उनको दबाये रखता है वह जहां अपने शरीर और मस्तिष्क की उन्नति में रुकावट नहीं आने देता वहां अपनी इच्छा-शक्ति को भी प्रबल बनाता और इस प्रकार अपने आप को पूर्ण मनुष्य बनाता है।

परन्तु जो युवक पच्चीस वर्ष की उमर से पहिले इस अभिवृद्धि-काल में विषय सम्बन्धी विचारों और चेष्टाओं में अपने जीवनीय रस को व्यय करना आरम्भ कर देता है, वह याद रखे कि वह अपने शरीर और मस्तिष्क के खर्च पर यह काम कर रहा है। यदि कोई युवक विषय सम्बन्धी विचारों और चेष्टाओं में आनन्द अनुभव करता है, वह अपना ही खून चूस कर समझता है कि मैंने अपना पेट भर लिया, अपने ही घर की अमूल्य सामग्री को जला कर समझता है मैंने तमाशा देख लिया।

अण्डग्रन्थियों को शरीर में से निकालने अथवा उन के रस को शरीर में से निकालने का परिणाम एक ही होता है। जिस प्रकार अण्डग्रन्थियों को निकालने से बालक मनुष्य नहीं बन सकता, उसी प्रकार चौबीस वर्ष से पहिले अण्डग्रन्थियों के रस के व्यय कर देने से भी बालक मनुष्य नहीं बन सकता; जो पुरुष शुक्र के बिन्दु २ को शरीर में लीन होने देता है वही सच्चा पुरुष बन सकता है।

युवावस्था के बाद—चौबीस या पच्चीसवें वर्ष के बाद शुक्र के दो कार्य हो जाते हैं:—

(१) शरीर का रक्षण (२) प्रजनन

इन में से रक्षण का कार्य मुख्य, और प्रजनन का कार्य गौण होता है। यह ठीक है कि यदि विषय सम्बन्धी चेष्टाओं में शुक्र का व्यय किया जाय तो शरीर को इतनी क्षति नहीं होती जितनी युवावस्था में, पर तो भी यदि अधिक व्यय किया जावे तो शरीर के रक्षण में न्यूनता अवश्य आ जाती है।

देखा गया है कि यदि पच्चीसवें वर्ष के बाद भी अण्डग्रन्थियों को निकाल दिया जाय तो पुरुष में पुरुषत्व के गुण नष्ट हो जाते हैं; वह भीरु और कमज़ोर हो जाता है, उस के अन्दर से उत्साह, साहस, वीरता, आत्माभिमान आदि पुरुषोचित गुण नष्ट हो जाते हैं; वह दूसरे के आक्रमण से अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता और उसके अन्दर से विषय सम्बन्धी आनन्द तथा प्रजननशक्ति भी नष्ट हो जाती है, जिस से मालूम होता है कि शुक्र का

मुख्य प्रयोजन पुरुष के पुरुषत्व को कायम रखना है, अर्थात् पच्चीस वर्ष तक पुरुषत्व बनाना और पच्चीस के पीछे पुरुषत्व को कायम रखना शुक्र का मुख्य काम है। इस से जहां मनुष्य दूसरे पुरुषों के आक्रमण को रोक सकता है वहां उसी पुरुषत्व से नाना प्रकार की व्याधियों के आक्रमण को भी रोकने में समर्थ होता है। इसी लिये जब ऋतु-परिवर्तन होता है और रोगों का अधिक भय रहता है अथवा चारों तरफ कोई संक्रामक रोग फैला होता है तो जो पुरुष यत्न से वीर्य की रक्षा करते हैं वे रोग के आक्रमण से बच जाते हैं जब कि दूसरे लोग शीघ्र ही रोग का शिकार हो जाते हैं; इस से स्पष्ट है कि युवावस्था के पीछे भी शुक्र का मुख्य प्रयोजन आत्मसंरक्षण है और प्रजनन गौण है।

शरीररूपी दीपक में शुक्र एक तैल है। यदि उसे उलट कर फैंक न दिया जावे तो वह शरीर में जला करता है। उसकी आग में सब रोगों के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, उस की ज्योति आंख और चेहरे पर दिखने लगती है, उस के तेज से चेहरा धधकता करता है, उसके ज्वलन से शरीर मे दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है, जीवन में उत्साह और उमङ्ग की विद्युत् संचार किये रहती है, और यदि कोई आकस्मिक कारण न हो जावे तो जीवन रूपी दीप १०० वर्ष तक अखण्ड रूप से चमकता दमकता रहता है।

शुक्र की उत्पत्ति के साथ विषय वासना की उत्पत्ति और स्थिति उस का लक्षण मात्र है, उद्देश्य नहीं। विषय वासना के होते हुए उसे आठों याम काबू रखना घर के सिंह को वश में रखने के सदृश है और यही सच्चा ब्रह्मचर्य है।

माता पिता का कर्तव्य

कई बार माता दाई या दूसरे लोग बच्चे की उपस्थेन्द्रिय को हिला २ कर खुश हुआ करते हैं, परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। जब बालक तीन या चार वर्ष का हो जावे तो उसे दाई या नौकरों के पास सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये; अनेक बालकों के चरित्रनाश का बीज इन्हीं नौकरों ने बोया है। जब बच्चा तीन वर्ष से बड़ा हो जावे तो उसे कभी किसी दूसरे के पास न सुलावें। अनेक मूर्ख माता पिता तो आठ या दस वर्ष के बालकों को भी एक ही चारपाई पर सुला देते हैं, इस से उनके चरित्र के नष्ट होने का भारी भय रहता है। जब बालक पांच वर्ष से बड़ा हो जावे तो उसे उठाना, प्यार करना और चूमना सर्वथा छोड़ देना चाहिये, नहीं बातों से उस में सोई हुई विषयवासना के उत्तेजित होने का भय रहता है।

आठ वर्ष तक माता बालक की प्रत्येक क्रिया को अपने सामने रखे,

और आठ वर्ष की उमर के पीछे आने वाले भय को सम्मुख रखती हुई माता अपने बालक को सावधान करती हुई प्यार से समझावे कि "ए मेरे प्यारे बेटे! तेरी यह उपस्थेन्द्रिय बड़ी पवित्र इन्द्रिय है, यदि इसे हाथ से स्पर्श किया जावे या कोई दूसरा इसे हाथ से स्पर्श करे तो यह अपवित्र हो जाती है, जो बच्चे इसे छूते या दूसरों को छूने देते हैं वे बच्चे ही रह जाते हैं, मनुष्य नहीं बन सकते, अतः यदि तू मनुष्य बनना चाहता है तो मेरी शपथ खाकर कर कहो कि न तो कभी इस इन्द्रिय को छुवेगा और न किसी को छूने देगा।" बालक की श्रद्धा माता पर अगाध होने से माता की बात को मान लेगा। इस प्रकार की शिक्षा को आचार्यकुल में गुरुवर्ग भी समय २ पर देते रहें।

सात या आठ साल की उमर के पीछे बालकों को गुरुकुल में प्रविष्ट कर दें। गुरुकुलों की श्रेणियों के अध्यापकों या शिक्षकों को भी यह समझना चाहिये कि पुस्तक पढ़ाने की अपेक्षा बालक के चरित्र पर ध्यान देना उन के लिए अधिक आवश्यक है। वे याद रखें कि यदि उनके आधीन एक भी बालक में दुर्व्यसन आ जावेगा तो वे परमात्मा और दुनियाँ, दोनों के सामने इस लापरवाही के ज़िम्मेदार होंगे।

प्रायः आठ या दस वर्ष के बालकों को यह शंका उत्पन्न होती है कि "हम कहां से, कैसे उत्पन्न हुए?" माता पिता यदि उन के इस प्रश्न को टाल देंगे तो बालकों की इस प्रश्न सम्बन्धी उत्सुकता और भी अधिक बढ़ जावेगी, अतः 'उत्पत्ति' का अपने बालकों को ठीक २ ज्ञान करा देना चाहिये। उन को वनस्पतियों के फूल दिखा कर बताना चाहिये कि फल कैसे उत्पन्न होते हैं? पशुओं और पक्षियों को उत्पत्ति का भी इशारा कर देना चाहिये, क्योंकि यदि बालक अपने आप इन बातों की उत्सुकता में पड़ा रहेगा तो इस से अधिक हानि है।

यदि माता पिता तथा आचार्य चौबीस घंटे जागृत रह कर बालक के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करेंगे तो निश्चय है कि बालक के मन-मन्दिर में सोया पड़ा विषयवासनारूपी सिंह शीघ्र जागृत न होगा। परन्तु इस आयु के बाद युवावस्था के आरम्भ होते ही यह मन से उत्पन्न होने वाला 'मनसिज सिंह' स्वयमेव कुछ २ जागृत होने लगता है। तेरह से बीस वर्ष तक की आयु न केवल बालक प्रत्युत उनके माता पिता और आचार्य, सब के लिये परीक्षा का काल है। यदि वे इस काल में से बालक को ऐसी सावधानी से ले जावेंगे कि जिस से उस में जागता हुआ यह सिंह उत्तेजित होने न पावे तो वे महाधन्य होंगे, परमात्मा के दरबार में आशीर्वाद के भागी होंगे। परन्तु यदि वे इस काल में बालकों के

प्रति लापरवाह रहेंगे तो वे याद रखें कि परमात्मा के दरबार में क्रोध और धिक्कार के पात्र होंगे।

यदि बालक किसी दूसरे लड़के से अधिक मिले या यारी दिखावे तो सावधान हो जाना चाहिये, इस उमर के लड़कों में यारी सदा चरित्र को भ्रष्ट करने के लिये होती है। माता पिता को घर में खेलने और मनोरञ्जन करने के लिये इतना सामान घर में रखना चाहिये कि बालक को इसके लिये बाहर न जाना पड़े। सायंकाल के समय माता पिता को कहीं बाहर न जाना चाहिए, घर पर रह कर बच्चों के मनोरञ्जन और खेल में उन्हें भी शामिल होना चाहिए। बालकों को खिलाने के साथ साथ मनोरञ्जन बार्तालाप से उनका ज्ञान भी अच्छा बनाया जा सकता है। यदि बालकों का पर्याप्त मनोरञ्जन हो जावे तो वे कभी दूसरे लड़कों के साथ खेलने बाहर न जावेंगे।

२० वर्ष की आयु तक लड़के को कभी नाटक, सिनेमा, नाच आदि देखने न भेजना चाहिये; गन्दा उपन्यास, अश्लील साहित्य और गन्दे चित्र तथा गन्दी गल्पें हाथ में न देनी चाहियें, क्योंकि ये विषयवासना सम्बन्धी विचारों को भड़काने वाले हैं।

यदि माता पिता और आचार्य के दिन रात सावधान रहने पर भी युवक में यह विषयवासना रूपी सिंह उत्तेजित हो जावे और वह किसी प्रकार का दुष्कृत्य कर बैठे तो उसको मारना या धमकाना नहीं चाहिये, इस से कुछ भी लाभ न होगा। उस को तो इस सिंह के विरुद्ध लड़ने और काबू करने के लिए उत्साहित करना चाहिये, पिता वा गुरु उसको एकान्त में बुला कर इस विषय में उत्तम २ उपदेश दे कर समझाने की पूर्ण चेष्टा करें। प्रेम से समझाने पर युवक अपनी कठिनता को आप ही कह देता है, तब पिता या आचार्य इस शत्रु के विरुद्ध लड़ने के लिए जिस प्रकार से भी बन सके उसकी सहायता करे।

युवकों का कर्तव्य

जो हस्तमैथुन के द्वारा शुक्र का नाश करते हैं, उनके शरीर और मस्तिष्क को बड़ा धक्का लगता है। उन के शरीर की वृद्धि रुक जाती है जिससे उनका चेहरा पीला, शरीर कृश, और शरीर के कृश हो जाने से पाचन आदि के अंग भी निर्बल हो जाते हैं, पाचन आदि के क्षीण होने से स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती और बालक पढ़ाई में निर्बल हो जाते हैं। उत्साह, साहस, तेज और ओज की मात्रा घट जाती और वह डरपोक हो जाता है, आंखों से आँख मिला कर नहीं देख सकता। उसका सारा आत्मविश्वास नष्ट होजाता है और इसलिए वह उद्योगहीन, परिश्रमहीन हो कर आलसी हो जाता है।

जननेन्द्रिय का दुरुपयोग करने से युवकों में स्वप्नमेह का रोग उत्पन्न हो जाता है जिस से निद्रावस्था में कोई विषय सम्बन्धी स्वप्न आता है, शिश्नहर्ष होता है, और शुक्रनाश हो जाता है। इस से शरीर और मस्तिष्क और भी अधिक निर्बल होने लगते हैं। कई युवक तो अधिक हस्तमैथुन करने से गृहस्थ में प्रवेश करने से पहिले ही अपने आप को नपुंसक बना लेते हैं; इस प्रकार यह स्मरण रखना चाहिये कि यह आदत मनुष्य के जीवन को सदा के लिए दुःखी बना देती है।

माता पिता और आचार्य को चाहिये कि ऐसे बालक को प्रेम से समझावें न कि डरावें और दण्ड दें; क्योंकि प्रायः युवक को यह पता नहीं होता कि इस आदत से उसके शरीर और मन की क्या हानि होती है। यदि इस से होने वाली हानियों को उसके सामने रखा जावे तो वह अवश्य ही इस आदत को छोड़ देता है।

यदि युवक यह समझता हो कि हस्तमैथुन आदि द्वारा शुक्रनाश करने में कोई आनन्द है तो उसे स्मरण रखना चाहिये कि यह आनन्द वही है जो कुत्ते को सूखी हड्डी चबाते समय हड्डी के द्वारा मुख में से निकले खून चूसने में आता है। उसे यह भी याद रखना चाहिये कि वह इस झूठे आनन्द से भविष्य में आने वाले आनन्द को खो रहा है। इस क्रिया को अपने शरीर और मस्तिष्क के लिए घातक समझ कर इस से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये, यदि मुक्त होने का दृढ़ निश्चय कर लेगा तो वह अवश्य ही मुक्त होगा। उसे अपने दिल में जमा लेना चाहिये कि यदि वह पच्चीस वर्ष से पहिले इन बातों से शुक्र का नाश करेगा तो पच्चीस वर्ष के बाद गृहस्थ के योग्य न होगा।

सब से प्रथम उसे व्यसनी युवकों के साथ मिलना छोड़ देना चाहिये और उन्हें अपना परम शत्रु समझना चाहिये। दृढ़ निश्चय कर लेने से भी यदि श्रवण, स्पर्शन, दर्शन आदि से कामविषयक विचार उत्पन्न होने लगें तो उसी समय शत्रु को समीप आया जान बैठा हो तो उठ खड़ा हो जाय, खड़ा हो तो दौड़ना आरम्भ कर दे; ऐसे समय में लेटे रहना या बैठे रहना उचित नहीं है; अथवा खुली हवा में आकर दो एक प्राणायाम कर लेने चाहियें। हर समय कार्य में लगे हुए युवक को विषय सम्बन्धी विचार अधिक नहीं तङ्ग करते, अतः अपना खाली समय खेती, फुलवारी, चित्रकारी या दस्तकारी में लगाये रखना चाहिये।

युवक को दूसरों से अलग एकान्त में भी नहीं रहना चाहिये। हंसी, खेल, सभा, सोसायटी और समाज आदि में सभ्य पुरुषों के साथ अच्छी तरह मिलना जुलना चाहिये। जो एकान्त में रहते हैं वे प्रायः इस दुर्व्यसन का

गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक तथा वर्तमान मुख्याधिष्ठाता और आचार्य जी

शिकार हो जाते हैं। यदि युवक से कभी विषय सम्बन्धी चेष्टा हो जावे तो पश्चात्ताप करना चाहिये; एक समय या एक दिन भोजन का परित्याग कर देना चाहिये; ऐसा करने से दूसरी बार फिर प्रलोभन आने पर वह अपने को अधिक बलवान पाता है।

वीर्य-रक्षा के कुछ साधन

(१) भोजन सम्बन्धी— मद्य, मांस, तैल, खटाई, लाल मिर्च, गर्म मसाले, चाय, काफी, तमाखू तथा सब तले हुए गरिष्ट भोजन, ये गर्म उत्तेजक और जननेन्द्रिय को भड़काने वाले भोजन हैं। इनका भोजन सभी को कम करना चाहिये और युवकों को तो सर्वथा न करना चाहिए। यदि भोजन अधिक मात्रा में खाया जावे तो भी रक्त का दबाव बढ़ जाता है, इस लिए वीर्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है, अतः भोजन सदा थोड़ी मात्रा में करना चाहिये, रात्रि को तो विशेषतः इस का ध्यान रखना चाहिये।

(२) व्यायाम सम्बन्धी— निर्बल युवक और पुरुषों के लिए वीर्यरक्षा करना अपेक्षया कठिन होता है, क्योंकि शरीर की निर्बलता के साथ उत्पादक अंग भी निर्बल होते हैं और शरीर के बलवान होने के साथ उत्पादक अङ्ग भी बलवान होते हैं। उत्पादक अङ्गों की निर्बलता को हटाने के लिए सीधे खड़े होकर या पेट या पीठ के भार लेट कर टांगों को आगे या पीछे या पार्श्वों की ओर धीरे २ उठाने वाली व्यायाम करनी चाहिये। ज्यों २ जंघायें बलवान होती हैं त्यों २ उत्पादक अङ्ग भी बलवान होते हैं, अतः दौड़ना भी बड़ा लाभदायक है। इस के अतिरिक्त पीठ या रीढ़ की हड्डी की भी व्यायाम से वातनाड़ियां बलिष्ट होती हैं, इस से उत्पादक अङ्गों की वातनाड़ियां बलिष्ट होती हैं। ऐसे व्यायाम और आसन जिन में पीठ को आगे या पीछे की तरफ झुकाया जाता है प्रतिदिन कुछ काल करनी चाहिये। शीर्षासन से भी वीर्य-रक्षा में बड़ी सहायता मिलती है। यदि सायंकाल या सोने से ५ या १० मिनट पूर्व शीर्षासन किया जाये तो रात्रि को स्वप्नमेह या शिश्नहर्ष का भय नहीं रहता, क्योंकि इस से शुक्राशय और अन्य उत्पादक अङ्गों में रक्त का संचय कम हो जाता है।

(३) प्राणायाम सम्बन्धी— सिद्धासन में अर्थात् बांयें पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थेन्द्रिय के मध्य-स्थान पर और दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय पर ऐसा रखकर बैठे कि बांयें पैर की एड़ी से सीवन प्रदेश अच्छी तरह दबा रहे; इस स्थान के दबने से भी वीर्य रक्षा में बड़ी सहायता मिलती है। इसी प्रकार सीधा बैठकर एक नासिका से गहरा श्वास लेकर कुछ क्षण अन्दर रोक कर दूसरी नाक से कुछ धीरे २

बाहिर फैंके। अन्दर लेते समय पेट और छाती को फूलने दे, और श्वास फैंकते समय पेट और छाती को अन्दर सिकुड़ने दे। परन्तु सारे समय में उपस्थेन्द्रिय और गुदा को ऊपर खीच रखे।

(४) स्नान सम्बन्धी—एक टब में ताजा कूप का जल भर कर ऐसे बैठे कि टांगें तथा धड़ पानी से बाहिर रहें और जंघा से नाभि तक का प्रदेश पानी में डूबा रहे। फिर एक तौलिये से पेडू तथा शिश्न और गुदा के मध्यवर्ती प्रदेश को अच्छी तरह मलें, इस प्रकार पांच या दश मिनिट स्नान करना पर्याप्त है। इस से उत्पादक अंगों में नवीन बल प्राप्त होता है। शिश्न के अग्र चर्म के नीचे वर्तमान मल को भी साफ़ करते रहना चाहिये, क्योंकि उसके संचित होने से शिश्न के क्षोभ का भय रहता है।

(५) निद्रा सम्बन्धी—सोने से न्यून से न्यून दो घण्टा पहिले तक भोजन दूध या पानी आदि द्रव न पीने चाहियें, क्योंकि भरे हुए पेट और भरे हुए मूत्राशय का दबाव शुक्राशय पर पड़ सकता है जिस से स्वप्नमेह का भय रहता है। यदि तीव्र स्वप्नमेह की शिकायत हो तो रात्रि का भोजन कुछ दिन के लिए बन्द कर देना चाहिये। सोने से पहिले पेशाब होकर हाथ मुंह धोकर थोड़ी देर शान्ति से बिस्तर पर बैठना चाहिये; सारी चिन्ताओं को मन से हटा कर चित्त को खूब प्रसन्न करना चाहिये और अपने शरीर के सब अंगों पर हाथ फेरते हुए और विशेषतः निर्बल अंगों पर हाथ फ़ेरते हुए कल्पना करनी चाहिये कि ये सब अंग बलवान हो रहे हैं। कुछ काल के लिए चिन्ताओं से रहित आनन्द-मग्न हो अपनी रुचि के अनुसार भगवच्चिन्तन करना चाहिये और इसी निश्चिन्तता की स्थिति में लेटते ही सो जाना चाहिये। जिस प्रकार की अवस्था सोने से ठीक पहिले रहती है वैसी ही प्रायः सारी रात रहती है, अतः निश्चिन्त हो कर सोने वाले को अच्छी नींद आती है। स्वप्नमेह की चिन्ता सर्वथा न करनी चाहिये, जो जितनी अधिक चिन्ता करता है, यह भूत उसे उतना ही अधिक लिपटता है। सदा करवट पर ही सोना चाहिये, पीठ पर सोने से मूत्राशय और मलाशय के बीच में वर्तमान शुक्राशय पर दबाव पड़ता है जिससे कि स्वप्नमेह का भय रहता है।

रात्रि को एक या दो बजे के लगभग प्रायः प्रत्येक आदमी की निद्रा खुलती है, उस समय उठ कर एक बार अवश्य पेशाब कर लेना चाहिये; अधिक स्वप्नमेह की शिकायत हो तो जितनी बार नींद खुले उठ कर पेशाब कर लेना चाहिये। जिस समय शिश्न-हर्ष का पता लगे उस समय लेटे न रह कर उठ कर बैठ जाना या कुछ कदम चल लेना चाहिये।

(६) आचार-विचार सम्बन्धी - जिस प्रकार यदि आरम्भ में आँख को धूयें और धूल आदि से न बचाया जावे या उस से अधिक उपयोग या दुरुपयोग लिया जावे तो आंख कमज़ोर पड़ जाती है और फिर थोड़े से धूयें के लगने से लाल होकर पानी बहाने लगती है, फिर यदि कुछ काल आँख को पूरा आराम दिया जावे और उससे किसी प्रकार का उपयोग न लिया जावे तो आंख अपनी साधारण अवस्था में आ जाती है, इसी प्रकार यदि युवक अपनी उपस्थेन्द्रिय को दर्शन, स्पर्शन, श्रवण अथवा हस्त-मैथुन आदि से और गृहस्थ अतिस्त्रीसंग से क्षुब्ध करता रहे तो जनन सम्बन्धी अङ्ग इतने निर्बल हो जाते हैं कि थोड़े से भी क्षोभक कारण से क्षुब्ध हो जाते हैं, इसलिए पहिले तो ऐसे आचार विचार से बचना चाहिये जो जननेन्द्रिय को क्षुब्ध करने वाले हैं। यह समझ लेना चाहिये कि ये सब उत्तेजनाएं उत्पादक अंगों को अधिक २ निर्बल और असहन शील कर जाती हैं। गृहस्थियों और युवकों में उत्पादक अंगों को अधिक उत्तेजित करने से ही शीघ्रस्खलन और पुंस्त्व-नाश के रोग हो जाते हैं, अतः जनन सम्बन्धी अंगों को बलवान करने और इन्हें सब उत्तेजनाओं से बचाने के लिए पूर्ण विश्राम देना चाहिये। ब्रह्मचर्य से ही वास्तव में भोग की शक्ति और भोग का आनन्द प्राप्त होता है।

(७) औषधि सम्बन्धी— दिन में तीन या चार माषे आमलकी या हरीतकी का चूर्ण मधु के साथ खा लेने से वीर्य रक्षा में सहायता मिलती है। बबूल की भुनी हुई गोंद को वेसन के लड्डू आदि में डाल कर खा लेना इसके लिए हितकर है। अच्छा बना हुआ चन्दनासव एक या दो तोला थोड़े जल में मिला कर दिन में एक दो बार पी सकते हैं; ये सब उत्पादक अंगों के लिए शामक औषधियें हैं।

बंग, अभ्रक, प्रवालमुक्ता और शुक्ति आदि की भस्में तथा इनके बने हुए प्रयोग भी वीर्य रक्षा में बड़े सहायक होते हैं। ये उत्पादक अंगों के लिए उत्तम बल्य द्रव्य हैं। उत्पादक अङ्गों को उत्तेजित करने वाली दवाइयां न खानी चाहियें क्यों वे थोड़ी देर के लिए उत्तेजित कर के उन्हें चिरकाल के लिए निर्बल कर जाती हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ अथर्व वेद

ब्रह्मचर्य-तप से ब्रह्मचारी मृत्यु या पाप का हनन करते हैं, और एवं जीवात्मा ब्रह्मचर्य के द्वारा इन्द्रियों से सुखानन्द को पाता है।

मन्त्र-साधन

(मन्दाक्रान्ता छन्द)

१

कैसा आया समय, बदला काल का रङ्ग कैसा
होती जाती भरतभुवि की आज कैसी दशा है।
आँखें खोलें विबुध, समझें देश की सर्व बातें
सोचें होके प्रयत, युग के धर्म का मर्म क्या है॥

२

आशा होवे उदय उर में, दूर होवे निराशा
सूझें सारे सुपथ, सफला युक्तियां हों हमारी।
ऐसे बाँधें नियम, जिससे कालिमा दूर होवे
आभा वाले सकल दृग हों, ज्योति फैले जनों में॥

३

प्यारी संख्या प्रति दिवस है जाति की न्यून होती
संतप्ता हो दुख-उदधि में मग्न जातीयता है।
छीने जाते हृदय-धन हैं, पत्नियां छूटती हैं
सोने जैसा सुख-सदन है प्रायशः दग्ध होता॥

४

ढाहे जाते सुर-सदन हैं, मूर्त्तियाँ टूटती हैं
बाधा होती अधिकतर है पर्व औ' उत्सवों में।
काँटे जाते प्रथित पथ में चाव से हैं बिछाये
न्यारी शोभा रहित, नित है नन्दनोद्यान होता॥

५

की जाती हैं विफल, छल से सिन्धुजा की कलायें
टूटी सी है परममधुरा भारती की सुवीणा।
क्रीड़ा द्वारा कलुषित बनी मञ्जु मन्दाकिनी है
लूटा जाता धनद-धन है, स्वर्ग है ध्वंस होता॥

६

तो भी होता कलह नित है, वैर है वृद्धि पाता·
सद्भावों के सुमन–चय में हैं घुसे दम्भ–कीट ।
सच्चिन्ता की ललित–लतिका हो गई छिन्नमूला
उल्लासों के विपुल विटपो पुष्प ही हैं न लाते ॥

७

धर्मों की है निपतित ध्वजा, सत्यता वञ्चिता है
हैं शास्त्रों की सबल विधियाँ रूढ़ियों से विपन्ना ।
सत्कर्मों की प्रगति बदली लोक आडम्बरों से
मोहों द्वारा बहुमथित हो आर्यता मूर्च्छिता है ॥

८

वेदों की है अतुल महिमा, मन्त्र हैं सिद्धि–मन्त्र
धाता जैसी सृजन–पटु हैं उक्तियाँ आगमों की ।
भू–विख्याता, पतितजनता–पावनी जान्हवी है
आर्यों के हैं सुअन, हम में कौनसी न्यूनता है ॥

९

सच्ची शिक्षा सतत चित की उच्चता है सिखाती
सद्वाञ्छा है विदित करती त्याग संकीर्णता दो ।
उद्बोधों के विपुल मुख से है यही नाद होता
जागो जागो, कटि कस उठो, काल की क्रान्ति देखो ॥

१०

जो लोहू है गरम, यदि है गात में शेष शक्ति
जो थोड़ी भी हृदय–तल में धर्म की वेदना है ।
हो जाता है चित व्यथित जो जाति–उत्पीडनों से
तो हो जावो सजग, सम्हलो, सिद्धि का मन्त्र साधो ॥

साहित्यरत्न श्री अयोध्या सिंह जी उपाध्याय

सहजात-प्रवृत्तियें और उन का शिक्षा में स्थान

(ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी विद्यालङ्कार)

पशुओं और मनुष्य में बड़ा भेद यह समझा जाता है कि जहां पशुओं के सारे व्यवहार और उनकी सारी चेष्टायें सहजात-प्रवृत्तियों के आधीन होती हैं वहां मनुष्य अपने सारे कार्य बुद्धि से सिद्ध करता है। सहजात-प्रवृत्ति (Instinct) प्राणी के अन्दर कार्य करने की वह शक्ति है, जिस की सहायता से प्राणी फल या उद्देश्य का पहिले से ज्ञान न रहने और उद्देश्य प्राप्ति में उपरोक्त शारीरिक या मानसिक चेष्टाओं की पहले से शिक्षा न होने न पर भी अभीष्ट फल या उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है। पशुजगत् अपने अधिकांश व्यवहारों को सहजात प्रवृत्तियों की सहायता से ही पूरा करता है। बिल्ली चूहे को देखते ही उस पर झपटती है; कुत्ते के सामने आते ही भाग खड़ी होती है या भागने का मौका न रहने पर लड़ने को तैयार हो जाती है है; पानी और आग से बहुत बचती है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बिल्ली की ये क्रियायें इस लिये नहीं होती कि उसे मौत, जीवन या आत्मरक्षा का कोई विचार ऐसा करने के लिए प्रेरित करता है; नहीं, इस प्रकार का कोई विचार बिल्ली के मन में नहीं होता। चूहे के सामने आने पर बिल्ली उस पर झपटने और कुत्ते के आने पर भागने के लिए स्वभाव से बाधित है। यह बात दूसरी है कि इस बाधित होने का प्रयोजन आत्म-रक्षा हो। बिल्ली के मन में आत्म-रक्षा जैसा कोई विचार उपस्थित नहीं होता। बिल्ली तो चूहे के आगे आने पर इस प्रकार क्रिया कर बैठती है, जिस प्रकार किसी चीज के पास आ जाने से आँख झपक जाती है। किसी बड़ी शक्ति के मन में बिल्ली की आत्म-रक्षा का विचार हो तो हो। बिल्ली के शरीर की रचना और उसकी नस नाड़ियों की बनावट ही इस प्रकार की है कि वह चूहे का चित्र आंखों के आगे आते ही झपट पड़े।

मुर्गी अण्डे पर उन्हें सेने लग जाती है। अण्डों से बच्चे निकल आने पर चुग्गा ला ला कर उनकी चञ्चु में डालने लग जाती है। मुर्गी की इन क्रियाओं का प्रयोजन बच्चों की उत्पत्ति और उन की रक्षा है। पर फिर भी मुर्गी को पहले से इस प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता और नाही उसे उन तरीकों की पहिले से शिक्षा होती है, जिनका अवलम्बन करके अण्डे सेने पर उन में से बच्चे निकल आयें। अण्डे देने के दिन आने पर चिड़िया को घोंसला बनाने

की शिक्षा कौन देता है ? कोई नहीं, केवल सहजात-प्रवृत्ति (Instinct) से वह घोंसला बनाने लग जाती है। बिल्ली, मुर्गी और चिड़िया ही नहीं सारा पशु-पक्षी जगत् ही अपने व्यवहारों के लिए सहजात-प्रवृत्तिों पर निर्भर करता है।

इस बात से प्रायः सभी विचारक सहमत हैं कि पशु-पक्षियों का जीवन सहजात-प्रवृत्तियों पर ही अवलम्बित है। पर मनुष्यों के सम्बन्ध में इस से विपरीत विचार पाये जाते हैं। समझा जाता है कि मनुष्य सर्वथा बुद्धि-जीवी प्राणी है। उस में सहजात प्रवृत्तियों का बिल्कुल अभाव माना जाता है। पर ज़रा गहरा विचार करने पर इस विचार की अवास्तविकता स्पष्ट दीखने लग जाती है। मनुष्य भी उसी प्रकार सहजात-प्रवृत्तियों पर आश्रित है जिस प्रकार पशु और पक्षी। नवजात बालक माता के स्तनों का स्पर्श पाते ही उन्हें मुख में क्यों ले लेता और दूध चूसने के लिए मुख और हाथों से उन्हें क्यों दबाने लग जाता है? भूख मिटाने की इस विधि की शिक्षा उसने कहां पायी है ? छोटा बच्चा चमकीली वस्तुओं की ओर आकृष्ट क्यों होता है ? चमकीली वस्तुओं का आकर्षण बच्चों में इतना बलवान् होता है कि अनेक वार बच्चे साँपों को पकड़ने की चेष्टा करते पाये गये हैं। अगर उक्त अवसरों पर दूसरे लोग न पहुंच गये होते तो साँप उन नन्हें बच्चों का डस लेते। बच्चों का चमकीली वस्तुओं की ओर आकर्षण क्या सहजात-प्रवृत्ति वश नहीं होता ? नवजात और छोटे २ बच्चों में ही सहज-प्रवृत्तियें नहीं पाई जातीं, प्रस्तुत युवा और वृद्धों में भी इनका पूरा राज्य होता है। युवक युवती की ओर क्यों आकृष्ट होता है और उसे सारा संसार अपनी प्रेम-पात्री के रंग में रंगा हुआ क्यों नज़र आता है ? सहजात-प्रवृत्ति से ही इस घटना की की व्याख्या हो सकती है। मनुष्यों में भी पशु-पक्षियों की तरह ही सहजात-प्रवृतियों का राज्य होने पर भी उन में कुछ ऐसी शक्तियें हैं जो उन के जीवन को पशु-पक्षियों के जीवन से भिन्न बना देती हैं। मनुष्य की स्मृति शक्ति, उस को विचार करने और परिणाम निकालने की शक्ति उस के जीवन को अन्य प्राणियों के जीवन से भिन्न बना देती हैं। पशु-पक्षी किसी पदार्थ के सामने आने पर पुनः पुनः एक ही प्रकार की क्रिया करेंगे। पर मनुष्य की स्मृति आदि शक्तियें उस के और पशु-पक्षियों के जीवन में बड़ा भेद डाल देती हैं।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि पशु पक्षियों और मनुष्यों का जीवन समान रूप से सहजात-प्रवृत्तियों (Instinct) पर आश्रित है। अब देखना

यह है कि इन सहजात प्रवृत्तियों का मनुष्य की शिक्षा में क्या मूल्य है। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें सहजात-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में दो नियमों को संक्षेप से समझ लेना चाहिये। मनोवैज्ञानिकों का कथन है। कि (१) सहजात-प्रवृत्तियें अभ्यास से दब जाती हैं, और (२) ये चिरस्थाई नहीं होतीं। (१) पहले नियम का अभिप्राय यह है कि प्रायः ऐसा होता है कि जब किसी श्रेणी विशेष के पदार्थों के सामने आने पर प्राणी में कोई सहजात-प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती हो तो जो पदार्थ उस प्रवृत्ति (Instinct) के उद्बोधन में प्रथम आता है उसी के सामने आने पर वह प्रवृत्ति बार २ उठती है, उस श्रेणी के दूसरे पदार्थों के सामने आने पर वह प्रवृत्ति नहीं उठती। युवक के मन में युवतियों को देख कर प्रेम उत्पन्न होता है। पर जो युवती उस के अन्दर प्रेम की प्रवृत्ति (Instinct) को जगाने में प्रथम कारण होगी, युवक उसी से प्रेम करने लग जायेगा। मित्रता आदि की प्रवृत्ति (Instinct) में भी यही नियम काम करता है। इसी नियम की दूसरी व्याख्या यह है कि अनेक पदार्थों को देख कर प्राणी के अन्दर दो विरोधी सहजात-प्रवृत्तियें (Instincts) उत्पन्न होती हैं। ऐसे पदार्थ को देखने पर जो प्रवृत्ति पहले उत्पन्न हो जायेगी भविष्य में वही प्रवृत्ति पुनः पुनः उत्पन्न होगी, दूसरी नहीं। छोटे बच्चे के अन्दर कुत्ते या और प्राणियों को देखने पर उन से प्यार करने की इच्छा भी उत्पन्न होती है और साथ ही उसे इन से डर भी लगता है। अगर किसी कारण से कुत्ते के प्रथम दर्शन में बच्चे के अन्दर डरकी प्रवृत्ति (Instinct) प्रबल हो जाये तो भविष्य में सालों तक उस के मन में कुत्तों से प्यार करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होगी : इस नियम की पुष्टि में प्राणी-जगत् और मनुष्य-संसार से लाखों उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्थानाभाव से एक दो उदाहरण ही पर्याप्त समझे गये हैं।

(२) दूसरे नियम का अर्थ यह है कि अनेक सहजात-प्रवृत्तियें एक निश्चित आयु पर ही उत्पन्न नहीं होतीं। यदि उस निश्चित आयु के अन्दर २ उद्बोधक पदार्थ आकर इन प्रवृत्तियों को जगादें तो भविष्य में भी वे पदार्थ उन्हें जगाते रहेंगे, यद्यपि उन के उत्पन्न होने की आयु बीत भी चुकी हो। परीक्षणों से देखा गया है। कि अगर मुर्गी के बच्चे जन्म से लेकर आठ दस दिन तक अपनी माता की आवाज़ न सुन पायें तो फिर उनके लिए माता की आवाज़ माता की आवाज़ नहीं रहेगी। इन नियमों के अनुसार चलने से सिंह और बकरी को वास्तविक अर्थों में एक घाट पानी पिलाया जा सकता है। इन नियमों के अपवाद भी पाये जाते हैं पर उन से नियमों

गुरुकुल सूपा के प्रारम्भिक ब्रह्मचारी, कार्यकर्त्ता तथा संस्थापक श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी ।

की पुष्टि ही होती है, खण्डन नहीं। इन नियमों को ध्यान में रखते हुए हम शिक्षा को इस प्रकार की बना सकते हैं जो कि विद्यार्थिओं के लिये अधिक से अधिक उपयोगी हो सके।

मनुष्यों की सहजात-प्रवृत्तियें भी उपर्युक्त दोनों नियमों से शासित होती हैं। बालकों को खेल-कूद, कथा कहानियों और चीजों की बाहिरी बातों में आनन्द आता है। युवकों को शारीरिक व्यायाम, काव्य, गान, मित्रता, प्रकृति, यात्रायें, साहस के कार्य विज्ञान और दर्शन अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। प्रौढ़ पुरुष के मन में महत्त्वाकांक्षा, नीति, अर्थ-संग्रह और दूसरों के प्रति उत्तर-दायित्व और स्वार्थ के भाव राज्य करने लगते हैं। अगर कोई बालक खेलने और कूदने के दिनों में क्रीड़ा की सामग्री और क्षेत्र से अलग रहे तो भविष्य में वह इन चीजों को कभी नहीं सीख सकेगा। यौवन के आरम्भिक काल को यदि संयम और सावधानी के साथ व्यतीत कर दिया जाये तो सारा भविष्य जीवन पवित्र और सदाचारी बन सकता है, दूसरी ओर उस समय की अत्यधिक स्वच्छन्दता भविष्य जीवन को नरक बना सकती है। अध्यापक का कार्य विद्यार्थियों में उत्पन्न होने वाली सहजात प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना है। जब जिस विषय के लिए शौक पैदा हो, तभी विद्यार्थी के आगे उस के सीखने के सामान उपस्थित कर देने चाहियें नहीं तो समय बीत जाने पर वह फिर कभी उस विषय को नहीं सीख सकेगा। आलेख्य, प्रकृति-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान जैसे विषयों की ओर विद्यार्थियों की रुचि एक खास समय में पैदा होती है। यन्त्र-विज्ञान, भौतिकी और रसायन का समय इसके बाद आता है। फिर मनोविज्ञान, दर्शन और धर्म के तत्त्वों की ओर रुचि हो जाती है। इस के बाद सांसरिक काम-धन्दे ही मनुष्य के लिए सब कुछ हो जाते हैं। प्रत्येक विषय के लिए रुचि कुछ समय में ही शान्त हो जाती है, उस के पश्चात् हम उसी पर निर्भर रहते हैं जो कुछ हमने उन दिनों में सीख लिया था जिन दिनों में हमारी रुचि उस विषय में उत्कट रूप में बनी हुई थी। यही कारण है कि मनुष्यों का अपने पेशों से भिन्न विषयों का ज्ञान उस से अधिक नहीं होता जितना कि उसने २५ साल से पहिले उन के सम्बन्ध में प्राप्त कर लिया था। पीछे से विषयों के सीखने के लिए आवश्यक गुण, निःस्वार्थ और उत्सुकता, जाते रहते हैं। पिछली उमर में हम पहिले तो कुछ नया सीख नहीं पाते, अगर सीख भी लें तो वह विषय हमारे लिये उतना अपना नहीं बन पाता जितने कि उस समय सीखे हुए विषय बने होते हैं जब कि उन के सीखने का

स्वाभाविक समय था।

इस लिये अध्यापक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह देखता रहे कि विद्यार्थी में किस समय कौनसी प्रवृत्ति (Instinct) उत्पन्न होती है। साथ ही विद्यार्थियों का यह कर्तव्य है कि वे भविष्य पर किसी विषय को न छोड़ें। हरेक विषय को उस के उचित समय में ही सीख छोड़ें। खास खास आयु में ही खास २ विषयों की ओर रुचि बढ़ती है। वह समय गुजर जाने पर उन विषयों के लिए फिर वैसा उत्साह नहीं रहता।

---

* कुलभूमि *

गङ्ग की तरङ्ग-वारी, हिमगिरि सङ्ग वारी,
पुण्य-प्रेमरङ्ग वारी, विश्व अभिराम है।

सुजन समूह वारी, सुमन-सुरभि वारी,
सरस समीर वारी, सुखद निकाम है ॥

ब्रह्मवाद-राग वारी, विषय-विराग वारी,
ब्रह्मचारि-वृन्द वारी, विबुध सुधाम है ;

स्वर्ग-अपवर्ग वारी, भुक्ति मुक्ति-सर्ग वारी,
प्यारी "कुलभूमि" ही हमारी पूर्ण-काम है ॥ १ ॥

ओ हरि

कुल की कहानी

सुनाने लगा एक हूं मैं कहानी,
जो औरों से अब तक सुनी थी जबानी,
नहीं इसमें शक है कि वो है पुरानी,
मगर साथ ही है रहस्यों की खानी ॥
ज़रा इसलिए ध्यान से इसको सुनिए।
औ' जो कोई उत्तम हो गुण उसको चुनिए ॥ १ ॥

हिमाचल की बगली में इक बन खड़ा था,
जो अज्ञात सदियों से अब तक पड़ा था,
वो झाड़ झाड़ी से गुम्फित पड़ा था,
जो कांटे कंटेरी से बिलकुल मढ़ा था ॥
कि चिंघाड़ चीते जहां मारते थे।
कि दर्रे पहाड़ों के जो फाड़ते थे ॥ २ ॥

पहलवां भी इक बार थे खौफ़ खाते,
वे जा जा के फिर बीच से लौट आते,
अन्धेरा था इतना कि दिल कांप जाते,
प्रखर भानु भी थे नहीं पार पाते ॥
वो झाड़ी ही झाड़ी भरी हर जगह थी,
खड़े होने तक को न तिल भर जगह थी ॥ ३ ॥

वो मस्ते मतङ्गों से खोदा पड़ा था,
या जङ्गल के भैंसों से रोन्धा पड़ा था।
वराहों की दाढ़ों से रोंधा पड़ा था,
औ' खूंखार पशुओं से अब तक भरा था।
यहां पर जहां आज है शामियाना।
था पड़ता दिवस में भी दीपक जलाना ॥ ४ ॥

सुना हमने सब कुछ मगर ये सुनाओ,
ये सारा हुआ कैसे ये तो बताओ,
असम्भव से सम्भव ये कैसे, सुझाओ,
औ' विश्वास जल्दी से हमको दिलाओ ॥
कि कोलं से हीरे का ये मूल कैसे ।
सड़े कीच से ये कमल-फूल कैसे ॥ ५ ॥

ये कष्ट सारे थे किसने उठाये,
कंटीले ये जङ्गल थे किसने गिराये,
गरजते वे मृगराज कैसे भगाये,
औ' कैसे वो भागीरथी-तीर आये ॥
अहो ! यज्ञशाला ये क्यों कर रचाई ।
औ' क्यों कर ये सुन्दर सुगन्धी फैलाई ॥ ६ ॥

मैं त्रिंशत् सहस्र इकट्ठे करूंगा,
मैं घर घर में दर दर भी फिरता रहूंगा,
मगर इतना जब तक न मैं कर सकूंगा,
नहीं तब तलक पैर घर में धरूंगा ॥
सुदारुण प्रतिज्ञा ये किसने थी धारी ।
कि आखिर तलक थी न धुन जिसने टारी ॥ ७ ॥

न देता था कोई भी जन यों सहारा,
ये आशा सहित हाथ किसने पसारा ।
निजैश्वर्य राशी को किसने बिसारा,
न आंधी अन्धेरे को कुछ भी विचारा ॥
करी आहुती तन औ' मन धन की अपने ।
औ' आखिर को ऐसे दिखाये हैं सपने ॥ ८ ॥

मैं आचार्य-आदेश कैसे फैलाऊं,
औ' मैं ब्रह्मचारी कहां से बुलाऊं,
मैं कुल को कहां और कैसे चलाऊं,
सहोद्योगियों को कहां पर मैं पाऊं ॥
यही एक चिन्ता यही एक लक्ष्य ।
भले दुःख आवे, करूंगा अवश्य ॥ ९ ॥

थे प्रस्थान आखिर को कर ही दिया था,
औ' बत्तीस पुत्रों को संग ले लिया था,
उतर रेल से रुख इधर ही किया था,
बस इक "ओ३म्" का हाथ झण्डा लिया था ॥
सुनो, अन्त को सब यहीं पर थे आये ।
तथा आके डेरे सभी ने लगाये ॥ १० ॥

ये जङ्गल में मङ्गल ये ऐसे हुआ था,
प्रयत्नों से पौदा लगाया गया था,
पसीना जो इस देह का तब बहा था,
तथा चूंकि उससे ये सिञ्चित हुआ था ॥
इसी ही लिये ये फला फूला इतना ।
औ' फूले फलेगा न जाने ये कितना ॥ ११ ॥

ये पुत्रों की अन्तिम मगर याचना है,
या केवल यही एक अभ्यर्थना है,
या अवशिष्ट केवल यही कामना है,
बस अन्तिम से अन्तिम यही प्रार्थना है ॥
कि ओझल न हो कुल की ज्योती प्रभू जी ।
कभी भी किसी भी तरह से प्रभू जी ॥ १२ ॥

आश्चर्यमय गुरुकुल

आज गुरुकुल की २५ वीं वर्ष-गांठ के दिन यदि उसके गत जीवन पर एक साधारण दृष्टि डाली जावे तो वह बड़ा आश्चर्य्यमय दीखता है। वह जीवन इतना आश्चर्य्यमय है, जीवन ने इतने जुदे २ भिन्न २ दृश्य दिखलाये हैं कि यदि मैं उसे एक नाटक से उपमा दूं तो कुछ अनुचित न होगा।

गुरुकुल की उत्पत्ति का दृश्य ही बड़ा अनोखा है। जिस तरह पीपल के विशाल वृक्ष का बीज बहुत छोटा होता है, उसी तरह, गुरुकुल का बीज भी बहुत छोटा था। पञ्जाब प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग में विचार पेश था कि बचा हुआ वेदभाष्य कैसे किया जावे। इस विषय में लोगों ने कई प्रकार की स्कीमें समाचार-पत्रों द्वारा प्रस्तुत की हुई थीं, जिन का अन्तिम निचोड़ कुलपिता की स्कीम थी। उस स्कीम में उन्होंने बताया था कि एक ऐसा आश्रम खोला जावे जहां कुछ विद्वान् लोग रहें जो वेदभाष्य करने के साथ साथ विद्यार्थियों को पढ़ाया भी करें और इस तरह वेदभाष्य के साथ ब्रह्मचर्य्याश्रम का पुनरुद्धार भी हो सकेगा। यह स्कीम बहुत ही छोटी थी। आज गुरुकुल जिस व्यापक रूप को धारण कर रहा है, वह उस समय उनके भी ध्यान में न था। प्रतिनिधि सभा के उस समय के कार्यकर्ता इस स्कीम को पास करना नहीं चाहते थे। परन्तु ब्रह्मचर्य्याश्रम के पवित्र नाम को सुनते ही आर्य लोगों में एक प्रकार की बिजुली का संचार हो गया। जिस दिन कुलपिता की प्रस्तावित यह स्कीम, आ०प्र०सभा पंजाब में पास हुई, उसे कभी भूल नहीं सकते। जब अधिक रात्रि के बीत जाने पर सभासद् थककर ऊंघने लग गये, तब अनावश्यक समझ कर यह स्कीम उस समय पेश कर दी गई। परन्तु इस स्कीम में अद्भुत बिजुली थी, क्योंकि इस स्कीम के आते ही सब लोग चौकन्ने होकर बैठ गये। थोड़े बाद विवाद के पीछे स्कीम पास हो गई, एक गुरुकुल का खोलना निश्चित होगया। उस के लिये तीन सहस्र रुपया मूलधन एकत्रित करना हुवा, और साथ ही यह स्वीकृत हुआ कि आठ हजार रुपया होजाने पर गुरुकुल खोल दिया जावे। अब यह देख कर आश्चर्य्य होगा कि उस समय तीन सहस्र रुपया ही गुरुकुल के लिए काफी समझा गया था, परतु उस समय इस कार्य की इस व्यापकता को कौन जान सका था।

गुरुकुल का खुलना स्वीकृत हो गया। दूसरे दिन ही कुछ लोगों ने धन देने की प्रतिज्ञा भी की, परन्तु

कई महीनों तक यह स्कीम कागजी पुलिन्दे से बाहिर न निकली। लोग उस समय इस काम को असम्भव समझते थे, इस लिए इसके लिए प्रयत्न करना भी कोई अपना कर्तव्य न समझता था। परन्तु ऋषि दयानन्द के लेखों ने कुलपिता के हृदय पर अंकित कर दिया था कि सारे आश्रमों की व्यवस्था सुधारने के लिए ब्रह्मचर्य प्रणाली का पुनरुद्धार अत्यन्त आवश्यक है। जब नींव ही कच्ची है तब उस पर खड़ा किया हुआ भवन मजबूत कैसे हो सका है। कुलपिता उस समय विकालत छोड़कर आजीविका का कोई और ही ढङ्ग सोच चुके थे और इस पवित्र कुल के आचार्य पद के लिए तय्यार नहीं होते थे, किन्तु गुरुकुल के खोलने को अत्यन्त आवश्यक समझ कर, उस के लिए रुपया एकत्र करने का भार उन्होंने अपने ही ऊपर ले लिया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा करली कि तीस हज़ार रुपया इकट्ठा करने के पहिले मैं अपने घर में पांव न धरूंगा। २६ अगस्त १८९९ ई० को मन में यह दृढ़ संकल्प करके वह गुरुकुल के लिए धन इकट्ठा करने बाहिर निकले।

लगभग सात महीने तक संयुक्त प्रान्त, पंजाब, और दक्षिण हैदराबाद से घूम कर उन्होंने गुरुकुल के लिए भिक्षा मांगी। उस समय गुरुकुल के कार्य में जो जो कठिनाइयें थीं, उन का विस्तार से यहां वर्णन करना असम्भव है। उस समय सब से बड़ी कठिनाई इस विचार की नवीनता थी। उस समय तक यह एक ख़याली स्कीम थी; इस प्रणाली पर चलता हुआ कोई विद्यालय उदाहरण के लिए वे लोगों के साम्हने नहीं रख सके थे। लोगों के लिए यह विचार बिल्कुल ही नया था इस लिए भिक्षा मांगने के पहिले मुझे बताना पड़ता था कि गुरुकुल खोलने के क्या उद्देश्य हैं। गुरुकुल के विषय में लोगों की अनभिज्ञता का, इस से बढ़ कर क्या प्रमाण होगा कि कई स्थानों में लोग कुलपिता का ही नाम गुरुकुल समझते थे। ऐसे नये कार्य के लिए धन, आसानी से कैसे मिल सकता था? इस के सिवाय, नये ढंग के पढ़े लिखे लोगों की ओर से भी गुरुकुल की कार्यप्रणाली पर आक्षेप किये जाते थे। वे कहते थे कि सभ्यतामय बीसवीं सदी में ऐसे विद्यालय का चलना सर्वथा असम्भव है। पुराने समय को लाने के प्रयत्न को वे कुलपिता के दिमाग़ की निर्बलता बतलाते थे। सब से बड़ा आक्षेप यह था कि कौन ऐसे पाषाण हृदय माता पिता निकलेंगे जो पच्चीस वर्षों तक अपने प्यारे पुत्रों का बिछोड़ा सहने के लिए तय्यार होंगे। परन्तु कुलपिता को गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के महत्त्व पर इतना पूरा भरोसा था कि इस तरह के आक्षेप उन्हें अपने

उद्देश्य से कुछ भी विचलित न कर सके। मुझे पूरा विश्वास था कि यदि एक बार नहीं तो कई बार ब्रह्मचर्याश्रम का संदेशा सुनाते रहने से लोगों की आंखे अवश्य खुलेंगी, और वे इस की आवश्यकता को अनुभव करेंगे। ऊपर कहे हुवे सब आक्षेपों के होते हुवे भी, जहां कहीं जाकर वे वर्तमान समय में ब्रह्मचर्य की ओर विद्यार्थियों की शोचनीय दशा का वर्णन करते थे, लोगों की आत्माओं को अपने साथ सहमत पाते थे। लोग युनिवर्सिटी की धर्मशून्य शिक्षा प्रणाली के दोषों को अनुभव कर रहे थे; आर्य जाति के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक ह्रास को देख कर विचार शील लोग कांप रहे थे, परन्तु आर्यसमाज के पास ऐसे उपदेशकों का अभाव था जो धर्म के प्यासों तक धर्म का संदेशा पहुंचा सकें। अतएव जब लोगों को बतलाया गया कि इन सब त्रुटियों को दूर करने का एक मात्र उपाय गुरुकुल ही है, तब उनका ध्यान इधर आकर्षित होने लगा। इस छः सात महीनों के भ्रमण का फल यह हुआ कि तीस हज़ार रुपया इकट्ठा हो गया और सर्वसाधारण गुरुकुल की आवश्यकता को समझने लग गये।

रुपया एकत्र होने के पश्चात् भी कई मासों तक कार्यकर्त्ताओं की शिथिलता से यह कार्य खटाई में पड़ा रहा। सब से बड़ी रुकावट एकान्त स्थान न मिलने की थी। बहुत खोज और विचार के पश्चात्, हरिद्वार के समीप, श्री० मुंशी अमनसिंह जी के दिये हुवे कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल का खोला जाना निश्चित हुआ और इस की अधिष्ठात्री सभा ने इस कार्य का सारा भार कुलपिता पर डाला।

वह दिन मुझे और मेरे साथी ३१ ब्रह्मचारियों को अच्छी तरह याद है, जो उस समय शिवरात्रि से ४ दिन पूर्व १९५८ वि० की फाल्गुन बदी १० (४ मार्च १९०२ ई०) को इस पवित्र भूमि में पहिले पहिल आये थे। हम चार बजे की गाड़ी से हरिद्वार उतरे और दयानन्द का चित्र सामने लेकर वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हुए हम सीधे गुरुकुल-भूमि की ओर चले। हरिद्वार और कनखल के लोग कहते थे कि यहां दयानन्द का मठ बनेगा। कुछ अन्धेरे में हम गुरुकुल पहुंचे और जाते ही हम सब ब्रह्मचारियों ने गङ्गा की शीतल धारा में गोता लगाया। उस समय यहां बड़ा घना जंगल खड़ा था। उस में से थोड़े से स्थान को साफ़ कर के रहने के लिए और पढ़ाई के लिये कुछ छप्पर और तम्बू लगाये गये थे। आने के कुछ दिन पीछे गुरुकुल की स्थापना का उत्सव हुआ, जिस में चार सहस्र रुपया भी पूरा इकट्ठा न हो सका।

उस दिन और आज में बड़ा अन्तर है। गत पच्चीस वर्षों में गुरुकुल ने जो

गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आश्रम का भीतरी दृश्य

गुरुकुल कुरुक्षेत्र की यज्ञशाला

गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आश्रम का भीतरी दृश्य

गुरुकुल कुरुक्षेत्र की यज्ञशाला

उन्नति की है, उसे अचम्भे के सिवाय और कुछ नहीं कह सके। जो विद्यालय ३४ ब्रह्मचारियों से शुरु हुआ था, वहां आज ३३१ बालक शिक्षा पारहे हैं। इसके अतिरिक्त ७ शाखा-गुरुकुल हैं, जिन में एक कन्या-गुरुकुल भी है, और इन सब शाखाओं में लगभग ६७० के बालक और बालिकायें शिक्षा पा रहीं हैं। जिस गुरुकुल के विषय में यह पूछा जाता था कि वहां अपने पुत्रों को कौन भेजेगा वहां आज यह दशा है कि प्रति वर्ष डेढ़ सौ से ऊपर बालक और बालिकायें प्रविष्ट होती हैं। जहां घना जङ्गल था, वहां आज हरा भरा उद्यान दिखाई दे रहा है, और दो चार फूस की झोपड़ियों की जगह आज आध मील तक फैली हुई गुरुकुल की इमारतें दिखाई दे रही हैं। जहां पहिले छोटा सा विद्यालय था वहां अब तीन महाविद्यालयों का संचालक विश्वविद्यालय है।

परन्तु मैं इन ईंट पत्थरों के फैलाव को गुरुकुल की वास्तविक उन्नति नहीं समझता। गुरुकुल की वास्तविक उन्नति के चिन्ह अन्दर और बाहर इन से जुदा हैं। बाहिर गुरुकुल की वास्तविक उन्नति उस की शिक्षा-प्रणाली के सामने लोगों का सिर झुकाना है। स्थान की कमी मुझे आज्ञा नहीं देती कि मैं शिक्षा प्रणाली के विषय में उन परिवर्तनों का वर्णन करूं जो इस समय विद्वान् लोगों के विचारों में हो रहे हैं। किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि भारतवर्ष का शिक्षित समाज हमारी शिक्षाप्रणाली के महत्त्व को मानने लग गया है और हमारे परीक्षण को टक टकी लगाये देख रहा है। गुरुकुल की भीतरी अवस्था को वे ही लोग जान सकते हैं जो गुरुकुल के अन्दर काम करते हैं। जितना ही गुरुकुल विषयक लोगों का अनुभव बढ़ रहा है, उतना ही उन्हें दृढ़ विश्वास होता जाता है कि यदि कोई ऐसी संस्था है जो धार्मिक, आज्ञापालक, परिश्रमी, उत्साही और समाजसेवी मनुष्य बना सका है तो वह गुरुकुल ही है।

———

मेरा तपोवन

१

जहाँ विश्वमें सब से पहिले हुआ सवेरा।
है वही भूमि वह—यही तपोवन मेरा॥

२

जन्हु-सुता की जहाँ विमल धारा बहती है।
जिस पर उच्च हिमाचल की छाया रहती है।
जहाँ खड़े हैं विकसित द्रुम-दल शोभाशाली।
जहाँ छिटकती शुभ्र चाँदनी खिलने वाली।
जहाँ 'प्रकृति' में सब से पहले हुवा सवेरा।
है यही भूमि वह—यही तपोवन मेरा॥

३

जहाँ धर्म की ज्योति निराली नभ में छाई।
'ब्रह्म ब्रह्म' की टेर जहाँ नित देत सुनाई।
घने वनों में जहाँ दिव्य रव गूंज रहा है।
जहां हृदय आनन्द-सिन्धु में डूब रहा है।
जहाँ 'भक्ति' में सब से पहले हुवा सवेरा।
है यही भूमि वह-यही तपोवन मेरा॥

४

जहाँ खड़ी स्वाधीन-पताका फहराती है।
जिसे देख कर इन्द्र-ध्वजा भी शरमाती है।
धर्म-युद्ध के हेतु जहाँ उठतीं तरवारें।
जहाँ चण्डिका नाच रही है कर हुंकारें।
जहाँ 'शक्ति' में सब से पहले हुवा सवेरा।
है यही भूमि वह-यही तपोवन मेरा॥ ३॥

पं० विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार

गुरुकुल–शिक्षा–प्रणाली

(लेखक— श्री प्रो० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार पालीरत्न)

शिक्षा के उद्देश्य

बड़े २ विद्वान विभिन्न दृष्टिओं से विचार करते हैं कि शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहियें, परन्तु वे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर उतनी स्पष्टता से नहीं देते जितनी स्पष्टता और निश्चयात्मकता से देना चाहिए। निरुक्तकार यास्काचार्य इस गम्भीर प्रश्न का हल तीन अक्षरों के 'आचार्य' शब्द में पाते हैं। यह संस्कृत भाषा की अपूर्व और विचित्र महिमा है कि उसका प्रत्येक शब्द अपने में बड़े विस्तृत ज्ञान को ढाँपे रखता है। 'आचार्य' का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं— "आचार्य आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिम्" अर्थात् आचार्य वह है जो शिष्य को सदाचार ग्रहण करावे, उसमें शब्दों के अर्थों का सञ्चय करे, और उसकी बुद्धि को बढ़ावे। बस, शिक्षा के एकमात्र यही तीन उद्देश्य होने चाहियें कि (१) विद्यार्थी के सदाचार का निर्माण किया जावे, (२) उसे प्रत्येक शब्द के यथार्थ अर्थ का साक्षात्कार कराते हुए उसमें वस्तुओं का यथार्थ बोध संचित कर दिया जावे, (३) और उसकी ईश्वर-प्रदत्त बुद्धि को पूर्णतया विकसित किया जावे।

यदि वर्तमान युनिवर्सिटियों की शिक्षा-पद्धति की ओर दृष्टि डाली जावे तो हमें साफ़ तौर पर विदित होता है कि सदाचार-निर्माण, पदार्थविबोध और बुद्धि-विकाश, शिक्षा के इन तीन उद्देश्यों में से प्रथम और अन्तिम उद्देश्य को सर्वथा भुलाया हुआ है। सदाचार-निर्माण तो शिक्षा के क्षेत्र में से बहिष्कृत है ही, परन्तु इसके साथ साथ कृत्रिम पाठप्रणाली की यन्त्रकला में से बिना किसी ननु नच के प्रत्येक विद्यार्थी को गुज़ारने से उनकी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि का विकाश भी नहीं हो पाता। होना तो यह चाहिए था कि जैसे सूर्योदय के होने पर सूर्य-प्रकाश से रोग-कृमि नष्ट होजाते हैं, चोर चोरी से और जार जारी से विरत होजाते हैं, मलिनता दूर हो जाती है और बन्द कमल खिल जाता है, उसी प्रकार विद्योदय के होने पर विद्या-प्रकाश से काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मल दूर हों, पाप-कृमि नष्ट हों, और बुद्धि-कमल का विकाश हो। परन्तु इस माया-रूप-धारिणी विद्या से पाप-मल की वृद्धि होती है, और बुद्धि-कमल बिना खिले ही मुरझा जाता है।

एवं, शिक्षा के दूसरे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए किताबी शिक्षा की ओर ही ध्यान दिया जाता है। ऐसी शिक्षा

से दूसरा उद्देश्य भी पूर्णतया पूरा नहीं होता, पदों की रटन्त पर पूरा बल लगाया जाता है, पदार्थावबोध यथार्थ में नहीं होता। इससे पाठक समझ सकते हैं कि आधुनिक युनिवर्सिटी-शिक्षा-पद्धति कितनी दोषपूर्ण है। यह शिक्षा-पद्धति वह है जो कि शिक्षा के तीनों उद्देश्यों में से किसी भी उद्देश्य को सच्चे अर्थों में पूर्ण नहीं करती। इसलिए हमारे ऋषियों ने जो गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली प्रचलित की थी, वह विवेकपूर्ण है और वही वास्तव में मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली है। वह शिक्षा-प्रणाली कैसी है, उसे मैं ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश के आधार पर ही बतलाना चाहता हूँ जिससे विद्वान् लोग उस पर अधिकाधिक विचार करते हुए विद्यार्थियों के जीवनों को सफल बना सकें।

गुरुकुल-प्रवेश से पूर्व अपनी सन्तान के प्रति माता पिता के कर्त्तव्य-

(१) जन्म से पाँचवें वर्ष तक माता और छठे से आँठवें वर्ष तक पिता अपनी सन्तान को शिक्षा दिया करे।

(२) जब पाँच वर्ष का लड़का वा लड़की हो तब उन्हें देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें और अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।

(३) इसके पश्चात् जिन से उत्तम शिक्षा, विद्या, धर्म तथा परमेश्वर का बोध हो, और जिन से माता पिता आचार्य विद्वान् अतिथि राजा प्रजा कुटुम्ब बन्धु भगिनी तथा भृत्य आदि से कैसे बर्तना चाहिए, इसका उत्तम ज्ञान प्राप्त हो, उन मंत्रों तथा श्लोकों सूत्रों और गद्य पद्यों को भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावें।

(४) इसके अतिरिक्त जो २ विद्या-धर्म-विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिराने वाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश करदें जिससे उन्हें भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों पर विश्वास न हो।

(५) माता पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तानों को वीर्यरक्षण में आनन्द और वीर्यनाशन से दुःख की प्राप्ति होती है, इसे भी भली भाँति जतला दें। जैसे— "देखो, पुत्रो! जिसके शरीर में वीर्य सुरक्षित रहता है, उसे आरोग्यता बुद्धि बल और पराक्रम की वृद्धि होकर बहुत सुख की प्राप्ति होती है। वीर्यरक्षा की यही रीति है कि तुम आठों मैथुनों से पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त करो। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक तथा महाकुलक्षणी बन जाता है, वह प्रमेह रोग से युक्त होजाता है जिससे वह दुर्बल निस्तेज और निर्बुद्धि हुआ हुआ उत्साह साहस धैर्य बल पराक्रम आदि से रहित होकर नष्ट होजाता है। यदि तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण तथा वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं होसकेगा।

जब तक हम लोग गृहकर्मों के करने वाले हैं, तब तक तुमको विद्या का ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिए।"

गुरुकुल का स्थान कैसा हो

(१) विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए।

(२) पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् ४ कोस दूर ग्राम या नगर रहे।

(३) लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिये।

गुरुकुल--प्रवेश के नियम

(१) इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें, पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

(२) लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेजना चाहिए।

गुरुकुल के नियम

(१) जो अध्यापक, पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उन से शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने के योग्य हैं।

(२) जो अध्यापिका और अध्यापक, भृत्य वा अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्रियें और बालकों की पाठशाला में सब पुरुष हों।

(३) कन्याओं की पाठशाला में ५ वर्ष का लड़का, और लड़कियों की पाठशाला में ५ वर्ष का लड़का भी न जाने पावे। अर्थात्, जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक लड़का या लड़की का दर्शन स्पर्शन एकान्त–सेवन भाषण विषय–कथा परस्परक्रीड़ा विषय का ध्यान और सङ्ग, इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें। अध्यापक लोग उन को इन बातों से बचावें, जिस से वे उत्तम विद्यावान् सुशिक्षित सुशील और उत्तम स्वभाव वाले तथा शरीर और आत्मा से बलवान् होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

(४) सब को तुल्य वस्त्र खानपान और आसन दिये जावें, चाहे वे राजकुमार वा राजकुमारी हों और चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सब को तपस्वी होना चाहिये।

(५) माता पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता पिता से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिस से वे सारी चिन्ताओं से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।

(६) जब भ्रमण करने जावें तब उन के साथ अध्यापक रहें जिस से वे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें।

(७) जहां गुरुजन शिष्यों का ताड़न करते हुए उन्हें अमृत पिलाते हैं और लाड़न करते हुए उन्हें अपने

ही हाथों से विष-पान कराके उन्हें नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं, वहां शिष्यां को भी चाहिए कि वे ताडना से सदा प्रसन्न और लाड़न से सदा अप्रसन्न रहा करें, इस से विपरीत आचरण कभी न करें। परन्तु गुरुजनों को सदा ध्यान रखना चाहिये कि वे ईर्ष्या या द्वेष से कभी ताड़न न करें, अपितु ऊपर से भय-प्रदन और भीतर से कृपादृष्टि रखें।

ऋषि दयानन्द को अपना आचार्य मानने वाले आर्य लोग आचार्य के गुरुकुल-सम्बन्धी इन संकेतों पर विशेष ध्यान दें और देखें कि वे किस मार्ग को ओर चल रहे हैं, और जो आर्य अपनी सन्तान को गुरुकुलों में न भेज कर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की अवहेलना करते हैं, क्या वे अपने आचार्य की आज्ञानुसार दण्ड के भागी नहीं ?

कुल--वन्दना

जय जय जननि ! कुलदेवि ! तुझ को बार बार प्रणाम है।
यह मञ्जु अञ्जलि प्रेममय, अर्पित तुझे अभिराम है ॥ १ ॥

महिमा हिमालय की शिखायें, गा रहीं तेरी स्वयम्।
भागीरथी की बीचियों में, स्पष्ट तेरा नाम है ॥ २ ॥
हम देखते तुझ में सदा, नव प्रेम का उल्लास है।
हम को मधुरतम गोद ही, तेरा परम विश्राम है ॥ ३ ॥
तेरे विशद आकाश की, स्वाधीनता में हम पले।
स्वर्गीयता—मिश्रित जहां, उज्ज्वल उषा का धाम है ॥ ४ ॥
तेरे वनों की स्तब्धता में, दिव्य कोई राग है।
सब ओर से मानो बरसता, पुण्य का परिणाम है ॥ ५ ॥
तूने हृदय मोती पिरो कर, प्रेम के दृढ़ सूत्र में।
अनुपम बनाई यह हमारी, चारु मुक्ता दाम है ॥ ६ ॥
तू ही बजाती बीणा वह, जिस के कि हम सब तार हैं।
जो तार सारे एक स्वर हो, कह रहे अविराम हैं ॥ ७ ॥
हम हैं सदा तेरे, हमारी तू हृदय-वर-वासिनी।
सम्बन्ध यह तेरा हमारा, नित्य है निष्काम है ॥ ८ ॥

गुरुकुल-वृक्ष

'आश्चर्यमय गुरुकुल' शीर्षक वाले लेख में दर्शाया जा चुका है कि किस प्रकार १६०२ ई० की ४ मार्च को कांगड़ी की पवित्र भूमि में लगाया हुआ नन्हा सा गुरुकुल रूपी वृक्ष फूला और फला। इस वृक्ष के जो महत्त्व हैं, वे संक्षेप से इस प्रकार कहे जा सकते हैं कि यह संपूर्ण राष्ट्र का अपनाया हुआ है, छूत अछूत सब को आश्रय देने वाला है, उत्तम जीवन का प्रदाता है, सन्तप्तों को शान्ति देता है, भारत के प्राचीन गौरव का प्रत्यक्षतया भासमान चिन्ह है, और भारतभूमि का मुख उज्वल करने वाला है। वर्तमान समय में वेद महाविद्यालय महाविद्यालय और आयुर्वेद महाविद्यालय, ये तीन बड़े २ स्कन्ध हैं। इस वृक्ष को उत्पन्न हुए ४ मार्च १६२७ ईस्वी को २५ वर्ष व्यतीत होगए। गत १६ वर्षों में इस वृक्ष के सिंचन में लगभग २० लाख ७५ हज़ार रुपए व्यय हुए, नक़द और जायदाद मिलाकर लगभग साढ़े दस लाख रुपए इस की रक्षा के लिए विद्यमान हैं, और इस वर्ष के १५ फल मिला कर कुल १६२ फल इस वृक्ष से आर्यजाति को प्राप्त हो चुके हैं। इस सुप्रसिद्ध पवित्र वृक्ष और इस की सात शाखाओं की निर्मल छाया में बैठकर इस समय लगभग एक सहस्र बालक और बालिकायें शिक्षा पा रही हैं। यह वृक्ष अमर श्रद्धानन्द के हाथों से लगाया हुआ है और उन्हीं के रुधिर से सींचा हुआ है। ऐसे अद्भुत वृक्ष की पच्चीसवीं वर्ष-गांठ मनाते हुए आर्य जाति को कुछ विशेष प्रण करने चाहियें। आर्य-जाति से मैं केवल दो प्रणों की अभ्यर्थना करता हूँ; एक तो यह कि अपने आचार्य ऋषि दयानन्द की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए इस जाति का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सन्तानों को विष-वृक्षों के नीचे शिक्षा के लिए न बैठा कर गुरुकुल-वृक्ष के ही नीचे बैठाना अपना कर्तव्य समझें, और दूसरा, इस वृक्ष के सिंचन में तन मन और धन, किसी की कमी न रखें। ऐसा न हो कि आर्यजाति की असावधानता से अमर श्रद्धानन्द का लगाया हुआ यह भारत-पावक वृक्ष कभी मुरझा कर सूख जावे, और फिर पीछे पछता कर सिर नीचा किये सब से यह सुनना पड़े कि अब पछताने से क्या होत है जब चिड़ियां चुग गईं खेत। अतः, ऐ आर्यजाति के वीरो, उठो, कमर कस कर तय्यार होवो, अब अधिक प्रतीक्षा का काल नहीं रहा।

चन्द्रमणि

कुलगीत

प्राणों से हम को प्यारा 'कुल' हो सदा हमारा ॥

(१)

विष देने वालों के भी बन्धन कटाने वाले,
मुनियों का जन्म-दाता कुल हो यही हमारा ॥

(२)

'कट जाय सिर न झुकना' यह मन्त्र जपने वाले,
वीरों का जन्म दाता कुल हो यही हमारा ॥

(३)

स्वाधीन्य-दीप्तितों पर सब कुछ बहाने वाले,
धनियों का जन्म दाता कुल हो यही हमारा ॥

(४)

निज जन्म भूमि भारत को क्लेश से छुड़ा कर,
गौरव बढ़ाने वाला कुल हो यही हमारा ॥

(५)

तन मन सभी न्योछावर कर वेद का संदेसा,
जग में ले जाने वाला कुल हो यही हमारा ॥

(६)

हिमशैल तुल्य ऊंचा, भागीरथी सा पावन,
भटकों का मार्ग- दर्शक दुखियों का हो सहारा ॥

(७)

आजन्म ब्रह्मचारी ज्योती जगा गया है,
अनुरूप पुत्र उस का कुल हो यही हमारा ॥

गुरुकुल काङ्गड़ी की शाखायें

(१)

शाखा-गुरुकुल मुलतान

डेराबुद्ध मुलतान के चौधरी म० रामकृष्ण जी के भूमि और नकद दान देने पर और शाखा गुरुकुल खोलने के लिए बहुत आग्रह करने पर आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सभा ने २ अगस्त १९०८ को दानी के दान को स्वीकृत करके शाखा खोलने का निश्चय किया। तदनुसार १३ फर्वरी १९०९ के दिन डेराबुद्ध में इस गुरुकुल की स्थापना हुई जिस का नाम "शाखा-गुरुकुल देवबन्धु" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह गुरुकुल कांगडी की सब से पहली शाखा थी। इस शाखा के प्रबन्ध के लिए स्थानिक आर्यपुरुषों की एक गुरुकुल-सभा बना दी गई जो बड़े उत्साहमय पुरुषार्थ और जोश से काम करने लगी। थोड़े ही दिनों में कई हज़ार रुपयों की लागत के पक्के मकान और कूप आदि तय्यार होगए। परन्तु दौर्भाग्य से दो तीन वर्षों में ही दानी चौधरी जी की मति बदल गयी और उन्होंने गुरुकुल के चलाने में अनेक बाधायें डालनी शुरु कीं। लाचार होकर गुरुकुल देवबन्धु से उठाना पड़ा, और मुलतान शहर के बाहिर हजूरीमल के बाग में मुलतान के प्रतिष्ठित वकील ला० परमानन्द जी ने जो अपनी बड़ी २ दो कोठियें अस्थायी तौर पर इस के निमित्त अर्पण कर दी थीं वहां रखा गया। वहां आकर उस समय के मुख्याधिष्ठाता पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार और स्थानिक सभा के मंत्री ला० मदनलाल जी ने अनेक यत्न किए कि शायद चौधरी जी की मति फिर बदल जावे, परन्तु कुछ परिणाम न निकला। तब मुलतान से लगभग तीन मील की दूरी पर ताराकुण्ड के समीप स्थायी तौर पर इस शाखा को स्थापित किया गया। यह भूमि ६५॥ बीघे है, जिस का आनुमानिक मूल्य ६ सहस्र रु० है। अब तक मकानों और कूप आदि पर ३० सहस्र रु० व्यय हो चुके हैं। इसकी पुरानी देवबन्धु वाली भूमि के सम्बन्ध में चौधरी रामकृष्ण जी के साथ झगड़ा चल रहा था, वह गतवर्ष निपट गया है और वहां के मकानों की क्षतिपूर्त्ति के लिए चौधरी जी ने १७ सहस्र रु० आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब को दे दिए हैं।

पहले इस शाखा में १०श्रेणियों तक पढ़ाई का प्रबन्ध था। कई वर्ष यहां के दशम श्रेणी के ब्रह्मचारी गुरुकुल कांगडी अधिकारी परीक्षा के लिए जाते रहे और बड़े योग्य सिद्ध हुए। इस वर्ष तक २० स्नातक ऐसे हो चुके हैं जो यहीं से अधिकारी परीक्षा के लिए गए थे। परन्तु इस वर्ष स्थानिक प्रबन्धकर्त्री सभा ने यह निश्चय कर लिया है कि यह शाखा प्रथम आठ

श्रेणियों तक ही रक्खी जावे। तदनुसार इसकी नवम श्रेणी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ भेजदी गई हैं। अब इस समय इस शाखामें १०५ ब्रह्मचारी शिक्षा पा रहे हैं।

(२)

शाखा—गुरुकुल कुरुक्षेत्र

संवत् १९६७ में थानेसर शहर के सुप्रसिद्ध रईस ला० ज्योतिप्रसाद जी के मन में यह शुभ विचार उत्पन्न हुआ कि वे भी गुरुकुल कांगड़ी का शाखा अपने यहां खुलवायें। इन्होंने अपने ये विचार महात्मा मुन्शीराम जी [श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज]मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी के सामने रखे। तदनुसार सं० १९६९ की २१ वैशाख को श्री महात्मा मुन्शीराम जी ने इस गुरुकुल की आधार-शिला रक्खी। ला० ज्योतिप्रसाद जी रईस ने प्रारम्भ में १००००) नकद तथा १०४८ बीघा भूमि इस कार्य के अर्पण की।

प्रारम्भ में इस गुरुकुल के मुख्याध्यापक श्री पं० विष्णुमित्र जी रहे। प्रबन्धकर्ता का काम ला० ज्योतिप्रसाद जी करते रहे, और उनके मित्र ला० भगीरथलाल जी भी तन मन धन से गुरुकुल की सहायता करते रहे।

दौर्भाग्य से गुरुकुल खुलने के १ वर्ष बाद ही ला० ज्योतिप्रसाद जी का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु से गुरुकुल को बड़ी हानि हुई। उनके बाद कैथल के ला० नौबतराय जी निस्स्वार्थ-भाव से बड़ी लगन के साथ प्रबन्धकर्ता का कार्य करने लगे। इस प्रकार दिन प्रतिदिन यह गुरुकुल अधिकाधिक उन्नति करता गया। संवत् १९७३ में इस गुरुकुल का प्रबन्ध एक स्थानीय कमेटी के हाथ में दिया गया। परन्तु फिर इसका प्रबन्ध मुख्याधिष्ठाता कांगड़ी के सीधे निरीक्षण में ही आ गया। सं० १९८० में प्रथम बार यहां से ६ ब्रह्मचारी ८ म श्रेणी पास करके गुरुकुल कांगड़ी गये और तब से प्रतिवर्ष ८ म श्रेणी के बाद ब्रह्मचारी वहां पर जाते हैं।

वर्त्तमान समय में इस गुरुकुल में ८ श्रेणियें हैं। जिनमे लगभग १५० ब्रह्मचारी भारत के भिन्न २ प्रान्तों से आकर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। अध्यापकों की संख्या ९ है। पं० सोमदत्त जी विद्यालंकार इस शाखा के मुख्याध्यापक तथा प्रबन्धकर्ता हैं।

स्थान— देहली से कालका जाते समय मार्ग में कुरुक्षेत्र जन्कशन नाम का एक स्टेशन है। इस स्टेशन से पुहोवा तीर्थ को १ पक्की सड़क जाती है। इसी पक्की सड़क के बायें हाथ कुरुक्षेत्र तीर्थ से १ मील दूर गुरुकुल कुरुक्षेत्र बना हुआ है।

गुरुकुल के प्रथम वार्षिकोत्सव के अवसर पर इसका बुनियादी पत्थर रखते समय गुरुकुल के आचार्य श्री महात्मा मुन्शीराम जी [श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी] ने निम्न लिखित वाक्य कहे थे "आज हमारी प्यारी भारत-भूमि पराधीनता की बेड़ी में जकड़ी हुई है। एक समय था जब कि संपूर्ण संसार के राजा आर्यावर्त के सम्राट् के चरण-रज को माथे पर लगाने में

अपना गौरव समझते थे। आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व इसी कुरुक्षेत्र भूमि में आर्यावर्त के नाश का बीज बोया गया था। आज उसी भूमि में आर्यावर्त की उन्नति के लिये यह बीज बोया गया है"।

कुरुक्षेत्र की इस भूमि में शाखा स्थापित करने का रहस्य तथा उद्देश्य कुलपति जी के भाषण की उपर्युक्त पंक्तियों से समझ में आ जाता है।

आज गुरुकुल को स्थापित हुए १६ वर्ष व्यतीत हुये हैं। इस थोड़े से समय में गुरुकुल ने पर्याप्त उन्नति की है। वर्त्तमान समय में इस गुरुकुल की लगभग ८००००) अस्सी हज़ार रुपये की लागत की पक्की इमारतें हैं। लगभग २०० ब्रह्मचारियों के निवास तथा पठन पाठन के लिये पर्याप्त मकान हैं। आश्रम से उत्तर की तरफ ब्रह्मचारियों के स्नान के लिये स्नानगृह बना हुआ है जिस में लगभग ७५ ब्रह्मचारी एक साथ स्नान कर सकते हैं। दक्षिण की तरफ़ भोजन-भण्डार है। उसके पास ही परिवार-गृह बने हुए हैं।

गौशाला—ब्रह्मचारियों को प्रातः सायं ताजा दूध दिया जा सके, इसके लिये गुरुकुल की अपनी गौशाला है, जिसमें १०० के लगभग पशु हैं। कृषि आदि के लिये ५ जोड़ी बैलों की रखी हुई हैं।

वाटिका—ब्रह्मचारियों को ताजी सब्ज़ी तथा फल आदि देने के लिये ३० बीघे पक्के का एक बाग है, जिस से ब्रह्मचारियों के लिये प्रतिदिन दो अढ़ाई मन के लगभग ताज़ी सब्जी निकल आती है। अनार, अंगूर, आड़ू सन्तरे, आम, अञ्जीर, केला आदि फल भी पर्याप्त मात्रा में इस वाटिका से ब्रह्मचारियों के लिये प्राप्त हो जाते हैं।

चिकित्सालय—वर्त्तमान समय में आश्रम के बीच में ही चिकित्सालय तथा रोगी-गृह हैं। शीघ्र ही आश्रम से कुछ दूर पश्चिम की तरफ़ पृथक् चिकित्सालय गुरुकुल के प्रबन्धकर्ता स्वर्गीय् ला० नौबतराय जी के स्मारक में बनाया जायगा। गुरुकुल के १४ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इसकी आधार-शिला रखी थी।

पुस्तकालय—विद्यालय के साथ ही गुरुकुल का अपना पुस्तकालय है जिसमें इस समय लगभग २००० पुस्तकें हैं।

विज्ञान-भवन—विद्यार्थियों को विज्ञान की शिक्षा देने के लिये विज्ञान भवन में लगभग २०००) के मूल्य के उपकरण हैं।

कला-भवन—विद्यार्थियों को कपड़ा बुनना तथा अन्य दस्तकारी का काम सिखलाने के लिये शीघ्र ही कला-भवन की योजना की जाने वाला है। खड्डियें आ चुकी हैं, कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ करने का विचार है।

जायदाद—इस गुरुकुल के पास लगभग २२०० बीघा ज़मीन है जिस में चार कूप हैं।

(३)

शाखा-गुरुकुल मटिण्डू

यह संस्था हरियाणा प्रान्त मे शिक्षा की भारी न्यूनता का अनुभव करके श्री चौधरी पीरुसिंह आदि उत्साही आर्यसज्जनों द्वारा जिला रोहतक के मटिण्डू ग्राम के समीप, यमुना नहर की एक छोटी शाखा के किनारे अत्यन्त रमणीक स्थान पर १९७२ वि० में स्थापित की गई, जिस की आधार शिला श्रीयुत पूज्यपाद श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा रक्खी गई। यह संस्था गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की शाखा रूप में खोली गई है।

विशेषतायें— (१) यह संस्था सर्वथा निःशुल्क संस्था है। इस मे ब्रह्मचारियों को शिक्षा तो निःशुल्क दी ही जाती है किन्तु उनके भरण पोषण का व्यय भी गुरुकुल का ही ओर से होता है।

(२) ब्रह्मचारियों को इस योग्य बनाया जाता है कि अवसर पड़ने पर प्रत्येक कार्य को स्वयं कर सकें।

प्रबन्ध— संस्था का प्रबन्ध एक कमेटी के आधीन है। जो महाशय १००) एक दम या ६) वार्षिक चन्दा देवे, वह कमेटी का सदस्य हो सकता है। इस के मुख्याध्यापक गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक श्री प० निरञ्जनदेव जी विद्यालंकार हैं। इन्हीं के आधीन विद्यालय तथा आश्रम आदि का सम्पूर्ण प्रबन्ध है।

विद्यालय—इस समय विद्यालय में ७ श्रेणियां हैं और लगभग ६० ब्रह्मचारी विद्याध्ययन कर रहे हैं। ६ साल से लगातार यहां के विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर गुरुकुल कांगड़ी में अध्ययनार्थ जाते हैं। शाखाओं से जो ब्रह्मचारी कांगड़ी जाते हैं, उन्हें वहां के नियमानुसार शुल्क देना पड़ता है, किन्तु यहां के ब्रह्मचारियों के लिए शुल्क में ५) की रिआयत करदी गई है। विद्यालय की पाठविधि गुरुकुल कांगड़ी की पाठविधि के अनुसार है।

वाटिका— नहर के किनारे पर गुरुकुल की एक रम्य वाटिका है, जिस में विविध प्रकार के फलों के वृक्ष तथा नानाप्रकार के मनोहर पुष्पों के पौदे है। यह वाटिका समयानुसार शाक की आवश्यकता को भी पूरी कर सकती है।

गोशाला— ब्रह्मचारियों के दुग्धपान के लिए एक गोशाला भी है, जिस मे इस समय ४० गौएं तथा १० भैंसें है। यहां के ज़मीदारों से वैशाख तथा ज्येष्ठ मास में गोशाला के लिये भूसा एकत्रित किया जाता है, जिस से गोशाला को पर्याप्त सहायता मिल जाती है।

सहायता— इस हरियाणा प्रान्त के जाट ज़मीदार बड़े उत्साही तथा

दानवीर हैं। उन्हीं के उत्साह का फल है कि यह संस्था निःशुल्क होती हुई भी उत्तमता से अपना कार्य कर रही है। जनरल कमेटी द्वारा नियुक्त डेपुटेशनों से वैशाख और ज्येष्ठ के महीनों में जमींदारों से अनाज और गौओं के लिए भूसा तथा माघ मास में गुड़ इकट्ठा किया जाता है। अनाज सालभर में कम से कम ६०० मन के लगभग एकत्रित हो जाता है, और विवाह संस्कारों में प्रतिवर्ष दो या अढ़ाई हजार के लगभग धन दान में आजाता है। इस के अतिरिक्त वार्षिक उत्सव पर दो या अढ़ाई हज़ार के लगभग धन प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार यह संस्था ११ वर्षों से इस प्रान्त में सफलता से अपना कार्य कर रही है।

सम्पत्ति—इस गुरुकुल के पास ५६ बीघे ज़मीन है जिस का मूल्य लगभग ५६००) है। अब तक मकानों और कूप पर लगभग ५५००) व्यय हुए हैं और गोशाला के पशुओं का मूल्य लगभग ५०००) है। एवं, इस गुरुकुल की संपूर्ण संपत्ति १६०००) की है। इस संस्था का वार्षिक खर्च १०००) के लगभग है।

नवीन मकानात— इस संस्था की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखकर इसके मकानात में वृद्धि करने की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव हुई है। अतएव उनके बनवाने के लिए १६५०) की एक लाख दस हज़ार ईंटे और २००) का चूना तथा २००) के गाडर, टीन आदि सब सामान समीप के बन में पड़ा हुआ है। पर्याप्त धनराशि प्राप्त हो जाने पर कार्य प्रारम्भ किया जावेगा। दानी महाशयों को इधर ध्यान देना चाहिए।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी और गुरुकुल मटिण्डू— यह संस्था श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के ही कर-कमलों से स्थापित हुई थी। इसकी उन्नति के लिए उन्हें अत्यन्त चिन्ता रहती थी। वे इसके उत्सव और अन्य समयों पर भी पधारा करते थे। इस संस्था के नूतन भवन बनवाने के लिए उन्होंने कई स्थानों से सहायता दिलवाई। बलिदान से एक मास पूर्व जो मटिण्डू के मुख्याधिष्ठाता को पत्र लिखा, उस पर आप जनता को विशेष ध्यान देना चाहिये। उस में वे लिखते है—"तुम्हारे गुरुकुल के लिए मुझे विशेष ध्यान है। जब कभी मौका मिला इस के भवन निर्माणार्थ सहायता दिलवाऊंगा।"

(४)

शाखा—गुरुकुल रायकोट

गुरुकुल रायकोट की आधार-शिला श्रद्धेय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने सम्वत् १९७६ वि० में रखी थी। इसके मुख्य सञ्चालक श्री स्वामी गङ्गागिरि जी महाराज हैं।

इस गुरुकुल के दो विभाग हैं, एक

गुरुकुल कांगड़ी का शाखा-विभाग, और दूसरा उपदेशकविद्यालय का। प्रथम चार श्रेणियों तक गुरुकुल कांगड़ी का शाखा-विभाग है। इस में गुरुकुल कांगड़ी की निर्धारित पाठविधि ही पढ़ाई जाती है। चतुर्थ श्रेणी पास करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को गुरुकुल कांगड़ी में भेजा जा सकता है, अन्यथा आगे यहीं पर उपदेशक विभाग की पढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है जिस में उपदेशक विद्यालय की पाठविधि के अतिरिक्त आंगलभाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र तथा संस्कृत के बहुत से उपयोगी विषय भी पढ़ाये जाते हैं। यह उपदेशक विभाग संवत् १९७९ वि० में स्थापित किया गया था। इस समय उपदेशक विभाग में, सिद्धान्तशिरोमणि के द्वितीय वर्ष तक की पढ़ाई हो रही है, सिद्धान्त वाचस्पति का भी प्रबन्ध करलिया गया है। उपदेशक विभाग और शाखा विभाग दोनों को मिला कर इस समय कुल ११ श्रेणियाँ हैं, और ५० विद्यार्थी तथा ८ अध्यापक हैं।

इस गुरुकुल में गुरुकुल काङ्गड़ी के नियमानुसार ही सब कार्य होते हैं। ६ से ९ वर्ष तक बालक प्रविष्ट होते हैं, विशेषावस्था में १० वर्ष तक के भी ले लिये जाते हैं। शिक्षा, निवास, चिकित्सा तथा प्रबन्धादि सब मुफ़ होते हैं। ब्रह्मचर्य्य-पालन के अन्य सब नियम पालन करवाये जाते हैं। यहां किस परिश्रम से शिक्षा दी जाती है, गुरुकुल कांगड़ी के परीक्षक इस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। इस वर्ष परीक्षा में १०० प्रतिशतक विद्यार्थी पास हुए। ब्रह्मचारी व्रतपाल ने ९७ प्रतिशतक नम्बर लिये तथा दूसरे नम्बर में रहने वाले ब्र० विद्यापाल ने ९३ प्रतिशतक नम्बर प्राप्त किये। ब्रह्मचारी व्रतपाल को गुरुकुल मे प्रथम रहने के कारण "श्रद्धानन्द स्वर्णपदक" दिया गया।

गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की दो सभायें है, जिन मे वे व्याख्यान निबन्ध तथा कवितादि का अभ्यास किया करते है। एक "वाग्वर्धिनी सभा" जिस के कार्य हिन्दी भाषा मे सम्पादित होते है, तथा एक "विद्या विनोदिनी सभा" जिसके कार्य संस्कृत भाषा मे होते है। ब्रह्मचारी सचित्र मासिक पत्र भी निकालते है जिसका सम्पादक ब्र० सत्यपाल है। अभी यह हस्तलिखित निकलता है, किन्तु कई सज्जनो ने उसकी उपादेयता का अनुभव कर इसको छाप कर निकालने के लिये आग्रह किया है, इसके लिये प्रबन्ध किया जा रहा है। ब्रह्मचारियों का एक संस्कृत मासिक पत्र "भूषण" नामसे निकालने का भी विचार है।

इस गुरुकुल की जायदाद लगभग ४००००) चालीस हज़ार रुपये की है। इस का वार्षिक व्यय लगभग १००००) रु० है। शुल्क कम होने के कारण इस का अधिकांश दान रूप में जनता से इकट्ठा किया जाता है। आर्य जनता से प्रार्थना है कि वह इस नई फूलती हुई संस्था की ओर विशेष ध्यान दें।

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल रायकोट

(५)

शाखा-गुरुकुल सूपा

गुजरात निवासियों की चिरकाल से प्रबल इच्छा थी कि विश्वविख्यात "गुरुकुल काँगड़ी" की एक शाखा गुजरात प्रान्त में भी खोली जावे। वे सोचते थे कि महर्षि दयानन्द की जन्म-भूमि होने का जिस देश (काठियावाड़ गुजरात) को अभिमान है उसमें उन की स्मारक स्वरूप, कोई भी संस्था नहीं है। अपरञ्च-गुजरात से गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मचारीगण पर्याप्त संख्या में जाते थे और यहाँ के निवासी धन द्वारा भी प्रतिवर्ष गुरुकुल काँगड़ी की विशेष सहायता करते थे। धीरे २ यह चिन्ता यहाँ के निवासियों में विशेष रूप से जागने लगी।

इसी बीच में गुरुकुल काँगड़ी के सुयोग्य स्नातक श्रीयुत पं. ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार (वैदिक मिशनरी) जो विदेश से लौट कर आये थे गुजरात में गुरुकुल काँगड़ी की शाखा खोलने का विचार करने लगे। बस, गुजराती आर्य भाइयों का उत्साह दूना होगया। फल स्वरूप गुजरात गुरुकुल सभा का संगठन किया गया, और यह नियम बनाया गया कि जो महानुभाव १०००) एक हजार रुपया दान दें वह इसके सभासद् समझे जावें।

श्रीयुत पंडित ईश्वरदत्त जी विद्यालङ्कार (वैदिक मिशनरी), श्रीदयालजी लल्लूभाई और श्रीयुत भाणाभाई देवाभाई के अनथक परिश्रम और उत्साह से पचास सभासद् बन गये, और पचास हज़ार रुपये गुरुकुल की स्थापना के लिये नकद प्राप्त होगये। तब १९२३ ईस्वी को गुजरात गुरुकुल सभा की स्थापना हुई।

स्थापना—अब गुरुकुल की स्थापना किस जगह की जाय। बहुत विचारने के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि जगत्प्रसिद्ध "बारडोली" तहसील में पूर्णा नदी के रम्य किनारे पर गुरुकुल की स्थापना की जाय। तदनुसार पूर्णानदी के रम्य तट पर गुरुकुलों के प्रवर्त्तक परम पूज्य श्रद्धेय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी सन्यासी के मङ्गलमय पवित्र कर-कमलों से माघ शुक्ला त्रयोदशी १९८० सम्वत् तदनुसार १८ फरवरी १९२४ ई० को महर्षि-दयानन्द सरस्वती की जन्म शताब्दी के स्मारक में गुरुकुल कांगड़ी के शाखा रूप इस गुरुकुल की स्थापना हुई। "सूपा" ग्राम के निकट होने के कारण इस गुरुकुल का नाम "गुरुकुल सूपा" रखा गया। प्रारम्भ मे २८ ब्रह्मचारी प्रविष्ट किए गए। प्रवेशार्थ प्रार्थनापत्र तो १०० के लगभग आए थे, परन्तु निवास स्थान की कमी के कारण थोड़े ही ब्रह्मचारी प्रविष्ट किए गए। यह बात भी गुजरात निवासियों

का गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के साथ प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शन करनी है।

गुरुकुल सूपा का चतुर्थ वर्ष प्रारम्भ हो चुका है। चार श्रेणियों में मिला कर लगभग ६० ब्रह्मचारी हैं। सभा का नये वर्ष का चुनाव हो चुका है। और गुरुकुल का सारा प्रबन्ध एक योग्य और उत्साही आर्य श्रीयुत चतुरभाई बाबर भाई पटेल बी० काम को सौंपा है। शिक्षण विभाग में भी अच्छे २ कार्यकर्त्ताओं की नियुक्त हो चुकी है।

प्रारम्भ से ही कई आर्य सज्जन, तन, मन और धन से इस गुरुकुल का सेवा करते आये हैं, जिनमें बिजलपुर निवासी श्रीयुत भाणाभाई देवाभाई और माणेकपुर निवासी श्रीयुत चाह्या-भाई नरसिंह के नाम विशेष उल्लेख-नीय हैं। बाजीपुरा निवासी आर्य्य दानवीर श्रीयुत भक्तभाई दुर्लभभाई जी की यह संस्था हमेशा के लिए ऋणी रहेगी क्योंकि आप के हार्दिक प्रेम से गुरुकुल सूपा को २२५ बीघा भूमि दान मिली थी। भक्तिभाई-वैदिक शिक्षण-ट्रस्ट के नाम से एक ट्रस्ट भी बन चुका है।

अल्प समयमें ही गुरुकुल ने पर्याप्त उन्नति की है गुजरात-गुरुकुल-सभा के पास अपनी संस्था के लिए निम्न-लिखित भूमि मकान आदि हैं:—

गुरुकुल भूमि २६ बीघा रु० ८०००)
आश्रम के पांच कमरे
और कार्यालय........ रु० २००००)
भोजनालय और
परिवार गृह .... रु० ३५००)
स्नानागार और
दो कूप .... रु० ३०००)

इन के अतिरिक्त अन्य साधनों को जोड़ कर कुल जायदाद लगभग ४००००) की है। इस के सिवाय बैंक में स्थिर कोष के रूप में २००००) जमा है। गुजरात में गुरुकुल शिक्षा और धर्म-प्रचार की कमी को देख कर इस का भी गु० गु० सभा शीघ्र प्रबन्ध करने का यत्न कर रही है। धर्मानुरागी और गुरुकुल-शिक्षा प्रेमी दानी महा-नुभाव इस ओर अपनी दृष्टि करके संस्था की उत्तरोत्तर उन्नति में सहायता देकर श्रेय के भागी बनेंगे।

मंत्री गुजरात-गुरुकुल-सभा

(६)

शाखा-गुरुकुल झज्झर

श्री पण्डित विश्वम्भरनाथ जी ने अफ्रीका से लौटने पर, गुरुकुल कांगड़ी की एक शाखा झज्झर खोलने का संकल्प किया। कुछ आर्य भाइयों से मिलकर रुपया एकत्रित कर शाखा खोलने की आज्ञा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब से ले ली। कार्य प्रारम्भ होते ही अकस्मात् चिन्ताओं के कारण उन्हें सदमा पहुंचा और कार्य बन्द हो गया फिर स्वामी परमानन्द जी ने

गुरुकुल रायकोट के ब्रह्मचारी तथा अध्यापकगण

पं० ब्रह्मानन्द जी से मिलकर इस गुरुकुल को १९८१ वि० से प्रारम्भ किया। इसके पास १३५ बीघे भूमि है, और बीच में एक पक्का कूप है। १५००) के पोस्ट आफिस में कैश सार्टिफ़िकेट हैं, और लगभग ८०००) पञ्जाब नेशनल बैङ्क में गुरुकुल कांगड़ी की मार्फत जमा हैं। इस समय इस शाखा में २५ ब्रह्मचारी और दो श्रेणियां हैं।

---

(७)

कन्या-गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ

गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना के समय उसकी स्वामिनी सभा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने जो गुरुकुल के नियम बनाए थे, उस में गुरुकुल की परिभाषा करते हुए लिखा हुआ है कि गुरुकुल उस वैदिक शिक्षणालय का नाम है जिसमें वे बालक वा बालिकायें, जिनका यथोचित वेदारम्भ संस्कार हो चुका हो, शिक्षा और विद्या प्राप्त करें। और, इसके नोट में उल्लिखित है कि कन्याओं के लिए जब सम्भव होगा पृथक् गुरुकुल स्थापित किया जावेगा। महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) प्रारम्भ से ही समय २ पर व्याख्यानों और लेखों द्वारा आन्दोलन करते रहे और आर्यजनता से जोरदार शब्दों में अपील करते रहे कि वह शीघ्र कन्या गुरुकुल की स्थापना में भी सहायक हों, परन्तु कुछ परिणाम न निकला। प्रभु की प्रेरणा से दानवीर स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी इस पवित्र कार्य के लिए सहायक के तौर पर आगे बढ़े। उन्होंने कन्या गुरुकुल के लिए एक लाख रुपया पहले और फिर प्रतिमास ५००) देने का संकल्प किया।

इसी महती सहायता के आधार पर आर्यप्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने २३ कार्तिक १९८० वि० [८ नवम्बर १९२. ईस्वी] को दीपावली के शुभ दिन देहली में कन्या-गुरुकुल की स्थापना की। प्रारम्भिक वर्ष में ही ८५ कन्यायें प्रविष्ट हुईं और इस समय १२५ ब्रह्मचारिणियें हैं जो सात श्रेणियों में विभक्त हैं। इस का सब प्रबन्ध गुरुकुल कांगड़ी की तरह आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के ही आधीन है। इस के प्रबन्धाध्यक्ष गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता और शिक्षाध्यक्ष आचार्य हैं। इस समय इसकी आचार्या श्रीमती विद्यावती जी सेठ बी. ए. हैं। कन्या-गुरुकुल के अन्दर काम करने वाली अध्यापिकायें आदि सब स्त्रियें ही हैं, और बाहिर के प्रबन्ध के लिए पुरुष हैं।

यह कन्या-गुरुकुल पहला है और एक ही है। इस की अभी तक किसी स्थान पर न स्थिर इमारतें बनी हैं, और न कोई अपना स्थान है। अभीतक किराये के मकानों पर ही गुजारा हो रहा है, यह बड़े दुःख की बात है। आर्यजाति को इसकी ओर ध्यान देना चाहिए, और शीघ्र इसको स्थिर रूप मे लाना चाहिए।

गुरुकुल में प्रविष्ट होते हुवे पुत्र को
पिता का उपदेश

(१)

आज से तू सूत्रधारी ब्रह्मचारी बन गया,
पालना तीखे व्रतों का पुत्र ! मन में ठन गया;
पुत्र ! विद्यापीठ तुझ को आज अनमिल मिल गया,
द्वार सच्चे ज्ञान और आचार का अब खुल गया ॥

(२)

आज से पच्चीसवें तक व्रत यही धारण करो,
वीर्य्य-रक्षा और विद्या का पठन पाठन करो;
आज से आचार्य्य के आधीन करता हूं तुम्हें,
एक दो ही बार मेरा मेल होगा वर्ष में ॥

(३)

जानते थे तुम मुझे ही जन्म-दाता आज तक,
सत्य, मैंने ही किया था देह-पोषण आज तक;
पर, तुम्हारा दूसरा यह आज विद्या-जन्म है,
पुत्र ! यह उस जन्म का दाता पिता आचार्य है ॥

(४)

पुत्र ! जब तक देह के पोषण भरण का भार था,
बस तभी तक ही पिता का पुत्र पै अधिकार था;
सौंपता हूं आज सादर मैं तुम्हें आचार्य को,
पास जिस के पावनी शिक्षा-सुधा को पा सको ॥

(५)

घर इसी आचार्य्य-कुल को पुत्र ! अपना मानलो,
आज से आचार्य्य-कुल को अपना पिता-सम जान लो,

भारती देवी तुम्हारी आज माता हो गई,
बन्धुता यह पुत्र ! सारी अब नयी ही हो गई ॥

(६)

ब्रह्मचारी जो तुम्हें बैठे यहां हैं दीखते,
ये इसी कुल में गुरु से वेद-विद्या सीखते;
आज से सब धर्मभाई ये तुम्हारे बन गये,
पुत्र ! आगे से सुनो, अब तुम इन्हीं के हो गये ॥

(७)

बैठना उठना इन्हीं के साथ होगा सर्वदा,
भोजनाच्छादन मिलेगा साथ ही इन के सदा;
दुःख सुख में अब इन्हीं के दुःखसुख निज मानना,
स्नेह से इन बन्धुत्रों के साथ रहना, देखना ॥

(८)

पुत्र ! शोकातुर न होना याद कर घर के भले,
ये नये बन्धू तुझे अपने लगावेंगे गले;
शील शिक्षा के लिये रहना ज़रूरी है यहां,
उन्नती पूरी तुम्हारी हो नहीं सक्ती वहां ॥

(९)

वायु जल था हानिकारी पुत्र ! रहते थे जहां,
पुष्प-सौरभ से भरी पावन पवन चलती यहां;
पर्वतों की रम्य हरियाली मनोहर थी कहां ?
क्या विनिर्मल जान्हवी की शीत धारा थी वहां ?

(१०)

द्वेष की सत्ता नहीं, पर, प्रेम का संचार है,
दुर्गुणों के स्थान में निर्व्याज सत्याचार है;
दिव्यशोभा का यहां चारों दिशा विस्तार है,
पुत्र ! पहिले से निराला ही यहां संसार है ॥

(११)

शील का आगार, विद्या का यहां आवास है,
ज्ञान की चर्चा निरन्तर, शास्त्र का अभ्यास है;
द्वार रत्नों की निरामय खान का मानो मिला,
रत्नसंग्रह कर सको जितना, करो उतना खुला ॥

(१२)

पुत्र ! कैसे हों नियम इस दिव्य विद्यावास के,
बर्तना वैसे, न कोई दोष जिस से दे सके,
मानना आदेश होगा सर्वदा आचार्य का,
कौन शासन, आप आज्ञा पालने बिन कर सका ? ॥

(१३)

वेश सादा, और सात्विक यान पानाहार है,
सादगी ही ज्ञानियों को शोभता शृङ्गार है;
कष्ट को झेलो, यही सच्चे बलों का धाम है,
पुत्र ! तप बिना मिलता कहां आराम है ॥

(१४)

लाड़ के ही साथ पाला था तुम्हें हमने वहां
दोष करने पर परन्तू दण्ड भी होगा यहां;
आदि में शासन गुरू का यद्यपि लगता बुरा,
पर वही परिणाम में देखा गया अमृत भरा ॥

(१५)

लोभ मोह क्रोध आदि दुर्गणों को छोड़ दो,
शील की रक्षा करो, अज्ञान मुद्रा तोड़ दो;
सत्य का आधार लो, मिथ्या कभी करना नहीं,
पाप से इस भूमि को दूषित कभी करना नहीं ॥

(१६)

खेलने को जो समय मिलता यहां थोड़ा नहीं,
चित्त-रञ्जन के लिये सामान का तोड़ा नहीं;
पुत्र ! केवल खेल का पर अब जमाना होगया,
खेल के अब साथ विद्या का समय भी आगया ॥

(१७)

ब्रह्मचर्याचार ही सब शक्ति का आधार है,
नींव है यह आश्रमों की, मृत्यु का संहार है;
ऐहिकामुष्मिक सुखों का पुत्र ! सच्चा द्वार है,
शास्त्र में विख्यात इस की कीर्त्ति अपरम्पार है ॥

(१८)

अन्त में मेरा यही सच्चा तुम्हें उपदेश है,
पालना व्रत को यथाशक्ती, यही आदेश है;
पुत्र ! आए हाथ अवसर को वृथा खोना नहीं,
बन्धुओं की आश सारी को वृथा करना नहीं ॥

(१९)

देवगण जो यज्ञ शाला में उपस्थित हैं यहां,
सामने उन के प्रतिज्ञा आज जो की है महां,
पालने में ध्यान देना पुत्र ! उस के सर्वदा,
दीनबन्धू स्नेहसिन्धू साथ देंगे वे सदा ॥

(श्रीकण्ठ)

महात्मा गुरुकुल और मिस्टर कालेज

की बातचीत

(लेखक— श्रीयुत श्रीपादराव सातवलेकर जी)

एक समय महात्मा गुरुकुल जी महाराज अन्य भूमण्डलों पर अपना कार्य समाप्त करके हमारी भूमि पर पुनः सञ्चार करने के लिए यहाँ पधारे। जब प्राचीन आर्षकाल में म० गुरुकुल जी अपने विद्या फैलाने का पवित्र कार्य किया करते थे, उस समय आश्रम निवासी ब्रह्मचारियों के वेदघोष से कानन गूंजा करते थे। परन्तु अब वह समय नहीं रहा। इस समय गुरुकुलों का स्थान कालिजों ने ले लिया है, जिन्होंने वनों की खुली पवित्र वायु को छोड़कर नगरों की गन्दी वायु में निवास करने को अधिक पसन्द किया है। यह देख कर म० गुरुकुल जी अत्यन्त दुःखित हुए। वनों से आगे बढ़कर जब उनकी दृष्टि नगरों के लोगों पर पड़ी तो बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि क्या ये लोग उन्हीं आर्यों की सन्तान हैं, जो इतने हृष्ट पुष्ट और बलिष्ठ होते थे। इन लोगों के नये रंग ढंग, विचित्र बोली और विचित्र पोशाक को देखकर उन्हें और भी चकित होना पड़ा। पूछताछ करने पर म० गुरुकुल जी को पता लगा कि यह सब नयी रोशनी का प्रभाव है, जिसके ठेकेदार मि० कालिज का आजकल इस देश में बड़ा प्रभुत्व है। मि० कालिज का निवास स्थान पूछते हुए म० गुरुकुल अंधेराबाद पहुंचे। वहाँ पहुंच कर म० गुरुकुल, मि० कालिज से मिले और उनके मध्य में जो बातचीत हुई, उसे हम यहाँ प्रकाशित करते हैं:-

महात्मा गुरुकुल— नमस्ते, महाशय!

मिस्टर कालिज— गुड मार्निङ्ग! तुम कौन हो? तुम जंगली लोगों का यहाँ क्या काम है?

म० गुरुकुल— आप नगरवासी लोगों की सेवा के लिए हम उपस्थित हुए हैं।

मि० कालिज— तुम लोगों का यहाँ कुछ काम नहीं है। हमारी सिटी लाइफ़ में तुम क्या कर सकते हो? यह हमारी युनिवर्सिटी है, यह लायब्रेरी, यह टौन हाल, इत्यादि कई इन्स्टिट्यूशन्स हमने खोल रखे हैं, यहाँ जंगली लोगों का क्या काम है?

म० गुरुकुल— ठीक है महाशय ; यह तो सब कुछ अच्छा है, पर यह तो बताइए कि आपने जो जो कार्य यहाँ किये हैं, उनसे लोगों की आयु और आरोग्यता बढ़ी है या घटी है ?

मि० कालिज — आयु के साथ हमारा क्या कनेक्शन है ? तुम ऐसे प्रश्न पूछकर हमारा टाइम क्यों खराब करते हो ? गुड फार नथिंग फैलो !

म० गुरुकुल— यदि आयु और आरोग्यता के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं तो तुम्हारा किसके साथ सम्बन्ध है ?

मि० कालिज -- हमारा सिविलाइज़ेशन के साथ सम्बन्ध है ; लोगों को हम सिटिज़न बनाना चाहते हैं ।

म० गुरुकुल— महाशय जी ! क्षमा कीजिए, शताब्दियों तक पूर्वकाल में मैं यहाँ कार्य करता रहा था और उस समय हमने भी लोगों को नागरिक बनाया था। परन्तु उस समय लोगों की आयु, आरोग्यता, तेजस्विता आदि बातों में ऐसी अवनति न थी। लोग प्रायः पूर्णायुषी होते थे। अनेक शास्त्रों में प्रावीण्य संपादन करते हुए भी आरोग्य-सम्पन्न रहते थे। परन्तु इस तुम्हारी नयी प्रणाली से इन आवश्यक बातों में अवनति दीखती है।

मि० कालिज— नान्सेन्स, ऐसी बातें करने के लिए मेरे पास टाइम नहीं है, अब मुझे क्लब में जाना है।

म० गुरुकुल— महाशय जी ! आपका भी तो चेहरा सिकुड़ गया है ! आप थोड़ा सा हमारे साथ भ्रमण करेंगे तो अच्छा होगा। कृपा करके आइए, मेरे साथ इस पहाड़ पर चलिए, वहाँ इसी विषय में बातें करेंगे।

मि० कालिज— मेरी हैल्थ बहुत वर्षों से बिगड़ी हुई है, देर से डिस्पेप्सिया सता रहा है, परन्तु क्या किया जावे अपनी ड्यूटी तो करनी ही पड़ती है। अब समय होचुका है, आज डा० 'किक डैथ' साहिब का फ़िज़िकल कल्चर पर हमारे 'बिग व्हेल क्लब' में लेक्चर होगा, वहाँ मुझे प्रिज़ाइड करना है, इसलिए अब मैं तुम्हारे साथ घूमने नहीं जा सकता।

म० गुरुकुल— आप अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना नहीं जानते तो औरों को वहाँ जाकर आप क्या उपदेश देंगे ?

मि० कालेज— तुम मेरा इन्सल्ट करते हो, तुम ज्यादा बकवाद करोगे तो इस पुलिस के हवाले तुम को कर दूँगा।

इतनी बातचीत होने पर 'बिग व्हेल क्लब' का चपरासी मोहम्मद खाँ आ पहुंचा और उसने मि० कालिज को सूचना दी कि आज डाक्टर साहिब का लेक्चर नहीं हो सकता, क्योंकि सर्द हवा के कारण उनको जुकाम होगया है।

म० गुरुकुल— महाशय जी! देखिए, आपकी प्रणाली से स्वास्थ्य की यह दुर्दशा हुई है।

मि० कालिज— तो क्या तुम्हारे सिस्टम से ठीक हो सकती है?

म० गुरुकुल— अवश्य ठीक होगी। आपने जो बिगाड़ किया है, उस के सुधार का हम पूरा प्रयत्न करेंगे। परन्तु कृपया यह तो बताइए कि आप अपनी भाषा में 'इन्सल्ट' 'सिस्टम' आदि शब्दों को मिलाकर उसे खिचड़ी भाषा क्यों बनाते हैं? क्या आपकी भाषा में इनके लिए शब्द नहीं हैं?

मि० कालिज— [कुछ लज्जित होकर] क्या करें भाई! आज कल का यही फैशन समझा जाता है। अच्छा आगे से शुद्ध भाषा बोलने का प्रयत्न करूँगा।

म० गुरुकुल— अच्छा, तो हमारे साथ पहाड़ पर घूमने चलिएगा?

मि० कालिज— चलो, आज तुम्हारे साथ ही घूमने के लिए आवेंगे। परन्तु कमज़ोरी के कारण मैं बहुत दूर तक नहीं जा सकूंगा।

म० गुरुकुल— सुनिए, महाशय जी! शहर की हवा बहुत बिगड़ी हुई होती है, परन्तु वन की हवा शुद्ध और पवित्र होती है। इसलिए मेरा कथन यह है कि सब विद्यार्थियों को न्यून से न्यून २५ वर्ष की आयु तक नगरों से दूर, वन की खुली वायु में रख कर विद्याध्ययन करवाना चाहिए।

मि० कालिज— रहना तो सब लोगों ने शहरों में ही है, फिर विद्यार्थियों को पहले से ही शहरों में क्यों न रखा जावे! इसमें हानि क्या है?

म० गुरुकुल— इसमें बड़ी भारी हानि है। देखिए, २५ वर्ष तक शरीर की वृद्धि का समय है, यदि उस समय गन्दी वायु और बुरे प्रभावों के कारण उसकी वृद्धि में रुकावट पड़ेगी तो जन्मभर के लिये स्वास्थ्य बिगड़ जावेगा।
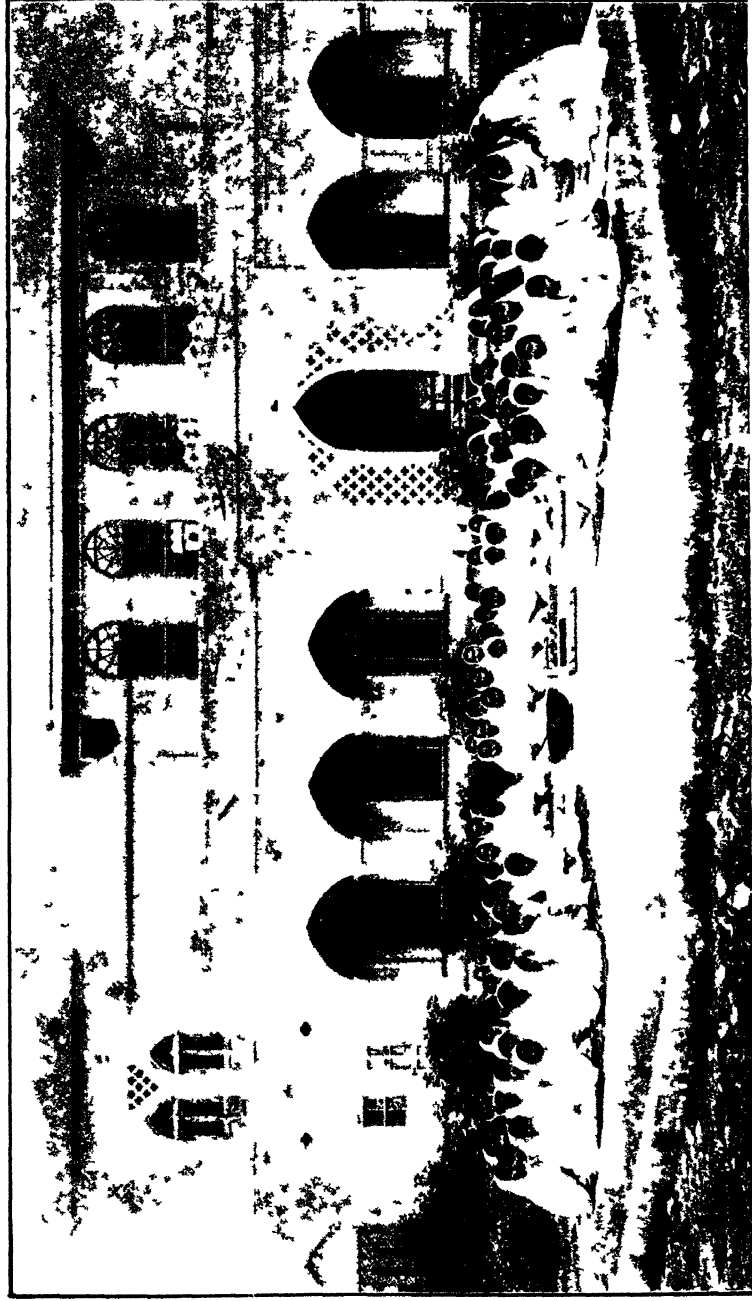
कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की ब्रह्मचारिणियें।

परन्तु यदि पूरी शारीरिक उन्नति के पीछे विद्यार्थी शहर मे रहेंगे तो कोई बड़ी हानि न होगी।

मि० कालिज— इस प्रकार तो माता पिताओं से लड़के दूर हो जावेंगे ?

म० गुरुकुल— अवश्य होंगे, और अवश्य होने चाहियें। आठ वर्ष की आयु तक लड़के माता पिता के पास रहें, तत्पश्चात् वे राष्ट्र के अतिथि बनाए जावेंगे। पच्चीस वर्ष तक विद्यार्थियों की रक्षा करना, उनके माता पिता का काम नहीं प्रत्युत राष्ट्र का कर्तव्य है।

मि० कालिज— आप क्या बोल रहे हैं, हमारे ध्यान में नहीं आता। विद्यार्थी लोग राष्ट्र के अतिथि कैसे हो सकते हैं ?

म० गुरुकुल— महाशय जी ! ध्यान दीजिए। हमने तो आयुष्य के चार भाग किए हैं। मनुष्य की आयु १०० वर्षों से १२० तक······

मि० कालिज— महात्मा जी ! आप कब की बात करते हैं ? इस समय तो ४० वर्ष तक ज़िन्दा रहना भी कठिन होता है।

म० गुरुकुल— यह मैं जानता हूं। हमारी प्राचीन व्यवस्था टूट जाने से ही तो आयु, शक्ति और तेजस्विता घटने लगी है। यदि हमारी प्रणाली पुनः चलेगी तो बराबर मनुष्य पूर्ण आयु वाले होंगे। अस्तु 'शतायुर्वै पुरुषः' यह साधारण मान है। चार विभाग करके पहले विभाग में ब्रह्मचर्य, दूसरे विभाग में गृहस्थ, तीसरे में वानप्रस्थ और चौथे में सन्यास—ये चार आश्रम निश्चित किए गये हैं। गृहस्थाश्रमी लोग ही नागरिक होते हैं। ब्रह्मचारी लोग वन में रह कर विद्याध्ययन करते हैं। वानप्रस्थी लोग वन में रह कर ब्रह्मचारियों को पढ़ाते हैं। इन दोनों आश्रमवासियों की पालना राष्ट्र का काम है। ये लोग राष्ट्र के अतिथि हैं। अब रहा सन्यासाश्रम, सन्यासी लोग सब राष्ट्रों के साथ एकसा संबन्ध रखते हैं। निष्पक्षपात होकर सब के हितार्थ उपदेश करना इनका काम है।

मि० कालिज— महाराज आप तो ख़याली दुनियाँ में सञ्चार कर रहे हैं। क्या कभी ऐसी व्यवस्था हो सकती है ?

म० गुरुकुल— प्राचीन काल में आर्यावर्त में ऐसी ही व्यवस्था थी, और आप सब लोग ध्यान देंगे तो आगे भी हो सकती है। बचपन से बुढ़ापे तक शहरों में रहने से शरीर मन बुद्धि, तीनों का विकाश नहीं होता। इसके लिए आप अपना ही उदाहरण देखिए, आपका स्वास्थ्य खराब होने का यही कारण है।

मि० कालेज— जो आप कहते हैं, वह सब प्रतीत तो ठीक ही होता है। आज एक दिन शुद्ध वायु का सेवन करने से मुझे उत्साह विदित हो रहा है।

म० गुरुकुल— ऐसी शुद्ध वायु यदि विद्यार्थियों को सर्वदा मिले तो अवश्य उनका स्वास्थ्य ठीक ही रहेगा। आरोग्य ठीक रहने से विद्या भी बहुत प्राप्त हो सकती है।

मि० कालेज— गुरुजी! जो आप कहते हैं, वह सब ठीक है, मैं आज से आपका सहायक बनता हूं।

म० गुरुकुल— जो हमारा उद्देश्य है, वह आपका भी है। विद्या के प्रचार करने में हम दोनों सहमत हैं, यदि आप अपनी सब शक्ति इस ओर लगावें तो देखिए थोड़े ही काल में आरोग्यता, विद्वत्ता, तेजस्विता और सदाचार आदि गुणों का साम्राज्य सर्वत्र हो जावेगा।

मि० कालेज— मैं आज से आपका अनुगामी बनता हूं और मैं अपना तन मन धन, सब कुछ गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के प्रसार में लगा दूंगा।

इतनी बात चीत होने पर दोनों आनन्द से "सहनावतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै" यह मंत्र गाने लगे। आशा है सब पाठकगण ऐसा ही निश्चय करके अपनी सन्तति को गुरुकुल में भेजेंगे।

मेरा स्वर्ग

(१)

चलो यहां से चलें वहां हम जहां क्लेश का हो न उड़ान।
पूरण सुख ही फैल रहा हो, रहता मधुर जहां मुस्क्यान॥

(२)

झूम रहीं हों जहां लतायें खिलीं बसन्तीं कलियाँ जान।
भौंरों की मीठी रागिनियां उठें प्रेम का करती गान॥
करती हो निज नवल चमेली फूलों भरी मधुर आह्वान।
हो वसन्त ऋतु छाई जिस में आठों पहर महीनों जान॥

किंशुक फूले हुए जहाँ हों, सीमल के हों पेड़ महान।
कोयल जिस के वन में छिप कर बैठी मधुर मधुर ले तान ॥ चलो०

(३)

मलयाचल की पवन चले जहँ शीतल कोमल-सौरभवान।
यज्ञ धूम से हुआ सुगन्धित जिसका हो सारा उद्यान ॥
मृग-शावक रोमन्थ कर रहे जहां करें निर्भय विश्राम।
पक्षी वृन्द जहाँ प्रमुदित हो मान करें जगदीश्वर नाम ॥
विस्तृत हों मैदान घास के गौएँ चरती हों बलवान।
टपक रहा हो दूध थनों से बछड़े करते हों तब पान ॥ चलो०

(४)

"मोहन" चलो उसी उपवन में रहने दो पीछे का ध्यान।
जहाँ उठें तूफान अनोखे आंधी दे जीवन का दान ॥
सामगान हो नित्य सवेरे कोकिल-कुल हों देते तान।
छोटे छोटे बालक बैठे करें जहां पर प्रभु का ध्यान ॥
जहाँ मिलें उपदेश धर्म के जीवन का नित हो कल्याण।
विषयवासना छूटें सारी हों शरीर से भी बलवान ॥ चलो०

(५)

पापकर्म का ध्यान जहां पर कभी न आता हो सच जान।
आंखों से मधु बरस रहा हो जहां हृदय का हो उत्थान ॥
कहीं कुटी हो बनी और कहिं बने हुए हों भवन महान।
जँह वशिष्ठ और गौतम जैसे ऋषि रहते हों पूरन काम ॥
जहाँ क्षीर की नदियां बहतीं मीठे पकते हों पकवान।
ले चल वहां यहां से मुझ को जल्दी हे मेरे भगवान ॥ चलो०

(६)

जहां रोग का नाम न हो और जहां न भय का हो कुछ भान।
ओत प्रोत हो जहां सरलता, पावें छोटे भी सन्मान ॥

जहां सङ्ग हो खाना पीना नित्य जहां हो मिल कर गान।
तप हो, व्रत हो, नियमधर्म हो जहाँ सत्य का हो सन्मान ॥
जहाँ स्वार्थ का नाम न हो बस सेवा होती हो निष्काम।
पैसा तक भी पास नहीं हो फिर भी हो आनन्द निकाम ॥ चलो०

(७)

घण्टे का हो नियत नाद जहँ तो हो जावें पुलकित प्राण।
ऊंच नींच का भेद जहाँ से भाग गया हो लेकर जान ॥
हो समानता सब में ऐसी जैसी वन में लक्ष्मण राम ।
जहाँ शोक का काम न हो कुछ और न हो धन का शुभ नाम ॥
जहाँ वीरपूजा नित होती सच्चे ब्राह्मण का हो मान।
सन्यासी को सीस झुकाते दीखें सारे वृद्ध जवान ॥ चलो०

(८)

चोरी, ठगी, विषय लोलुपता जहाँ न पा सकतीं हों स्थान।
गायत्री का जप करता हो सबका पूरा ही कल्याण ॥
कोई ब्रह्म-विचार करें जहँ, कोई नित्य चलावें बान।
कोई कृषक बने हों, सेवा कोई करते हों हर आन ॥
गङ्गा की धारा, बस आकर जिसे कराती हो नित स्नान।
जहाँ न दुख का लेश, करें अब हम भी वहीं शीघ्र प्रस्थान ॥ चलो०

(९)

मित्रों को भी संग ले चलें, चलें करें सत्वर प्रस्थान ।
पुण्य हिमालय ऊपर है जहँ, नीचे है गङ्गा का स्थान ॥
रहते जहां जगत के नामी स्वामी "श्रद्धानन्द" महान ।
स्वर्गलोक के देव सदा हैं जिनका करते गुणगण गान ॥
हे हृदयेश महेश्वर ! अब तो दूभर लगता है यह स्थान।
वहां उड़ा कर ले चल, तेरा जो है शान्त मनोहर धाम ॥ चलो०

पं० विद्याधर विद्यालंकार 'मोहन'

विद्वानों की दृष्टि में गुरुकुल

ब्रिटिश साम्राज्य के भूतपूर्व प्रधान सचिव रेम्जे मैग्डानल्ड - भारतीय शिक्षा में गुरुकुल एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण वस्तु है। १८३५ में लार्ड मैकाले ने भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी सम्मति लिखी थी। तब से आज तक भारतवर्ष में शिक्षा के लिये जो यत्न किये गये हैं उन में यह विद्यालय सब से अधिक गौरवयुक्त यत्न है। मैकाले को सम्मति के परिणामों से भारतवर्ष में प्रायः सब लोग असन्तुष्ट हैं, किन्तु उस असन्तोष को सिवा गुरुकुल के चलाने वालों के और किसी ने काय में परिणत नहीं किया।

*　　*　　*　　*

श्रीयुत लार्ड मेस्टन भूतपूर्व लाट साहिब युक्तप्रान्त--इस आश्चर्यजनक मनोरञ्जक तथा उत्तेजक संस्था को देखने के लिए आना मेरे लिये बड़ा परितोष-दायक सिद्ध हुआ। यहां अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर तपस्वियों का एक समुदाय देखने में आता है जो प्राचीन ऋषियों की प्रणाली को वर्तमान वैज्ञानिक रीति के साथ मिला कर वस्तुतः गुजारे मात्र पर काम कर रहे हैं। यहां के विद्यार्थी पुष्ट शरीर आज्ञाकारी, पर सच्चे राजभक्त, कार्यपरायण तथा प्रसन्न हैं, और इनका पालन पोषण अच्छी तरह किया जाता है। एक बात मैंने यहां और भी देखी है। मुझे शोक है कि जहां दौर्भाग्यवश हमारे स्कूलों और कालिजों में तीन के पीछे एक विद्यार्थी के ऐनक लगी होती है, वहां गुरुकुल में २० में एक के ऐनक लगी है। यह गुरुकुल मेरे लिए आदर्श शिक्षणालय है।

*　　*　　*　　*

कलकत्ता युनीवर्सिटी कमीशन के प्रधान डा० सेडलर महोदय--आपकी संध्या की प्रार्थना इस प्रकार की सार्वभौम है कि उस में बिना किसी परिवर्तन के सब मत और साम्प्रदायों के अनुयायी हार्दिक एकता और धार्मिक भाव से शामिल हो सकते हैं।

मैं समझता हूं कि जिस शिक्षा-विधि में मातृभाषा को प्रथम और सब से पूज्य स्थान दिया गया है, वहां संभव है कि चित्त का स्वतंत्र विकास होकर मानसिक वृत्तियों तथा भावों पर प्रभुत्व प्राप्त हो और उच्च आकांक्षाओं को ओजस्वी शब्दों में प्रकट करने की योग्यता प्राप्त हो।

भारत महामंत्री के भूतपूर्व प्राइवेट सैक्रेटरी श्रीयुत किश महोदय—प्रबन्ध के साधनों की पूर्णता, कार्यकर्ताओं की सरलता और ब्रह्मचारियों की प्रत्यक्ष प्रसन्नता से मुझ पर इतना अधिक प्रभाव डला है कि मैं उसको इन थोड़ी सी पंक्तियों में वर्णन नहीं कर सकता।

* * * *

सर्वेण्ट आफ इण्डिया सोसायटी के प्रधान श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री महोदय—कोई भी हिन्दु ऐसा नहीं हो सकता जिसको गुरुकुल के साथ प्रेम न हो, क्योंकि यह भिन्न २ शिक्षा विषयक हिन्दु-विचारों तथा उद्देश्यों को अपने साथ रखता है, और इसके साथ ही सनातन काल के गुरु तथा शिष्य के पवित्र सम्बन्ध को पुनर्जागृत करता है। मैं देखता हूँ कि ब्रह्मचारियों की सब आदतें सादी हैं। जो सामान ये उपयोग में लाते हैं, वह भी यदि कठोर नहीं तो सादा अवश्य है। मैं समझता हूं कि ब्रह्मचारियों की नित्यप्रति की आदतें सर्वथा नियमित हैं, और वे लगभग कठिन तपस्या के समीप २ पहुँचती हैं। इस प्रकार की अवस्थाओं में शिक्षा का सफल और कृतकृत्य होना आवश्यक ही है।

———*———

ऋषि के जीवन का एक पृष्ठ

(ले०—श्रीयुत् प्रेमचन्द बी० ए०)

यों तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द ने देश और समाज के हितों की रक्षा के लिए अपना जीवन ही अर्पित कर दिया था, पर उन में सब से बड़ा गुण जो था वह उन की अपूर्व शालीनता थी। उन्होंने जाति सेवा के लिए जो मार्ग निश्चित किया था उस में अन्य मत वालों से मतभेद होना अनिवार्य था, लेकिन सिद्धान्तों के भेद को उन्होंने कभी अपने सौजन्य पर आधिपत्य न जमाने दिया। यही कारण है कि मुसलिम नेताओं में भी शायद ही कोई ऐसा हो जिस ने मुक्त कंठ से आप की कीर्ति का अनुमोदन न किया हो। हिन्दुओं के क़लम से अब तक आप के गुणानुवाद और शोक में हज़ारों लेख निकल चुके हैं, लेकिन एक सच्चे सहृदय मुसलिम के क़लम से इस विषय में जो लेख निकला है वैसा अब तक किसी हिन्दू ने नहीं लिखा। लेख क्या है एक भक्त की श्रद्धांजलि है, जिसके एक २ शब्द में लेखक के विशुद्ध भाव झलक रहे हैं। यह लेखक दिल्ली निवासी मि० आसफ् अली, बार-एट-ला हैं। आप का लेख इसी महीने के हिन्दुस्तान रिव्यू में छपा है। उस को

पढ़ने से ज्ञात होता है कि राष्ट्रवादी मुसलिमों को भी आप से कितना प्रेम था। और उस प्रेम का क्या कारण था? यही कि स्वामी जी की स्वाभाविक मृदुता, सौम्यता और शालीनता कभी उन का साथ नहीं छोड़ती थी। उनका हृदय निष्कपट था, उसमें क्षुद्रता के लिये स्थान ही न था। आप स्वामी जी के सामाजिक और धार्मिक कृत्यों का उल्लेख करने के बाद लिखते हैं—

"सन् १९१८ में जब दिल्ली में पहली वार कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो स्वामी जी स्वागत—कारिणी समिति के उपप्रधान चुने गए थे। मैं भी सहकारी मन्त्री था और मुझे स्वामी जी के साथ काम करने का उस समय बहुत अवसर मिला। आपकी स्नेह-मय उदारता, अपूर्व सज्जनता, नम्रता और निष्कपट मैत्री ने शीघ्र ही मुझे वशीभूत कर लिया। उन की गुरु-जन सुलभ सौम्यता और स्नेह और मेरी ओर से भक्ति और सम्मान के भावों ने हमारे बीच में एक ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया जो अनेक विषयों पर हम में तात्विक विरोध होने पर भी अन्त समय तक बना रहा"।

सन १९२२ में मियाँवाली जेल में लेखक महोदय की स्वामी जी से फिर भेंट हुई, जिन की सज़ा के अब थोड़े ही दिन और बाकी रह गए थे। ज्योंही आप को मालूम हुआ कि स्वामी जी वहां हैं—"मैं उन की कोठरी की ओर बेतहाशा दौड़ पड़ा। स्वामी जी ने दोनों बाँहें फैला कर मेरा अभिवादन किया और बड़े स्नेह से मुझे गले लगाकर अपने पास बैठा लिया।"

मियाँवाली जेल में भी स्वामी जी गीता, रामायण या दर्शन पर उपदेश दिया करते थे। क़ैदियों को जिस सत्संग का शुभ अवसर और कहीं न मिल सकता वह इस जेल में हाथ आता। प्रेमियों की एक मण्डली रोज़ जमा हो जाती थी। मौलाना आसफ़ अली ने स्वामी जी से गीता रहस्य माँग कर पढा और जब कभी उन्हें कोई शंका होती स्वामी जी बड़े हर्ष से उसे समाधान कर देते थे। कभी राजनीति पर बात चल पड़ती, कभी दर्शन पर, और कभी फ़ारसी साहित्य पर। स्वामी जी फ़ारसी साहित्य के बड़े अच्छे मर्मज्ञ थे। मौलाना रूम की मसनवी से आप को बहुत प्रेम था।

मौलाना आसफ़अली का स्वास्थ्य उन दिनों कुछ अच्छा न था। शरीर में रक्त की कमी थी। चेहरा पीला पड़ गया था। स्वामी जी को उन की दशा देख कर चिन्ता हुई। वाह! कितना सच्चा वात्सल्य भाव था। खुद जेल में थे, सभी प्रकार के कष्ट सह रहे थे, पर मौलाना आसफ़ अली की यह दशा देख कर आपने उन के लिये एक दूसरी कोठरी चुन दी जिस में धूप और प्रकाश

स्वच्छन्द रूप से मिल सकता था। उन के आहार के संबंध में भी जेलर से सिफ़ारिश कर दी, जो स्वामी जी का बहुत लिहाज़ करता था। यह सद्व्यवहार था, यह सज्जनता थी, जो परिचितों को भी उन का भक्त बना देती थी।

हम आज उस उपदेश को भूले जा रहे हैं जिस का सजीव उदाहरण ऋषि श्रद्धानन्द का जीवन था। हम आज मुसलमानों को 'बरबर' कहते नहीं थकते। एक व्यक्ति की परिवर्तित मानसिक वृत्ति से उत्तेजित हो कर समस्त जाति को "वहशी" और "बरबर" और न जाने क्या क्या कह रहे हैं। पर उसी वहशी और बरबर जाति का एक व्यक्ति ऋषि का अन्त समय तक चिकित्सक था। उसी वहशी और बरबर जाति के व्यक्तियों से ऋषि की मित्रता थी। अबदुल रशीद जैसे दीवाने किस समाज, किस देश और किस जाति में नहीं हैं या नहीं थे? और अगर हमारे समाचार पत्रों का औधत्य इसी भाँति दिन दूना रात चौगुना बढ़ता रहा तो ऐसी दुर्घटनाओं की शंका भी उसी अनुपात से बढ़ती जायगी। विद्वेषात्मक भाषा और भावों का सम्पादन करके आज तक किसी धर्म सम्प्रदाय या जाति ने कीर्ति और यश नहीं पाया है और न कभी पावेगा। किसी धर्म की श्रेष्ठता उस के अनुयायियों के सदाचार, सेवा और सद्वृत्ति में है, गालों और फक्कड़ बाज़ी में नहीं। ऋषियों को कलंकित करने वाले, निष्ठाहीन, उत्तरदायित्व हीन, विवेकहीन युवकों को जब हम धर्म के नाम पर लट्ठ लिए देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि भगवन्, इस धर्म की लाज अब तुम्हारे हाथ है, अब तुम्हीं इसकी रक्षा करना। हम में खुद क्या क्या कमजोरियां हैं जिन के कारण हमारी यह दुर्गति हो रही है पहले उनका सुधार कीजिए। मुस्लिम इतिहास की जाँच परताल और मुसलिम महात्माओं की जीवन चर्या लिखने के लिए जो क्षमता, जो सहनशीलता, जो निर्पेक्षता चाहिए वह बड़े स्वाध्याय, मनन और बड़े सौहार्द्य से प्राप्त होती है।

गुरुकुल द्वारा उत्पन्न साहित्य

साहित्य की उन्नति करना गुरुकुल के उद्देश्यों में से एक है। इस अंग की पूर्ति के लिये भी गुरुकुल की ओर से प्रयत्न हुवा है। अब तक यहां से बहुत सा साहित्य प्रकाशित हो चुका है। पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने की तरफ भी गुरुकुल तथा उसके स्नातकों ने ध्यान दिया है। अब तक जो पुस्तकें

प्रकाशित हुई हैं, या शीघ्र होने वाली हैं, उनको संक्षेप से वर्णन करना उपयोगी होगा।

गुरुकुल से संस्कृत व्याकरण और साहित्य विषयक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संस्कृत का प्रायःसारा ही कोर्स गुरुकुल से निकल चुका है। प्रारम्भिक श्रेणियों में पढ़ाई जाने वाली संस्कृत प्रवेशिका, संस्कृत पाठावलि, बालनीति कथा माला, संस्कृताकुर, काव्यलतिका आदि पुस्तकों के सिवाय उच्च संस्कृत पुस्तकें भी गुरुकुल से प्रकाशित हुई हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य में शृङ्गार रस प्रधान है। इस लिये उसे निःसङ्कोच रूप से विद्यार्थियों के हाथ में नहीं दिया जा सकता था, इस कमी को पूरा करने के लिये गुरुकुल ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है। इसी उद्देश्य को सन्मुख रख कर हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, रघुवंश, साहित्यदर्पण आदि पुस्तकों के संशोधित संस्करण गुरुकुल ने छपाये हैं। साथ ही महाविद्यालय विभाग में पढ़ाने के लिये 'साहित्यसुधा संग्रह' तीन भाग (बिन्दु) गुरुकुल प्रकाशित कर चुका है और शेष चौथा भाग भी छपने वाला है। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याकरण की शिक्षा पद्धति को ध्यान में रख कर गुरुकुल ने अष्टाध्यायी का एक बहुत ऊँची कोटि का भाष्य प्रकाशित किया है, और एक सरल अष्टाध्यायी, महाभाष्य लिखवाया जारहा है, जो शीघ्र ही मुद्रणालय में दे दिया जावेगा। इन के सिवाय अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति, महाभारत आदि के भी गुरुकुल ने संस्करण निकाले हैं।

गुरुकुल से इतिहास, विज्ञान आदि के भी बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हुवे हैं। बाह्य यूनिवर्सिटियों के एफ. ए. स्टैण्डर्ड तक का उत्तम कोर्स गुरुकुल से निकल चुका है। मा० गोवर्धन जी तथा पं० महानुनि जी विद्यालंकार ने विद्यालय विभाग के लिये भौतिकी तथा रसायन शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे हैं। और यहां के भूत पूर्व उपाध्याय प्रो० महेशचरण सिंह की 'हिन्दी केमिस्ट्री' विद्यालय विभाग के लिये विज्ञान का उत्तम ग्रन्थ है। प्रो० रामशरणदास-सक्सेना ने महाविद्यालय विभाग की दो कक्षाओं के लिये गुणात्मकविश्लेषण पर उच्च कोटि का ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ छप चुका है। यद्यपि इन ग्रन्थों की अभी हिन्दी जगत में बिक्री बहुत कम है फिर भी प्रभूत व्यय कर के वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित करने में गुरुकुल विशेष रूप से उद्योग कर रहा है।

आचार्य रामदेव जी ने भारत के प्राचीन इतिहास पर दो प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। हिन्दी साहित्य में इनकी बहुत कदर हुई है। पहले भाग की सात हजार प्रतियां बिक चुकी हैं और दूसरे भाग के पहले संस्करण में ३ हजार प्रतियां छपाई

गई' हैं। आचार्य रामदेव जी ने पुराणों का विशेष रूप से अनुशीलन कर के 'पुराणमत पर्यालोचन' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है। गुरुकुल के भूतभूर्व उपाध्याय डा० बालकृष्ण जी ने भारतीय इतिहास पर दो पुस्तकें लिखी हैं, जो अनेक शिक्षणालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में रखी गई हैं। उन्हों ने अर्थशास्त्र, शासन व्यवस्था आदि विषयों पर भी अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। गुरुकुल के भूतपूर्व उपाध्याय प्रो० साठे ने विकासवाद पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है जो कि गुरुकुल की तरफ से प्रकाशित किया गया है। इसी तरह प्रो० सुधाकर जी ने 'मनोविज्ञान' महत्व पूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिस पर कि उन्हें मङ्गला प्रसाद पारितोषक मिल चुका है।

वैदिक साहित्य के अनुसन्धान के लिये भी गुरुकुल से बहुत उद्योग हुवा है। यहां के उपाध्याय प्रो० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार ने निरुक्त का वेदार्थ दीपक भाष्य दो भागों में प्रकाशित किया है। यह भाष्य बहुत विद्वत्ता पूर्ण और प्रमाणिक है। इसी तरह उपाध्याय विश्वनाथ जी ने 'अथर्ववेद का स्वाध्याय' 'वैदिक जीवन' आदि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। आर्यसमाज के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं०शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ गुरुकुल में बहुत समय तक अध्यापक रह चुके हैं और उनकी अनेक पुस्तकें गुरुकुल से ही प्रकाशित हुई हैं। इसी तरह पं० श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर का गुरुकुल से घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनकी बहुत सी पुस्तकें गुरुकुल से ही प्रकाशित हुई हैं।

गुरुकुल के स्नातकों ने हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिये बहुत कार्य किया है। प्रत्येक चार स्नातकों में से एक ग्रन्थ लेखक है। बहुत से लेखकों के ग्रन्थ अभी मुद्रित व प्रकाशित न हुवे हैं। यदि अप्रकाशित ग्रन्थों को भी ध्यान में रखा जावे, तो प्रत्येक तीन स्नातकों में से एक ग्रन्थ कार है। हम कुछ स्नातकों द्वारा लिखी प्रसिद्ध पुस्तकों की सूचि यहां पर देना पर्याप्त समझते हैं—

पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति—

१ नैपोलियन बोनापार्ट
२. प्रिंस बिस्मार्क
३ महावीर गैरीबाल्डी
४. स्वर्ण देश का उद्धार (नाटक)
५. आर्यसमाज का इतिहास

प्रो. डा० प्राणनाथ जी विद्यालंकार

१. राजनीति शास्त्र
२. राष्ट्रीय आय व्यय शास्त्र
३. शासन पद्धति
४. इङ्गलैण्ड का इतिहास (दो भाग)
५. भारतीय अर्थशास्त्र
६. कौटिल्य अर्थशास्त्र

प्रो० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार

१. वैदिक जीवन
२. अथर्ववेद का स्वाध्याय
३. यज्ञों में पशुहिंसा

प्रो० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार
१. वेदार्थदीपक निरुक्त भाष्य (दो भाग)
२ वेदार्थ करने की विधि
३ महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत
४. वैदिक स्वराज्य
५. जिनचरित

पं० नन्दकिशोर जी विद्यालङ्कार
१. पुनर्जन्म
२. वैदिक विवाह का आदर्श

प्रो० जयचन्द्र विद्यालङ्कार
१. जातीय शिक्षा
२. भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार
३ मण्डलीक काव्य

पं० जयदेव विद्यालङ्कार
१. चिकित्साकालिका (अनुदित)
२. भैषज्यरत्नावली (टीका)
३. चक्रदत्त

पं० आत्मदेव विद्यालङ्कार
१. स्वस्थवृत्त

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार
१ पुराणमत पर्यालोचन
२. धनुर्वेद

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
I How to Learn Hindi
2 Confidential Talks to Young-men -ब्रह्मचर्य'।

प्रो० धर्मदत्त विद्यालंकार
१. प्राचीन भारत में स्वराज्य
२. सन्ध्या संगीत
३. गीता

पं० धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार
१. तुलनात्मक धर्म विचार
२. वैदिक कर्तव्य शास्त्र
३. वैदिक समाज शास्त्र

पं० सत्यदेव विद्यालङ्कार
दयानन्द दर्शन

पं० भीमसेन विद्यालङ्कार
वीरमराठे

पं० सोमदत्त विद्यालङ्कार
रूस का पुनर्जन्म

प्रो० वागीश्वर विद्यालङ्कार
साहित्य सुधा संग्रह (चार भाग)

पं० विद्याधर विद्यालङ्कार
पवित्र पापी

पं० अत्रिदेव विद्यालङ्कार
स्याटोवैद्यक

पं० महामुनि विद्यालङ्कार
दयानन्द जीवन का मनन

पं० वंशीधर जी विद्यालंकार
'मेरे फूल'

इनके सिवाय भी बहुत से स्नातकों द्वारा लिखे हुवे ग्रन्थ हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं। बहुत से ग्रन्थ मुद्रित हो रहे हैं, बहुत से अभी लिखे ही पड़े हैं। इस विवरण से स्नातकों द्वारा किये हुवे साहित्यिक कार्य का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

स्नातकों ने बहुत से पत्रों का सम्पादन भी किया है। दैनिक विजय, दैनिक अर्जुन, प्रणवीर, सत्यवादी, मारवाड़ी, राजस्थान केसरी, प्रभात, आर्य, आर्यकुमार, आदित्य, सद्धर्म प्रचारक, दयानन्द प्रकाश, आर्यपत्र, आर्यजीवन आदि पत्रों का सम्पादन स्नातकों द्वारा होता रहा है। अन्य भी अनेक पत्रों का सम्पादन स्नातकों द्वारा होता रहा है। अन्य भी अनेक पत्रों के सम्पादकीय विभाग में स्नातक कार्य कर रहे हैं।

रोशनी

का

भण्डार

हैसेग लैन्टर्न जर्मनो की बनी हुई
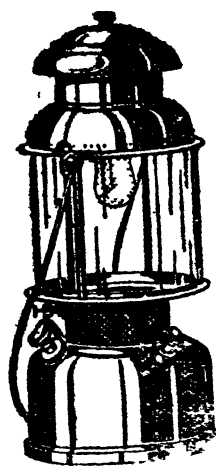
अपने समाज, सभा, सोसायटी, क्लब, व्यायाम-शाला तथा गृह को, अमरीका की बनी हुई निहायत उम्दा तथा मशहूर स्टौर्म विंग लैन्टर्न से सुशोभित कीजिए। यह लैन्टर्न अपनी चकाचौंध रोशनो के द्वारा रात को दिन कर देती है। उत्सवों की शोभा इस लैन्टर्न से दुगनी हो जाती। विवाह तथा त्यौहार आदि की खुशी के अवसर पर यह लालटेन घर की शोभा देने वाली उत्तम वस्तु है। इस लैन्टर्न से धुआँ नहीं होता। आँधी तूफ़ान तथा वर्षा में यह बुझ नहीं सकती।

इस में केरोसीन आयल या पैट्रोल इस्तेमाल किया जाता है।

(१) एक मेन्टल वाली ३५० कैण्डल पावर की स्टोर्म किंग लैन्टर्न की कीमत ३०)

(२) दो मैन्टल वाली ४८० कैण्डल पावर की स्टोर्म किंग लैन्टर्न की कीमत ३५)

(३) एक मैन्टनल वाली ३०० कैण्डल पावर की हैसेग लैन्टर्न जर्मनी की बनी हुई की० २५)

इन लालटैनों का वजन लगभग दो सेर, ऊँचाई १३ इंच, तथा चिमनी अवरक की होती है। डाक द्वारा मंगाने से एक लालटैन पर पोस्टेज खर्च अलग।

मैन्टल:—

एक मैन्टल वाली लैन्टर्न के लिए मैन्टल ३।।।) फ़ी दर्ज़न, दो मैन्टल वाली लैन्टर्न के लिये मैन्टल कीमत ३) फ़ी दर्ज़न प्राइमस स्टोव नं० १०० कीमत ९) डाक व्यय पृथक्

मिलने का पता— रविवर्मा स्टील वर्कस अम्बाला छावनी

केवल तीन रुपये में

एक घड़ियाल
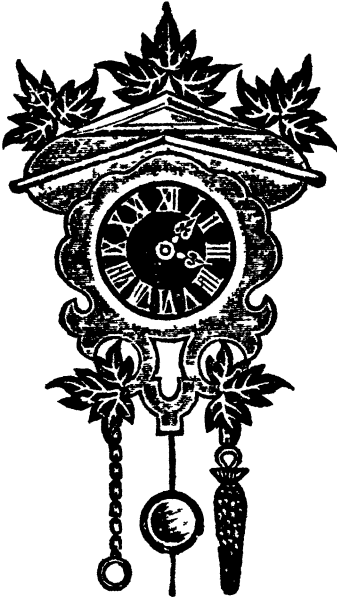
ज़रा भी संकोच न करो। आज ही आर्डर भेजदो क्योंकि टिक—टैक
Tik-Tak Regd Wall Clock
घड़ियाल ठीक समय देता है। सब को पसन्द आयगा ही। इस से कमरे की दीवारों को सुशोभित कीजिये।

कीमत—केवल रुपया तीन

इसे कौन न चाहेगा ?
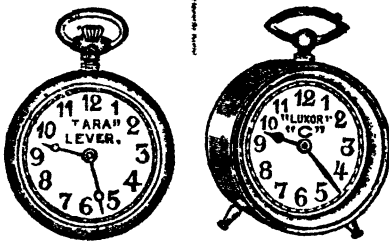
हमारी रजिस्टर्ड 'तारा' जेब-घड़ी रोल्ड गोल्ड डायल वाली है। इस की ५ वर्ष की गारन्टी है। कीमत केवल ५) है। जो इसे खरीदेगा उसे प्रख्यात सी टायमपीस घड़ी मुफ्त में दी जायगी। यह अवसर कुछ ही दिनों के लिए है। जल्दी मंगवायें, न चूकिये। पता अंग्रेजी में लिखिये।

पताः—

पीटर वाच कम्पनी,

पोस्ट बाक्स २७—मद्रास।

Printed at the Graphic arts Co. 5/1 Kenderdine Lane, Calcutta.

Printed at the Graphic arts Co. 5/1 Kenderdine Lane, Calcutta.

वर्ष १ * अङ्क ६ Registered No. A 1340

पौष १९८१] [दिसम्बर १९२४

अलङ्कार तथा गुरुकुल-समाचार

[स्नातक-मंडल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

* विषय-सूचि *

विषय		पृष्ठ सं०
१. भ्रमर (कविता)——	पं० श्रीधर जी पाठक	१६२
२. आर्यसमाज का इतिहास——	पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति	१६३
२. कालिदास और विक्रमादित्य——	पं० भवानीप्रसाद जी	१६५
विदाई का गीत (कविता)—	ब्र० भद्रजित, वृन्दावन	१७१
आर्य और दास——	पं० भीमसेन जी विद्यालंकार	१७२
मैं और तू (कविता)——	पं० शान्तिस्वरूप जी विद्यालंकार	१७८
भगवती मदिरा——	'गड़बड़ाचार्य'	१७९
दुराचार की चिकित्सा——	डा० राधाकृष्ण जी	१८०
९. गंगा की बाढ़ (कविता)——	पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार	१८५
१०. सम्पादकीय—		१८८
११. गुरुकुल समाचार—		१९१
१२. साहित्य-वाटिका—		१९४

विदेश से ४) एक प्रति का मू० ।=) वार्षिक मूल्य ३)

ओ३म्

वर्ष १ अङ्क ६ मार्गशीर्ष १९८१

अलङ्कार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मंडल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः
हविष्मन्तो अलंकृतः। ऋग्वेद। १। १४। ५।

भ्रमर-गीत

(श्रीधर जी पाठक, प्रयाग)

हरि-पद-कंज-रस लहि भ्रमर।
मंजु हरि-पद रस लहि, भंज भ्रम भय-निकर॥

* * *

शोक-दुख-भव दोख-दव तजि, भोग भव सुख अमर।
प्रेम धन भरि धन्य मन करि, अन्य धन पर न मर।
हरि-पद-कंज रस लहि भ्रमर॥

---

१ भव = उत्पन्न। २ भव = संसार।

आर्य्यसमाज का इतिहास

[लेखक-श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति]

राजपूताने में स्वामी जी का कार्य

आज हम आर्य्यसमाज के क्षेत्र में राजपूताने की क्यारी को ऊसर ही समझे बैठे हैं। हमारे विचार को कोई अनुचित भी नहीं कह सकता, परन्तु जब ऋषि दयानन्द के जीवन के अन्तिम भाग को ध्यान से पढ़ा जाय तब प्रतीत होता है कि वह राजपूताने को ही आर्य्यसमाज का चित्तौड़ गढ़ बनाना चाहते थे। थोड़े से समय में ऋषि को कामयाबी भी अद्भुत हुई थी, परन्तु दुःख है कि राजपूताने के अभेद्य दुर्ग में जो रास्ता ऋषि ने निकाला था, उस में घुसने वाला कोई न निकला। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि पीछे से आर्य्य समाज के कोई योग्य विद्वान् रजवाड़े में गये ही नहीं, अवश्य गये, परन्तु दुःख है कि प्रायः अर्थी हो कर गये, गुरु बन कर नहीं। राजपूताने के कुलीन वीर एक अर्थी और एक गुरु में भेद कर सकते हैं। वे जानते हैं कि गुरु के भेस में खुशामदी कैसे हुआ करते हैं। वे असली और नकली उपदेशक में भेद कर सकते हैं। याद रहे कि राजपूताने में केवल वही आचार्य्य सफलता प्राप्त कर सकता है जो उदयपुर और जोधपुर के मानी मस्तकों पर लात मार सकता है। ऋषि ने राजपूताने के शेरों की नाक में नकेल डालदी थी; ऋषि के अनुयायियों में से जो लोग राजपूताने में गुरु बनने के लिए गये, उनके दिलों में या तो आतंक था, और या मतलब था। ऐसे गुरुओं को राजपूताने में मान नहीं मिल सकता।

ऋषि दयानन्द ने राजपूताने में अनेक शिष्य बनाये थे, परन्तु वे सब से ऊँचा स्थान महाराणा प्रताप के वंशज महाराणा सज्जनसिंह को देते थे। राजपूताने में उनके पट्ट शिष्य वही थे। ऋषि की मृत्यु के लग भग १ वर्ष पीछे महाराणा सज्जनसिंह की मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से परोपकारिणी सभा का सब से मजबूत स्तम्भ गिर गया, और राजपूताने की आर्य्यसमाजों के पाँव उखड़ गये। शाहपुरनरेश महाराजा नाहरसिंह ने महाराणा के वियोग दुःख को भुलाने का यत्न किया, और आर्य्यसमाज के कार्य्य में बहुत उत्साह दिखाया। आपके ही उद्योग से २६ मार्च १८८५ के दिन शाहपुरा में आर्य्यसमाज की स्थापना हुई।

जोधपुर राजपूताने की एक प्रसिद्ध रियासत है। राठौर राजपूतों का किसी समय गढ़ था। यह वही क्रूर भूमि है जहाँ आर्य्य समाज के प्रवर्त्तक को विष दिया गया था और जहाँ व्यभिचार और साम्प्रदायिक पक्षपात ने एका कर के अपनी जड़ उखाड़ने वाले का प्राण हरण करने का बीड़ा

उठाया था। ज्येष्ठ सम्वत् १९४० में दयानन्द का सिंहनाद जोधपुर में होने लगा। उस निर्भय प्रचार का प्रभाव जब जोधपुराधीश महाराजा श्री यशवन्तसिंह जी पर पड़ने लगा तभी घातकों की कुमन्त्रणा का साधन ब्राह्मण कुलोत्पन्न जगन्नाथ बना। जगदुद्धारक ऋषि ने तो पता लगते ही घातक को कुछ धन दे कर भगा दिया, परन्तु आर्य जनता की उठती हुई आशाओं पर वज्रपात ही हो गया। यद्यपि राज्य के बहुत से महानुभावों को ऋषि के सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथापि उन सब में से ऋषि के उद्देश्य को समझ कर उसका आदर केवल महाराजा श्री प्रतापसिंह जी ने ही किया। उस समय न वह ब्रिटिश नाइट थे और न ही उन्होंने G.C.S.I. का उच्च उपाधि धारण की थी। मेजर जनरल तो क्या, उस समय क्या कोई यह भी सोच सकता था कि इन्हें ब्रिटिश सेना में कोई कप्तान भी बनायगा। परन्तु बाल ब्रह्मचारी का उपदेश बिजली का सा असर कर गया और रोगी प्रतापसिंह ने वेदाज्ञानुसार अपने आत्मिक गुरु से मानसिक प्रार्थना की—नोऽश्माभवतुनस्तनूः। "हमारा शरीर पत्थर के तुल्य दृढ़ हो" और वह शरीर कैसा वज्र के समान हो गया, उसे काबुल की सरहद और फ्रान्स के मैदान ही जानते हैं।

इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के भावों का परिचय उन के महाराजा प्रतापसिंह जी को लिखे एक पत्र से बहुत अच्छी तरह मिलता है। ऋषि लिखते हैं:—

"श्री.........प्रतापसिंह जी आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा साहेब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिएगा। मुझ को इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्यादि में वर्तमान हैं, आप और बाबा साहेब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं।

अब कहिये! इस राज्य का, कि जिस में सोळह लाख से कुछ ऊपर मनुष्य वसते हैं, रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप ही तीनों महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर के आरोग्य, संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं—यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्य्या मुझ से सुन कर सुधार लेवें जिस से मारवाड़ को क्या अपने आर्य्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं.........उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे उतनी ही देश की उन्नति होती है......

ह० दयानन्द सरस्वती।

आश्विन ३, शनिवार सं० १९४० विक्र०"

महाराजा प्रतापसिंह के निजू शरीर सेवक महाशय लक्ष्मण के हृदय में वैदिक धर्म का अङ्कुर पहिले पहिल उगा। ऋषि दयानन्द के देहान्त के पश्चात् विक्रमी संवत् १९४२ में उन्होंने आर्य्य समाज स्थापन किया, परन्तु पर्य्याप्त उपस्थिति न होने के कारण ६ मास में ही उसकी समाप्ति हो गई। संवत् १९४५ में फिर स्वामी भास्करानन्द जी के उद्योग से आर्य्य समाज स्थापित

हुआ। श्री महाराजा प्रतापसिंह जी उक्त स्वामी का बड़ा आदर करते थे, इस लिये वह उक्त आर्य्य समाज के प्रधान बने, जोधपुर राज के महामन्त्री श्री पण्डित सुखदेव प्रसाद बी. ए., सी. आई. ई. मन्त्री बने और अन्य बहुत श्रीमानों ने शेष अधिकार लिए। उस समय जोधपुर की सारी प्रजा ही सभासदों की सूची में सम्मिलित समझी जाती थी और साप्ताहिक अधिवेशनों में दो सहस्र से अधिक जनों की उपस्थिति होती थी। व्याकरणाचार्य्य पण्डित ठाकुरदास, पण्डित गणेश रामचन्द्र, पण्डित अचलेश्वर आदि इसी समय उपदेशक नियत किए गए थे।

महाकवि कालिदास और विक्रमादित्य

[लेखक-श्री भवानी प्रसाद जी गुप्त]

भारतीयों में आबालवृद्धवनिता चिरकाल से परम्परापोषित यह किंवदन्ती चली आती है कि कविकुलगुरु कालिदास उज्जयिनी के शकारि वीरविक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। भारतवर्ष के प्रत्येक कोने में विक्रमाब्द वा विक्रम संवत् प्रचलित है जो आजकल १९८१ है। यह संवत् उनके सांसारिक व्यापार व्यवसाय और बहीखातों आदि में ही व्यवहृत नहीं है प्रत्युत वह उनके प्रतिदिन के धार्मिक कृत्यों में भी स्थान पाए हुए है। प्रत्येक वैदिकधर्मी न केवल नित्यप्रति के संकल्प में ही विक्रम संवत् का उच्चारण करता है किन्तु प्रत्येक हिन्दू बालक की जन्मपत्री में भी उसका उल्लेख होता है और इस लिए सर्वसाधारण में यह विश्वास बद्धमूल है कि कविकुलगुरु कालिदास और शकारि विक्रमादित्य १९८१ वर्ष पूर्व भारतवसुन्धरा की क्रोड में क्रीड़ा करते थे। परन्तु जब से योरपीय इतिहासशोधकों और उनके भारतीय अनुयायियों का भारत के ऐतिहासिक क्षेत्र में पदार्पण हुआ है उन्हों ने इस चिरूढ़ विश्वास में एक नवीन ही संशय खड़ा कर दिया है। उनकी नवनवोन्मेषशालिनी ऐतिहासिक प्रतिभा ने विक्रम और कालिदास के विषय में एक नवीन ही तत्त्व की उद्भावना की है कि वस्तुतः ममुमीशु से पूर्व प्रथम शताब्दी में भारतभूमि पर कोई कालिदास वा विक्रम विद्यमान न थे और उस समय भारतवर्ष में संस्कृतसाहित्य की ऐसी उन्नति ही न थी कि कालिदास से महाकवि जन्म लेकर संस्कृत के ऐसे उत्तम काव्य लिख सकते। उनके नवाविष्कार के अनुसार महाकवि कालिदास अब से लगभग चौदहसौ वर्ष पूर्व ईसा की छठी शताब्दी में हुए थे और वे गुप्तवंशीय द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय में रहते थे। अपने इस पक्ष की पुष्टि में वे कालिदास के रघुवंश में अनेक स्थानों पर आए हुए गुप्त शब्द (यथा "स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः" "स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः" इत्यादि) को प्रस्तुत करते हैं। कई योरपीय इतिहासशोधकों की सम्मति में कालिदास चन्द्रगुप्त के आश्रय में न रह कर कुमारगुप्त के आश्रय में रहते थे और उनकी सम्मति के पोषक प्रमाण भी रघुवंश में ही "आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः" "कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि" उपलब्ध हैं। कई योरपीय बुद्धिविशारदों का निश्चय है कि कालिदास कहरूर के युद्ध में हूणों को पराजित करने वाले उज्जयिनीराज यशोधर्मन् की सभा की शोभा बढ़ाते थे। विक्रम संवत् के विषय में इन विपक्ष विद्वानों का यह विचार है कि वस्तुतः उज्जयिनीनरेश विक्रम ने कोई संवत् कभी चलाया ही न था किन्तु मालवगणों का एक

संवत् पूर्व से चला आता था उस को ही छठी शताब्दी के गुप्तवंशीय विक्रमोपाधिधारी चन्द्रगुप्त ने विक्रम संवत् का नाम देकर अपने संवत् के नाम से प्रचलित कर दिया। चाहे भारतीय साधारण बुद्धि इस बात को स्वीकार न कर सके कि अब साधारणनरेश भी अपना नवीन संवत् चलाने का उद्योग करते रहे हैं और किसी भी संवत् प्रवर्तक ने कभी किसी पुराने संवत् को अपना नाम नहीं दिया तो चन्द्रगुप्त सा प्रबल प्रतापी सम्राट् यह जालसाजी कैसे कर सकता था कि प्राचीन मालव संवत् को अपने नाम से प्रचलित कर देता परन्तु योरोपियन दीर्घदृष्टि और विपुलबुद्धि की नवनिष्पत्ति यही है कि चन्द्रगुप्त परसंवत् की चोरी का अपराधी अवश्य है। उनकी यह व्यवस्था हेतुशून्य या प्रमाण रहित हो ऐसा नहीं है किन्तु उसकी पुष्टि में उन्होंने तथा उनके भारतीय मतपोषकों ने बड़े बड़े लेख लिख डाले हैं और तब से भारतीय इतिहास में कालिदास और विक्रम का समय बड़ा विवादास्पद विषय बना हुआ है।

उनके उत्तर में कालिदास और विक्रम को पहिली शताब्दी में मानने वाले भारतीय इतिहासज्ञों ने भी कई लंबे लेख लिखे थे और उनके निराकरण में दूसरे पक्ष के विद्वानों के भी कई निबन्ध निकलते रहे हैं। इस विषय में दीर्घकाल से इतनी 'भवति न भवति' होती रही है कि यदि उभय पक्ष के निबन्ध एकत्र किए जावें तो एक बड़ा पोथा बन जाय। कई मासों से प्रथमशताब्दी के पक्ष के परिहार में प्रयाग की विश्वविश्रुता लब्धकीर्ति सरस्वती पत्रिका में इतिहासविद्याविशारद विद्वच्छिरोमणि श्री पं० काशीनाथ कृष्ण लेले तथा शिवराम काशीनाथ ओक की निबन्धावली प्रकाशित होती रही है जिस को इन पंक्तियों का लेखक भी तत्वान्वेषणबुद्धि से मनोनिवेशपूर्वक पढ़ता रहा है और उनकी विवेचना से जो विचार उसके मन में उठे हैं उनको तत्वजिज्ञासार्थ नीचे निवेदन किया जाता है। श्री लेले तथा ओक महोदय के एक एक तर्क को लिख कर क्रमशः उसी की समालोचना लिखी जाती है।

(१) अपने निबन्ध के आदि में ही श्री लेले तथा ओक महाशयों ने ईसा की आठवीं शताब्दी तक विक्रम संवत् के साथ विक्रम शब्द न आकर मालव संवत् के नाम से उसके उल्लेख होने पर यह आपत्ति उठाई है कि उसके साथ विक्रम का नाम न आने से वह विक्रमसंवत् नहीं माना जा सकता और इस लिए ईसा की प्रथम शताब्दी में किसी विक्रम का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि उनके इस तर्क को स्वीकार किया जाय तो उससे स्वयं उनका सिद्धान्त अर्थात् यशोधर्मन् देव हर्ष शिलादित्य उपनाम विक्रमादित्य के इस संवत् का सन् ५४४ ई० में अपना कर विक्रम नाम देने की स्थापना भी उड़ जाती है क्योंकि जब आठवीं शताब्दी तक कहीं भी उसके साथ विक्रम शब्द का पता नहीं है तो यह कैसे मान लिया जाय कि छठी शताब्दी में इस संवत् का विक्रम की उपाधि दी गई और तब से वह विक्रम संवत् के नाम से व्यवहृत होने लगा, क्योंकि आपके मतानुसार विक्रम शब्द तो इस संवत् के साथ आठवीं शताब्दी से ही पाया जाता है उससे पूर्व छठी शताब्दी में उस का विक्रमीकरण कैसे माना जाय। वास्तविक बात तो यह प्रतीत होती है कि यह संवत् मालवगणाधिपति विक्रम का संवत् होने के कारण और विशेषतः मालव देश में व्यवहृत रहने के हेतु से संज्ञापार्थ प्रायः मालव संवत् वा मालवगणसंवत् लिखा जाता था। इस का एक और उदाहरण भी विद्यमान है। नेपाल की प्रशस्तियों में व्यवहृत हर्षसंवत् उसके नेपाल में प्रचलित रहने के कारण नेपाल संवत् लिखा जाता था, जैसा कि नेपालनरेश प्रतापमल्ल की प्रशस्ति के निम्नलिखित पद्य से प्रकट है।

नेपाले संवतेऽस्मिन् हयगिरिमुनि-
भिः संयुते माघमासे,
सप्तम्यां शुक्लपक्षे रविदिन सहिते
रेवतीऋक्षराजे।
योगे श्रीसिद्धिसंज्ञे रजतपशिलस-

त्स्वर्णमुक्ताप्रवालै—
रेकीकृत्य प्रदत्तं हयशतसहितं येन
दानं तुलाख्यम् ॥

दूसरे स्थानों में कहीं "हर्षान्नेपालवर्षे" शब्द आते हैं। जैसे केवल "नेपाले संवले" लिखे जाने से उसके हर्ष के संवत् होने का खण्डन नहीं हो सकता वैसे ही किन्हीं स्थानों में "मालवसंवत्" वा "मालवगणस्थित्या" के उल्लेख से उस संवत् के ईसा की प्रथम शताब्दी में विक्रम के द्वारा प्रचलित होने का खण्डन नहीं हो सकता और न ही केवल "मालव संवत्" वा "मालवगणस्थित्या" के लिखे जाने से यह अनुमान दृढ़ हो सकता है कि उसका संस्थापक मालवेश ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी का विक्रम न था। जैसे ही रोम-वर्संवत् रोमनिवासियों के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह रोम नगर की नींव डालने की घटना विशेष को यादगार में चलाया गया था। इसी प्रकार मालव संवत् का भी विक्रम के द्वारा ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में शकविजय के उपलक्ष में चलाया जाना सर्वथा संभव है। इस का भी कोई प्रबल प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया कि प्राचीन काल के लोग मालव संवत् को प्रथम शताब्दी के विक्रम का चलाया न मानते थे। कम से कम दसवीं शताब्दी में तो यह लोगों का दृढ़ विश्वास था कि उस समय से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व अर्थात् अब से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम संवत् प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य विद्यमान था जैसा कि धार के परमारवंशी राजा मुञ्जदेव के समकालीन जैनपण्डित अमितगति के रत्नसन्दोह नामक ग्रंथ के अन्त के निम्नलिखित पद्य से प्रमाणित होता है।

समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे
सहस्रेवर्षाणां प्रभवति च पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणींमुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहिततिदं शास्त्रमनघम्

भावार्थः—राजा विक्रम के स्वर्गारोहण से १०५० वर्ष बीतने पर मुञ्जनृपति के शासन-काल में पौष के शुक्लपक्ष में यह विद्वानों के लिए हितकर अनुपम शास्त्र बनाया गया।

(२) प्रथम शताब्दी में विक्रम का अभाव सिद्ध करने के लिए योग्य लेखक-युग्म ने दूसरी दलील यह दी है कि उस समय उज्जयिनी में शकारि शकप्रवर्तक विद्वदाश्रयदाता किसी विक्रम की विद्यमानता के साधक प्रमाणों का अभाव है। किन्तु विन्सेंट स्मिथ साहब ने अपने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में लिखा है कि शक जाति के म्लेच्छों ने ईसा के कोई १५० वर्ष पहिले उत्तरपश्चिमाञ्चल से इस देश में प्रवेश किया। उनकी दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा के शकों ने तक्षशिला और मथुरा में अपना अधिकार जमाया और क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके सिक्कों से इन का पता ईसा के १०० वर्ष पहिले तक चलता है, उस के पीछे उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं लगता। दूसरी शाखा ने ईसा की पहली शताब्दी में काठियावाड़ पर अपना अधिकार किया, इन्हें गुप्तवंशी राजाओं ने हरा कर उत्तर की ओर भगा दिया। इस प्रकार इस दूसरी शाखा के पराभव कर्ता गुप्त हुए, किन्तु पहिली शाखा का किस ने विनाश किया, क्या बिना किसी के निकाले ही वे इस देश से चले गए? उनका पता पीछे कहीं भी क्यों नहीं चलता? इस का क्या इस के सिवा और कोई उत्तर हो सकता है कि ईसा से ५७ वर्ष पहिले विक्रमादित्य ने ही उन्हें नष्ट भ्रष्ट कर के इस देश से निकाल दिया? इसी विजय के कारण उस को शकारि उपाधि मिली और संवत् भी इसी घटना की याद में उसने चलाया। इस के अतिरिक्त आप के विशेषणमय से विशिष्ट विक्रम की ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमानता के प्रमाण आप के ही उद्धृत और अभिमत ज्योतिर्विदाभरण के निम्नलिखित पद्यों से बढ़कर और क्या हो सकते हैं।

येनास्मिन् वसुधातले शकगणान्
सर्वा दिशः संगरे।

हत्वा पञ्च नवप्रमान् कलियुगे शाकप्रवृत्तिः कृता ॥

ज्योतिर्विदाभरण, अध्याय २२ श्लोक १३ ॥

भावार्थः-जिसने इस पृथ्वीतल पर युद्ध में शकों को मार कर कलियुग में अपना संवत् चलाया।

त्रिखेन्दुभिविक्रमभूपतेर्मिते, शाके ऽन्वितीह क्षयमासको भवेत्।
अन्यः स्वकालाब्दगणेन हायने ऽधिमासयुग्मं क्षयमासवत्यतः ॥

ज्योतिर्विदाभरण, अध्याय ४ श्लोक ५ ॥

भावार्थः—विक्रम के संवत् १०३ में क्षयमास होगा और उस वर्ष २ अधिमास होंगे।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु, वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

ज्योतिर्विदाभरण, अध्याय २२ श्लोक १०

भावार्थः—विक्रम की सभा में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शङ्कु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, प्रसिद्ध वराहमिहिर, और वररुचि ये नौ रत्न हैं।

सत्याचार्य, वराहमिहिर, श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ, कुमारसिंह, आदि मुझ जैसे उसकी सभा में कालतन्त्र कवि अर्थात् ज्योतिषी हैं। श्लोक ८

विक्रमादित्य के दरबार में ८०० उमराव हैं और उसकी सेना में एक करोड़ वीर हैं। उसकी सभा में १६ पण्डित, १६ ज्योतिषी, १६ वैद्य, १६ भट्ट, १६ ताड़ी, (गायनवादनपटु) और १६ वैदिक रहा करते थे। श्लोक ११

उसकी राजधानी उज्जयिनी है और वह श्री महाकालेश्वर के सान्निध्य के कारण समूचे नगरवासियों के लिए मोक्ष प्राप्त करा देने वाली है। श्लोक १६ ॥

वर्षे सिन्धुरदर्शनांबरगुणैर्याते कलौ सम्मिते,
मासे माधवसंज्ञकेऽत्र विहितो, ग्रन्थक्रियोपक्रमः।

अध्याय २२ श्लोक २१

सिन्धुर (८), दर्शन (६), अम्बर (०) गुण (३) अर्थात् वामक्रम से ३०६८ कलिवर्ष में वैशाख मास में मैंने यह ग्रन्थ बनाना आरम्भ किया।

इस कलिसंवत् के अनुसार विक्रम संवत् २४ आता है। आगे चल कर प्रशंसित विद्वान् लेखकद्वय ने इस कलिसंवत् को ज्योतिर्विदाभरण तथा ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर की बृहत्संहिता और पञ्चसिद्धान्तिका में दिए हुए अपने अपने शकसंवत् से मिलाने के प्रयत्न में कलिकालारम्भ को सैकड़ों वर्ष पीछे ला डाला है, और खेद है, कि उनको शकसंवत् के समझने में भी भारी भ्रान्ति हुई है। वस्तुतः कलिकालारम्भ और शक संवत् की पूर्ण पर्यालोचना ही इस विवाद की निर्णायिका होगी और इस लिए इस निबंध में भी आगे चल कर कलिकालारम्भ और शक संवत् की पूरी विवेचना की जायगी।

(३) आगे चल कर आप ने चौथी से छठी शताब्दी तक गुप्तों के अभ्युदय और उस समय संस्कृत साहित्य की उन्नति का उल्लेख करके गुप्तों की शकारिता तथा विक्रमादित्योपाधिधारिता तो मानी है किन्तु उनसे आप कविकुलगुरु ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास का संबन्ध नहीं पाते और छठी शताब्दी के उज्जयिनीनरेश यशोधर्मन् शिलादित्य को ही उक्त कालिदास का आश्रयदाता तथा विक्रमसंवत् का प्रवर्तक हर्षविक्रमादित्य सिद्ध करते हैं। यहाँ इस प्रसंग में विक्रम और कालिदास पर कुछ साधारण विचार अप्रासंगिक न होगा। भारतवर्ष में विक्रम और कालिदास अपने गुणों की उत्कृष्टता के कारण कुछ ऐसे नाम बन गए थे कि समय पर अनेक राजाओं और कवियों ने उनको धारण कर के अपने पूर्ववर्ती उन उन नामधारियों वा अपने नाम राशियों के गौरव, महत्व और कीर्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। यदि आप कुछ गवेषणा करेंगे तो भारतीय इतिहास में आप को दर्जनों विक्रम

और कालिदास मिलेंगे । खेद है कि पाश्चात्य-इतिहाससंशोधक और उनके कई भारतीय अनुयायी उन विक्रमों और कालिदासों के भिन्न भिन्न समयों और चरित्रों को परस्पर मिला कर गड़बड़ कर देते हैं । अब प्रथम आप विक्रमों तथा कालिदासों पर ही विचार कीजिए ।

१ म विक्रमादित्य—ईसा से ५७ वर्ष पूर्व के संवत् प्रवर्तक विक्रम के अतिरिक्त हमको उससे ४०० वर्ष पूर्व एक और हर्ष विक्रमादित्य का पता मिलता है। इसने अपने नाम से हर्ष संवत् चलाया था जो नेपाल में प्रचलित था। प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अलबेरूनी नैपाल तथा भारत के उत्तरीय प्रान्तों में प्रचलित विक्रम संवत् से ठीक चार-सौ वर्ष पहिले एक हर्षसंवत् का निर्देश करता है । वह अपनी प्रसिद्ध पर्यटनपुस्तक "अलबेरूनी का भारत" के ४९ वें अध्याय में लिखता है—

अब यज्दगर्द का ४०० वाँ वर्ष निम्न-लिखित भारतीय संवतों के बराबर है—

(१) श्री हर्ष का १४८८ वाँ वर्ष

(२) संवत् वा विक्रमसंवत् का १०८८ वाँ वर्ष

(३) शालिवाहन संवत का ९५१ वाँ वर्ष

यज्दगर्द के संवत् से ४१३२ वर्ष पहिले कलियुग आरम्भ हुवा था। पारसी वर्ष ४०० का नवरोज़ ९ मार्च सन् १०३१ ई० को पड़ता है । इस प्रकार अलबेरूनी के निर्देशानुसार विक्रम संवत् ५७ ई० पू०, हर्ष संवत् ४५७ ई० पू० तथा कलियुग ३१०१ ई० पू० आरम्भ हुआ था । नेपाल के कुछ ताम्रपत्रों में इसी हर्ष संवत् का निर्देश किया गया है । किन्तु डा० फ्लीट आदि कुछ पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने प्रमादवश इस हर्ष को कन्नौज का हर्षवर्धन शिलादित्य समझ कर इस संवत् का आरम्भ ईसवी सन् ६०६-७ से मान लिया है और नेपाल के राजाओं की तिथियों को बिलकुल गड़बड़ा दिया है । इस प्रकार नेपाल के ५ वें सूर्यवंशी राजकुल के २७ वें राजा महाराजाधिराज शिवदेववर्मा के ताम्रपत्र में जो हर्षसंवत् ११९ दिया हुआ है उसको पाश्चात्य पंडित हर्षवर्धन का प्रचलित किया हुआ मानकर शिवदेववर्मा को ११९+६०६=७२५ ई० का मान लेते हैं । किन्तु रायल एशियाटिक सोसाइटी के आनरेरी सदस्य पं० भगवान लाल इन्द्र जी पी एच. डी. ने नेपाल से लाकर एक प्राचीन वंशावली—पार्वत्यवंशावली—प्रकाशित की है (देखो इंडियन ऐंटिक्वेरी जिल्द ८ पृष्ठ ४११—४२८) उस में नेपाल के राजाओं की वंशावली उनके शासनकाल सहित दी है । इस वंशावली के वर्णनानुसार नेपाल के ५ वें वंश अर्थात् सूर्यवंश का २७ वाँ राजा शिवदेववर्मन् ३३८ ई० पू० विद्यमान था । क्योंकि वहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि ६ ठे अर्थात् ठाकुरी वंश के पहिले राजा अंशुवर्मन् का राज्याभिषेक ३००० वें कलिवर्ष अर्थात् १०१ ई० पू० हुआ था, उसने ६८ वर्ष (१०१-३३ ई० पू०) राज्य किया था। यह भी लिखा है कि उस के समय में विक्रमादित्य नेपाल में आया और उसने अपना ५७ ई० पू० का संवत् चलाया । आगे यह निर्देश है कि अंशुवर्मन् ५ वें वंश (सूर्यवंश) के ३१ वें (अन्तिम) राजा विश्वदेववर्मन् का जामाता तथा उत्तराधिकारी था, विश्वदेववर्मन् ने ५१ वर्ष (१५२—१०१ ई० पूर्व) राज्य किया था । इसी प्रकार उक्त वंश के ३० वें राजा विष्णुदेववर्मन् ने ४७ वर्ष (१९९—१५२), २९ वें राजा भीमदेववर्मन् ने ३६ वर्ष (२३५—१९९ ई० पू०), २८ वें राजा नरेन्द्रवर्मन् ने ४२ वर्ष (२७७—२३५ ई० पू०), तथा २७ वें राजा शिवदेववर्मा ने ६१ वर्ष (३३८—२७७ ई० पू०) राज्य किया था । इस प्रकार नेपालवंशावली में उल्लिखित शिवदेववर्मा का राज्याभिषेककाल ३३८ ई० पूर्व ठीक वही है जो अलबेरूनी के उल्लेखानुसार ४५७ ई० पू० आरम्भ होने वाले हर्ष संवत् के ताम्रपत्र में निर्दिष्ट ११९ वें वर्ष से मिलता है । इसी हर्षविक्रम का वर्णन काश्मीर के संस्कृत इतिहास राजतरङ्गिणी के निम्नलिखित श्लोकों में है—

तस्मिन् क्षणे हिरण्योऽपि
शान्ति निःसन्ततिर्ययौ ॥ १२४ ॥

तस्मिन्नेवह्न्युज्जयिन्यां,
श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती,
विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥ १२५ ॥

* * * *

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां,
हरेरवतरिष्यतः।
शकान् विनाश्य येनादौ,
कार्यभारो लघूकृतः ॥ १२६ ॥

भावार्थः—उस समय काश्मीर का हिरण्य राजा भी सन्तान हीन हो कर मर गया, उसी समय उज्जयिनी में हर्षापरनामधेय श्रीमान् विक्रमादित्य एकच्छत्र सम्राट् था। १२४-५।

म्लेच्छों का उच्छेद करने के लिए श्री महाविष्णु पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करना चाहते थे, पर इससे पहिले ही विक्रमादित्य ने शकों को नष्ट कर दिया। उस कारण महाविष्णु के सिर का बोझ हलका हो गया। १२६।

इस अवतरण में महाराज हर्ष विक्रमादित्य को शकारि स्पष्ट लिखा है। अब यह विवेचनीय है कि उस समय (४१७ ई० पू०) हर्ष विक्रम ने किन शकों का दमन किया था। प्रसिद्ध यूनानी ऐतिहासिक हिरोडोटस, ज़ेनोफ़न तथा अन्य प्राचीन पाश्चात्य ऐतिहासिकों के वर्णनानुसार प्रसिद्ध पारसीक सम्राट् प्रथम दारा ने ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भारत के पश्चिम में सिंध के उस पार के प्रदेशों पर अधिकार करके वहाँ पर एक सत्रपी (फ़ारसी क्षत्रपावन, संस्कृत क्षत्रप) स्थापित की थी। यह सत्रपी उसके पीछे क्षयार्ष अरक्षीज़ (४८९-४६४ ई० पू०) और आर्तक्षत्र (आर्तज़ोक्षी ४६४ से ४२४ ई० पू० तक) के समय तक रही। आर्तक्षत्र बहुत विषयी और निर्बल राजा था, उसी के समय में पारसीक राज्य से भारतीय प्रदेश निकल गए। अब इन प्रदेशों से पारसी अधिकार का विनाशक यही ४५७ ई० पू० का हर्षविक्रम हो सकता है। यह ध्यान रहे कि भारतीय लोग पारसदेश को शकस्थान कहते थे और पारसियों को शकनाम से व्यवहार करते थे। इस लिए यह प्रमाण पुष्ट और प्रबल अनुमान है कि ईसा से ४५७ वर्ष पूर्व हर्षविक्रम ने सिंधुपार के प्रदेशों से शकों को निकाल कर शकारि की उपाधि धारण की थी और इसी का उल्लेख राजतरङ्गिणी के उपर्युक्त पद्य में हुआ है। इसी हर्षविक्रमादित्य ने राजतरङ्गिणी के उपर्युक्त अवतरण में वर्णित काश्मीर नरेश हिरण्य के निःसन्तान मरने पर अपने मित्र महाकवि कालिदासपरनामक मातृगुप्त को काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठाया था और मातृगुप्त कालिदास ने वहाँ कुछ वर्ष राज्य कर के मृत हिरण्य के भतीजे प्रवरसेन के आजाने पर वह राज्य उसको सौंप दिया था। यही मातृगुप्त कालिदास प्रथम महाकवि कालिदास है और संस्कृतसाहित्य के गौरवधन प्रसिद्ध अभिज्ञानशकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय नामक तीन नाटक उसी की कृति हैं। इस का प्रमाण यह है कि अभिज्ञानशाकुन्तल का प्रसिद्ध श्लोकार्ध "सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" श्री कुमारिलभट्ट ने जैमिनि मुनिकृत पूर्वमीमांसा के शबरभाष्य पर अपने प्रसिद्ध श्लोकवार्तिक में उद्धृत किया है।

कुमारिलभट्ट का जन्म समय जिनविजय-काव्य में इस प्रकार वर्णित है—

"ऋषिर्वारस्तथा पूर्णं,
मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।
एकीकृत्य लभेतांकः,
क्रोधी स्यात् तत्र वत्सरः ॥
भट्टाचार्यकुमारस्य,
कर्मकाण्डैकवादिनः।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन्,
वर्षे यौधिष्ठिरे शके ॥"

अर्थात् यदि हम ऋषि (७), वार (७), पूर्ण (०) और मर्त्याक्षि (२) को वामगति से क्रमपूर्वक मिलाएँ तो २०७७ क्रोधीनामक संवत्सर निकलता है, इस २०७७ युधिष्ठिरशक में

सर्वकाव्यवादी भट्टाचार्यकुमार का जन्म हुआ था।

जैन लोग भूल से युधिष्ठिरशक कलियुग से ४६८ वर्ष पीछे मानते हैं (इस का विवेचन आगे किया जायगा), किन्तु वस्तुतः, जैसा पहिले लिखा जा चुका है, महाभारतानुसार युधिष्ठिरशक कलियुगारम्भ से ३७ वर्ष पूर्व युधिष्ठिर के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है। इस लिए २०७७ में ४६८ जोड़ देने से २५४५ कलिसंवत्सर निकलता है। अर्थात् कुमारिलभट्ट का जन्म २५४५ कलिसंवत्सर तदनुसार ५५७ वर्ष ईसा से पूर्व हुआ था। कुमारिलभट्ट के अपने श्लोकवार्तिक में अभिज्ञानशाकुन्तल के श्लोक का उद्धरण करने से अभिज्ञानशाकुन्तलकार महाकवि कालिदास का कुमारिल का समकालीन वा पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। कवि कालिदास के श्रीहर्ष विक्रमादित्य का मित्र तथा आश्रित होने का वर्णन ऊपर हो चुका है, यह भी बतलाया जा चुका है कि श्रीहर्ष विक्रमादित्य ने ईसा से ४५७ वर्ष पूर्व अपना हर्ष संवत् चलाया था। यह संवत् उन्हों ने शकों पर विजय प्राप्ति के उपलक्ष्य में अपनी शक्ति और समृद्धि के यौवन काल में ही चलाया होगा और उनका सिंहासनारोहणकाल इस समय से लगभग ५० वर्ष पूर्व (५०७ ई० पू०) रहा होगा, यह प्रबल अनुमान है। जिनविजय से कुमारिलभट्ट का आयुमान ६३ वर्ष प्रमाणित होता है। जिनविजय के निम्न लिखित पद्यों में भगवान् आदि शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव २१५७ जैनयुधिष्ठिरशक = ४७७ ई० पू० में तथा उनकी कुमारिल से भेंट १५ वर्ष की आयु में वर्णित है।

"ऋषिर्बाणस्तथा भूमि,
मर्त्याक्षौ वाममेलनात्।
एकत्वेन लभेताङ्का-
स्ताम्रास्तत्र वत्सरः॥"
"पश्चात् पञ्चदशे वर्षे,
शंकरस्य गते सति।
भट्टाचार्यकुमारस्य
दर्शनं कृतवाञ्शिवः॥"

अर्थात् "ऋषि [७], बाण [५], भूमि [१], मर्त्याक्ष [२], को क्रम पूर्वक मिलाने से २१५७ ताम्राक्ष नामक संवत्सर निकलता है"

"शङ्कर [शङ्कराचार्य] ने [आयु का] पन्द्रहवाँ वर्ष बीतने पर भट्टाचार्य कुमारिल का दर्शन किया।"

यह परम प्रसिद्ध बात है कि भगवान् आदि शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव ३२ वर्ष की आयु में हुआ था इस लिए उससे १७ वर्ष पूर्व वे कुमारिलभट्ट से उस समय मिले थे जब कि वे तुषानल में प्रविष्ट होकर अपने शरीरपात से जैनों से वञ्चनापूर्वक अपने विद्याध्ययन का प्रायश्चित कर रहे थे, और उनके प्रादुर्भाव के उपर्युक्त ४७७ ई० पू० से १७ वर्ष घटाने से कुमारिलभट्ट का देहावसानकाल ४९४ ई० पू० निकलता है और इस से कुमारिलभट्ट की आयु ६३ वर्ष प्रमाणित होती है। यदि उक्त श्लोकवार्तिक को कुमारिलभट्ट ने अपने स्वर्गवास से चार वर्ष पूर्व रचा हो तो ४९८ वर्ष ईसा से पूर्व उनकी मृत्यु के समय से पूर्व ही अभिज्ञानशाकुन्तलकार और हर्ष विक्रमादित्य के आश्रित महाकवि कालिदास का होना प्रमाणित होता है। इस लिए सिद्ध हुआ कि नाटककारकालिदास कुमारिलभट्ट के समकालीन थे और ईसा से ५०० वर्ष पहिले विद्यमान थे। यह भी प्रमाणित होता है कि वे हर्ष विक्रमादित्य के मित्र तथा आश्रित थे, क्योंकि उन्होंने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक में उसके नायक पुरूरवा का विक्रमोपाधि से उल्लेख करके अपने आश्रयदाता और मित्र हर्षविक्रमादित्य का सांकेतिक निर्देश किया है। हमारे मत से नाटककार कालिदास से रघुवंशादि महाकाव्यकार कालिदास भिन्न है, जैसा कि आगे चल कर दिखलाया जायगा।

नव स्नातकों के प्रति

विदाई का गीत।

(लेखक—ब्र० भद्रजित्, गुरुकुल वृन्दावन)

(१)

विदाई दे रहे भाई हमें पर भूल मत जाना।
बुराई जो हुई हम से उसे मत चित्त में लाना॥ टेक॥

(२)

चले तुम छोड़ सूना आज इन यमुना निकुंजों को।
हमारे पर हृदय-मन्दिर न सूने कर कहीं जाना॥ विदाई०॥

(३)

हमारे प्रेम बन्धन से हृदय कैसे छुड़ा लोगे।
सभी तुम भूल बचपन का हमारे साथ अठिलाना॥ विदाई०॥

(४)

सदा फूलो फलो परमेश से यह हम मनाते हैं।
जगत में वेद की वीणा बजाते तुम सदा जाना॥ विदाई०॥

(५)

हमें चातक बनाकर तुम यहां पर छोड़ जाते हो।
कभी तो स्वाति दर्शन-जल हमें आकर पिला जाना॥ विदाई०॥

(६)

हमें तो तुम चले जाओ दिलाकर धैर्य पर भाई।
दुखी माता की आंखों का नयन जल पोंछते जाना॥ विदाई०॥

(७)

बढ़ो कर्तव्य पथ में तुम दयामय भी सहायक हों।
सदा दुख द्वन्द के फन्दे हमारे काटते जाना॥ विदाई०॥

(८)

हमें अब छोड़ कर कुल भूमि से तुम दूर जाते हो।
विदाई की सजल आंखें हमारी भूल मत जाना॥ विदाई०॥

गुरुकुल वृन्दावन को छोड़ते हुए इस वर्ष के स्नातकों के प्रति यह कविता पढ़ी गई थी।

* आर्य और दास *

(ले० श्री पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार)

पिछले लेख में हम यह दिखा चुके हैं कि आर्य्य सभ्यता में दास प्रथा का कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टि से हमारी आर्य्य सभ्यता किसी दूसरी सभ्यता से कम नहीं है। इस लेख में संस्कृत-साहित्य के प्रमाणों द्वारा यह दिखाने का यत्न किया जायगा कि भारतवर्ष में दास शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। दास शब्द प्रयोग की मीमांसा से यह भी पता लगेगा कि भारतवर्ष के दास युरोपियन दासों की तरह किसी श्रेणी या निबिड़-संगठन में संगठित नहीं थे।

रोम तथा ग्रीस में दासों ने संगठित हो कर, कई बार उच्च श्रेणियों के साथ लड़ाई लड़ी थी। स्पार्टा के हैलट तथा रोम के ग्लैडिएटर्स, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। परन्तु भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ दासों ने अपने स्वामियों का संगठितरूप से विरोध किया हो।

इस का एक मात्र कारण यह था कि यहाँ की दास श्रेणी को सदा इस बात की छुट्टी थी कि वह जब चाहे योग्यतानुसार, उच्च श्रेणी में प्रविष्ट हो सके।

अंग्रेज़ी भाषा में दास शब्द के लिए (स्लेव) शब्द का प्रयोग किया जाता है। (स्लेव) का मूल अर्थ (कैपटिव) या कैदी है। विजेता लोग युद्धों में जिन को जीतते थे उन्हें वे अपनी सम्पत्ति समझते थे। भारतवर्ष में भी इस अर्थ में दास शब्द का प्रयोग होता था। मनुस्मृति में भी इसी प्रकार पराजित शत्रु के लोगों को दास, दासी बनाने का उल्लेख है। दास प्रथा का प्रारम्भ कैसे हुआ? क्या युद्धों के कारण ही यह प्रथा प्रचलित हुई? इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व हम संस्कृत साहित्य द्वारा यह दिखाएंगे कि भारतवर्ष में दास शब्द किन २ अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। इस विषय में दास शब्द की मूल धातु या व्युत्पत्तियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के भिन्न २ प्रामाणिक कोषों में इस प्रकार व्युत्पत्तियाँ तथा मूल धातु बताए गए हैं:—

दास दाने, भ्वादि, सकर्मक। 'भृतिरस्मै दीयते इति'। दास हनने (यो नः कदाचिदपि दासति द्रुहः। दास दशने। ददात्यङ्गं स्वामिने उपचाराय)।

दास वह है जिसे भृति या वेतन दिया जाय। जो आदमी अपने स्वामी के हाथ अपने शरीर को बेच दे वह भी दास है। शूद्रों के नाम के अन्त में जो दास शब्द आता है वह इस बात को द्योतित करता है कि दास शारीरिक परिश्रम का कार्य्य कर भृति द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। दास शब्द का प्रयोग (दास उपक्षेपे) निन्दा तथा नाश अर्थ में भी होता है। कई स्थानों पर दास और दस्यु को भी पर्य्यायवाची तथा समानार्थक

माना गया है । 'पृक्षये च दासवेशाय चावह !' ऋ० २।१३।८।

इसका अर्थ किया गया है 'दासानां दस्यूनां वेशाय नाशाय' । दस्युओं के नाश के लिए । दत्तक पुत्रों को भी दास शब्द से कहा जाता है क्योंकि इन का पालन पोषण भी कृत्रिम दासों की तरह किया जाता है । भृगु आचार्य की सम्मति में वह आदमी दास है जो अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को छोड़ कर, एकान्त भाव से दूसरे का सेवक बन जाता है । वे लिखते हैं:—

"स्वतन्त्रस्यात्मनो दानाद्दासत्वं दारवद् भृगुः । यथा भर्तुः सम्भोगार्थं स्व शरीर दानाद्दारत्वम् तथा स्वतन्त्र स्यात्मनः परार्थत्वेनदानाद् दासत्वमिति भृगुराचार्योमन्यते । अनेनात्यन्तपारार्थ्य मासाद्य शुश्रूषका दासाः । परार्थ्य मात्रमासाद्य शुश्रूषकास्तुकर्मकरा इति ।"

भृगु आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार स्त्री पति के लिए अपने आपको भोग्य रूप में समर्पित करती है उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने आपको स्वामी के लिए समर्पित करता है वह दास है। जो रुपया या धन लेने में पराश्रित हो वह कर्मकर कहलाता है । भृगु आचार्य की सम्मति में स्त्रियाँ भोग्य पदार्थ हैं । भारतीय इतिहास से परिचय रखने वाले जानते हैं कि भारत में स्त्रियों को भोग्य वस्तु नहीं समझा जाता था।

मध्यकाल में ही स्त्रियों को भोग्य समझा जाता था; उसी समय मनुष्य को भोग्य सम्पत्ति का रूप दिया गया और दास को भी भोग्य वस्तु समझा जाने लगा । तथापि इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि यहाँ भी दासों को मनुष्य की सम्पत्ति समझा जाता था । परन्तु इस अवस्था के कई रूप थे । इन भिन्न २ रूपों का खुलासा मनुस्मृति में तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में इस प्रकार दिया है:—

मनुस्मृतिः—

ध्वजा हृत = युद्ध में जीता हुआ दास

भक्तदास = केवल भोजन पर निर्वाह करते रहने वाला दास

गृहज = घर की दासी से उत्पन्न हुआ

क्रीत = मोल लिया हुआ दास

दत्रिम = जिसे किसी ने दूसरे को दास रूप में दिया हो ।

पैतृक = जो बाप दादों से दाय में मिला हो

दण्डदास = जिसे राजा ने दास होने का दण्ड दिया हो ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में दासों के ये भेद दिए हैं ।:—

गृहजात, क्रीत, दाय—प्राप्त ।

अन्नय काल भृत् = अकाल या दुर्भिक्ष में जो पाला गया हो ।

आहित = जो स्वामी से इकट्ठा धन लेकर उसे सेवा द्वारा चुकाता हो ।

ऋण दास = जो ऋण लेकर दासत्व में पड़ा हो ।

युद्ध दास = युद्ध में दास ।

स्वयमुपात्त = स्वयं दास बनने आया हो ।

प्रव्रज्या वसित = जो सन्यास से पतित हो गया हो ।

कृत्तदास = जिसने कुछ कमाने के लिये सेवा करनी स्वीकार की हो ।

भक्त दास आत्म विक्रेता।

वडवाहृत = जो किसी बड़वा या दासी से विवाह करने से दास हुआ हो।

लब्ध दास = जो किसी से मिला हो।

इस शब्दार्थ विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में दास शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता था। दास का मतलब नौकर, दत्तक, गुलाम, कर्ज़ आदि था।

भारत में दास प्रथा का प्रारम्भ युद्धों, यज्ञों तथा महाजनों के लेन देन से हुआ है।

युद्ध-दास का कोई प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता। यज्ञों में शुनःशेप के क्रीत दास होने की कथा आती है परन्तु वहाँ भी अन्त में विश्वामित्र की सहायता से शुनःशेप दासता से मुक्त हो जाता है। यह कथा शतपथ ब्राह्मण तथा वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में आती है। वाल्मीकि रामायण में दास शब्द का प्रयोग प्रेष्य अर्थ में किया गया है। वाल्मीकि रामायण में जाति-दासी का भी उल्लेख है।

मन्थरा कैकेयी को कहती है:—

'प्राप्त वसुमतीं प्रीतिं पुनीतां हत विद्विषाम् उपस्थास्यति कौशल्यां दासी वत्त्वं कृताञ्जलिः'। 'एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यति' पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति'। मन्थरा कहती है कि राम के राजा बनने पर, हम सब कौसल्या तथा राम के दास, प्रेष्य, हुकम बजाने वाले नौकर हो जाएँगे।

वाल्मीकि रामायण से पता लगता है कि आर्य्य गृहों में, आर्य सभ्यता में, पुत्रों को बेचना, या किसी दूसरे मनुष्य को जड़ वस्तु की तरह समझना, अनार्यत्व है, म्लेच्छ लोग ही इस प्रथा को पसन्द कर सकते हैं। रामचन्द्र के गुणों का कीर्तन करते हुए कवि लिखते हैं:—

'आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः'। रामचन्द्र आर्य था, क्योंकि वह मनुष्य मात्र को मनुष्य समझता था। उस ने गुह तथा निषाद को दास व अस्पृश्य नहीं समझा। वह स्त्री जाति को भोग्य नहीं समझता था अपितु, मातृ शक्ति के रूप में उस की पूजा करता था।

राजा दशरथ लाचार हो कर कैकेयी को कहते हैं:—

'अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम्, विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मसंभवम्'। मुझ पुत्र विक्रेता को लोग अनार्य कह कर, गलियों और बाज़ारों में बदनाम करेंगे। वाल्मीकि रामायण ने भी दास-प्रथा को आर्य सभ्यता के विरुद्ध बताया है।

संस्कृत साहित्य में दास प्रथा के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ मृच्छकटिक है। जो लोग भारतीय दास प्रथा का अनुशीलन करना चाहते हों उन के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। हम यह लिख चुके हैं कि भारत वर्ष में दास तथा आर्य्य शब्द अंग्रेज़ों के (स्लेव) की तरह रूढ़ि नहीं थे। इस का प्रमाण इस ग्रन्थ में मिलता है।

वसन्तसेना को एक स्थान पर (२६पृष्ठ) जन्म दासी, गर्भ दासी कहा है। दूसरे स्थान पर (५१ पृष्ठ पर) उसी को आर्या नाम से सम्बोधित किया है। इसी नाटक के ८२ पृष्ठ पर 'दास्याः पुत्रः' शब्द, सेवक तथा नौकर अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। "एष इदानीं दास्या पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति"। शर्विलक मदनिका के साथ विवाह करना चाहता है परन्तु मदनिका वसन्तसेना की दासी है। इस हालत में जब तक वसन्तसेना मदनिका को दासीपन से मुक्त न करे विवाह नहीं हो सकता। इसी सिलसिले में वसन्तसेना की ओर से मदनिका कहती है:—

"शर्विलक! भणिता मयार्या। तदा भणति यदि ममच्छन्दस्तदा विनार्थं सर्वं परिजन (भृत्यादि को) मभुजिष्यं करिष्यामि"। वसन्तसेना कहती है कि यदि मेरा बस चले तो मैं सब को भुजिष्यता, दासता से बिना किसी आर्थिक अदला बदली के मुक्त कर दूँ।

आखिर चतुर्थ अंक में वसन्तसेना मदनिका को दासीपन से मुक्त कर देती है और शर्विलक का मदनिका से विवाह हो जाता है।

दासीपन से मुक्त मदनिका जाती हुई वसन्त सेना से कहती है:—

मदनिका—परित्यक्तास्म्यार्यया—आर्याने मुझे त्याग दिया।

वसन्त सेना—साम्प्रतं त्वमेव वन्दनीया सम्वृत्ता। अब तू भी बन्दनीय आर्या हो गई है।

शर्विलक—स्वस्ति भवत्यै, मदनिके!—सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः। यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठितम्॥

अर्थात्, अब तुझे जिसकी कृपा से वधू-शब्द मिला है उसे नमस्कार कर।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय रीति रिवाज़ों में दासों को स्वतन्त्र मनुष्य बनाने का विधान था। जिन लोगों ने पश्चिमीय तथा अमेरिकन दास प्रथा का अनुशीलन किया है उन्हें मालूम है कि वह कितनी जटिल थी। दास लोग कई कारणों से बिक जाते थे और वे जिन के हाथ बिक जाते थे वे स्वामी दासों के तन मन सब के मालिक थे। परन्तु भारत में यह हालत नहीं थी। इसी नाटक के अष्टम अङ्क में यह उल्लेख है कि शकार वसन्तसेना को अपने दासों द्वारा मरवाना चाहता है। दास स्त्री हत्या में पाप समझता है और कहता है कि:—

'प्रभवति भट्टकः शरीरस्य। न चारित्र्यस्य'। स्वामी मेरे शरीर के मालिक हैं चारित्र्य या सदाचार के नहीं। इसी प्रकार इस नाटक की गम्भीर आलोचना करने से यह भी पता लगता है कि मध्यकाल में दास प्रथा को दूर करने, निचली जातियों को उच्च जाति में प्रविष्ट कराने का काम बुद्ध भगवान् के शिष्यों ने पर्याप्त मात्रा तक किया था।

नाटक का भिक्षुपात्र बुद्धोपासिका वसन्तसेना की प्रशंसा तथा रक्षा करता है क्योंकि वसन्तसेना दासों को दासता से छुड़ाने वाली थी। आर्य चारुदत्त भी इसी विशेषता के कारण सर्व प्रिय है। उस ने लोकापवाद की परवाह न करते हुए जन्म-

दासी वसन्तसेना को आर्य्य जाति में मिलाने में संकोच नहीं किया।

इस सारे विवरण का सार यही है कि भारतीय साहित्य में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जहाँ दासों को (किसी भी प्रकार के दास क्यों न हों) दासत्व के बन्धन से मुक्त कराने का यत्न होता रहा है।

कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र के दास-कल्प प्रकरण में कई उपाय बताये गए हैं जिन के द्वारा भिन्न २ तरह के दासों को दासत्व से मुक्त किया जा सकता है।

इन सब उपायों का विस्तृत विवरण यहाँ अप्रासंगिक है।

यह ग्रन्थ मुसलमान शासन काल से पूर्व-काल का है। इस का मतलब यह है कि भारत वर्ष में चिरकाल से, यूरोपियन सभ्यता की उत्पत्ति से भी पूर्व, दास-प्रथा को दूर करने की कोशिश की जा रही थी।

युरोप में १८ वीं तथा १६ वीं सदी में ही दास प्रथा को नष्ट करने का आन्दोलन जारी किया गया है। यूरोप में एक ऐसा भी समय था जब कि वहाँ के विद्वान् दास-प्रथा को समाज का आवश्यक अंग समझते थे। परन्तु भारत वर्ष के इतिहास में कोई ऐसा विद्वान् नहीं दिखाई देता जो दास प्रथा को आवश्यक तथा अनिवार्य समझता हो। दोनों सभ्यताओं तथा दोनों साहित्यों का यह मौलिक भेद भारतीय सभ्यता की विशेषता को प्रकट कर रहा है। बड़ी २ संख्या में दासों की बिक्री तथा दासों का व्यापार मुसल्मानी शासन के बाद ही प्रचलित हुआ था। शूद्रों को दास समझना ठीक नहीं है। कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में आर्य तथा शूद्र के गुणों का वर्णन पृथक् किया गया है। ईसाइयों तथा मुसलमानों के क्रान्तिकारी धार्मिक आक्रमण तथा हिन्दुओं की कट्टरता के कारण दलित भाइयों और अब्राह्मणों की एक श्रेणी मध्यकाल से बन गई है जो इस समय भारतीय स्वराज्य के रास्ते में बाधक हो रही है। वर्तमान विदेशी सरकार ने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए जानबूझ कर इन दलित भाईयों को श्रेणी का रूप देना शुरू किया है।

यदि भारतीय शूद्रों को स्वकीय युद्धों, ऊँची जातियों तथा दलित जातियों के कलह से बचाना है तो प्रत्येक भारत-हितैषी को चाहिए कि वह भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श को सामने रखते हुए दलित जाति को अपना कर, भारतीय सभ्यता को दासता के कलंक से मुक्त करे। तभी हमारा देश सच्चे अर्थ में आर्य्यावर्त (मनुष्य को मनुष्य समझने वाले लोगों का निवास स्थान) बन सकेगा।

हमारा देश आर्यावर्त इसी लिए कहलाता था क्योंकि यहाँ की साधारण जनता आर्य्य थी, वह मनुष्यमात्र को अपना सा समझती थी। उस समय की आर्य्य जनता ने—"आर्य्यः स्वमिव परं पश्यति" के आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया था। जब भारत में यह दृश्य फिर उपस्थित होगा तभी हम गौरव के साथ आर्य्य-सभ्यता के नाम पर अभिमान कर सकेंगे।

मैं और तू

(पं० शान्तिस्वरूप विद्यालङ्कार अमरीका)

जाऊँगा मैं भी उधर ही तू जिधर ले जायगा।
सब खुशी से देख लूंगा जो मुझे दिखलायगा॥
यदि विपद कुछ आपड़ेगी तो भी तू ही साथ है।
शोक दुख सब मैं सहूँगा सामने जो आयगा॥ १॥

* * * *

छोड़ ही बैठा हूँ घर तो पास क्या या दूर क्या।
बांधली मैंने कमर, है कौन जो खुलवायगा॥
यदि पार हूं मैं सिन्धु के तो तू भी तो उस पार है।
चिन्ता करूं किस बात की फिर, मैं कि तू भटकायगा॥ २॥

* * * *

जिस नाव में मै चढ़ रहा हूँ तू वहां पहिले से है।
फिर क्यों डरूँ ? है कौन जो अब भी मुझे बहकायगा॥
मँजिल भले ही है कड़ी पर मैं अकेला हूँ नहीं।
पूरा भरोसा है मुझे-तू ही मुझे पहुँचायगा॥ ३॥

* * * *

तूफ़ान में मेरी कभी यदि नाव यह चकरायगी।
तो हाथ तेरा डांड बन कर पार खुद करवायगा॥
मै तो कहूंगा सर्वदा मैं सब भयों से दूर हूँ।
तू सूर्य है मेरे निकट, फिर भय-तिमिर क्या छायगा॥ ४॥

* * * *

जब बादलों की गड़गड़ाहट भी डरावेंगी मुझे।
तू ही चमक कर बादलों में मार्ग तब बतलायगा॥
पीछे कदम रक्खूँ न मैं प्रभु शक्ति वह तू दे मुझे।
तेरे बिना है कौन जो मुझ से मुझे मिलवायगा॥ ५॥

भगवती मदिरा

(आचार्य गड़बड़ानन्द)

महात्मा गान्धी का कहना कि 'शराब के दूर होने से भारत स्वराज्य के नज़दीक पहुँच जायेगा' मुझे कभी सच नहीं मालूम हुआ। पिछली लड़ाई में अंग्रेज़ी सरकार रोज़ हज़ारों बोतलें सिपाहियों को पिलाती थी। यही कारण है कि 'देवी' ने सिद्ध हो कर बृटिश सरकार को फ़तह दी। स्वराज्य की लड़ाई में कांग्रेस के योद्धा बग़ैर ब्राण्डी के क्या ऊँघा करेंगे?

* * *

कल देखा कि एक महात्मा बाज़ार की गन्दी गली में समाधि लगाये भगवती ब्राण्डी का आराधन कर रहे हैं। पता लगा कि यह महात्मा 'देवी' के प्रताप से द्वन्द्वातीत हो चुके हैं। 'विषय' और 'विषयी' का भेद टूट चुका है। सुख, दुःख का पर्दा उठ चुका है। महात्मा बोले—"मैं सूरज में विचर रहा हूँ, चाँद में घूम रहा हूँ"। मैं समझ गया कि भगवती देवी के प्रताप से महत्मा को सब अणिमादि सिद्धियाँ मिल चुकी हैं। सूरज चाँद को जब चाहें हाथ लगा सकते हैं। थोड़ी देर में महात्मा उठे और गालियों का 'सहस्रनाम' जपते हुए एक राही पर टूट पड़े। खूब गुत्थमगुत्था हुई। महात्मा को देवी के अनुग्रह से 'हस्तिबल' मिल चुका था; उन्हों ने राही को पटक दिया, घूंसे और मुक्के से अधमरा कर दिया। लोग चारों ओर से आ इकट्ठे हुए। देवदूत (पुलिस) भी हाज़िर हो गये। महात्मा जी को सदेह स्वर्ग (जेल) पहुँचाया गया। तब से मुझे पता लगा कि देवी का कितना प्रताप है। इस का रस समाधि सिद्ध कराने का एक 'मिक्श्चर' है। जैसे पहिले लोग महीनों पैदल सफर कर गंगा आदि तीर्थों पर पहुँचते थे पर आजकल रेलगाड़ी से महीनों का रास्ता दिनों में तय हो जाता है उसी तरह पहिले लोग सालों तप और योग से जिस पद को नहीं पाते थे उसे अब लोग देवी की कृपा से सहज में ही पा लेते हैं। मैं मदिरा को स्वर्ग पहुँचाने की रेलगाड़ी समझता हूँ। इसी लिये सरकार स्वर्ग पहुँचाने का किराया (शराब टैक्स) वसूल किया करती है।

* * *

देवीसिंह नामक "सिद्ध" से मेरा परिचय है। आप किसी समय बम्बई में सुप्रसिद्ध ठेकेदार थे। आपने एक ही साल में ५० हज़ार रुपये कमाये परन्तु "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" के अनुसार 'अर्थ' की ममता त्याग सब कुछ 'देवी' के अर्पण कर दिया। संसारी पुरुषों की तरह विषयों में ले जाने वाले अर्थ का सञ्चय नहीं किया। पूजापाठ से देवी प्रसन्न हो गई। आप को 'स्थिर-निर्विकल्प-समाधि' सिद्ध हो गई। दीन दुनियां का तांता टूट गया। अधर्मी डाक्टरों ने बहुत विघ्न डाले पर साधक की समाधि न टूटी। सांसारिक बन्धन टूट चुके हैं। जीव और ब्रह्म का

भेद भी मिटने वाला है। आशा है कि आप शीघ्र ही 'ब्रह्म-पद' पहुँच जायँगे।

* * *

यह देख कर मेरी देवी में भक्ति पहिले से सौगुना होगई है। मेरी समझ में हरेक कांग्रेसमैन को, अपितु हरेक भारतवासी को, रोज़ एक पेग चढ़ा लेना चाहिये, इससे हमारी लुप्त होती हुई अध्यात्मविद्या बच जायेगी। पहिले हरेक को संध्या, यम, नियम, योग सिखाये जाते थे। अब कलियुग के प्रताप से लोगों को फ़ुरसत नहीं है। न कोई सिखाने वाला है और न कोई सीखने वाला है। पेट बढ़ जाने से आसन और प्राणायाम ही सिद्ध नहीं होते, समाधि का तो किस्सा ही न छेड़िये। अब कलियुग में यह 'समाधि-सिद्धकारी-मिकश्चर' ही अवलम्ब रह गया है।

* * *

इस लिये मेरा प्रस्ताव है कि एक 'अखिल-भारतीय-समाधि-सिद्ध-कारिणी-सभा' खोली जाय। इस की शाखायें गाँव गाँव में हों। लोगों को प्राचीन लुप्त अध्यात्म विद्या के रहस्य इस के द्वारा समझाये जाँय। यह बात ठीक है कि इस महान् कार्य के लिये बहुत कम लोग अग्रसर होंगे पर इतना निश्चय है कि देवी के सच्चे भक्तों की संख्या बहुत हो जायगी। प्रचारक कम होंगे पर प्रचार ज़्यादह होगा। कांग्रेस के प्रचारकों की तरह नकली प्रचारक न होंगे। वे सच्चे देवी के उपासक होंगे। इसके अलावा स्वराज्य की समस्या भी खुद हल हो जायेगी। जब सब लोग सदेह स्वर्ग (जेल) पहुँच जायेंगे तो स्वराज्य भी हुआ ही हुआ है। मेरी समझ में जेल जाने का यह सत्याग्रह से अच्छा तरीका है। सरकार देवी को रोक भी नहीं सकती क्योंकि दोनों की पुरानी दोस्ती है। इस लिये हमें चाहिये कि देवी-भक्ति करते हुए जेल जांय। इस में अध्यात्म और राजनीति का समन्वय है। जहाँ एक तरफ़ प्राचीन विद्या का उद्धार होता है वहाँ स्वराज्य भी मिलता है। एक पन्थ दो काज। "किं बहुना विदुषामग्रे"।

दुराचार की चिकित्सा

(लेखक—श्री डा० राधाकृष्ण जी बी. एस सी., एम. बी. बी. एस.)

यह दो प्रकार की है:—

(१) अवरोधात्मक (प्रिवेन्टिव)

(२) अनवरोधात्मक (ऐकचुअल)

अवरोधात्मक-चिकित्सा

(१) भोजन चिकित्सा

भोजन ऐसा होना चाहिये जो उत्तेजक न हो परन्तु सुपच और पुष्टिकारक हो। मांस, मदिरा, चाय, काफ़ी इत्यादि का सेवन करना सर्वथा वर्जित है। दूध सब से उत्तम भोजन है क्योंकि जहाँ यह एक पूर्ण भोजन है वहाँ यह सुपच और सात्त्विक भी है। अर्थात्, यह रक्त के दबाव को बढ़ाता नहीं है। भोजन चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है।

संक्षेपतः निम्न बातों का ध्यान रखना चाहियेः—

(१) वे भोजन करने चाहियें जिन में हमारी रुचि हो।

(२) एक समय कई प्रकार के भोजन न करने चाहियें। एक समय एक ही प्रकार का भोजन करना बहुत उत्तम है।

(३) सर्वदा भोजन तभी करे जब कि पर्याप्त भूख लगी हो क्योंकि बिना भूख के खाने से अमृत भी विष हो जाता है।

(४) मिर्च और मसाले उत्तेजक होने के कारण वर्जित हैं। नमक भी कम खाना चाहिए।

(५) जहाँ तक हो सके भोजन अपने प्राकृतिक रूप में खाने चाहियें। जैसे गन्ने का रस पीने की अपेक्षा उस का चूसना बहुत लाभदायक है।

(६) जहां तक संभव हो भोजन पकाना न चाहिए क्योंकि इस से पोषक पदार्थ (वेटमेन्स) नष्ट हो जाते हैं। यदि पकाना पड़े तो घी या तेल में तल कर कभी न खाना चाहिए।

(७) फल, हरी सब्ज़ी और दूध का अधिकतर सेवन करना चाहिये।

(८) मांस सर्वदा वर्जित है क्योंकि इस से जीवन अस्थिर और छोटा हो जाता है तथा सहन शक्ति और साहस बहुत घट जाते हैं।

(९) पक्ष में एक वार उपवास अवश्य करना चाहियें।

थोड़े में कहें तो भोजन कठोर और सादा होना चाहिये। कठोर इस लिए क्योंकि स्वभावतः चबा कर खाना पड़ता है जिस से लार (सेलाइवा) अपना कार्य कर सकता है।

भोजन करने की रीति का जानना भी आवश्यक है। भोजन सर्वदा शान्ति पूर्वक स्वच्छ स्थान पर धीरे २ चबा २ कर करना चाहिये। झट उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिये जब कि आमाशय भरने का प्रथम अनुभव हो जिस का कि अभ्यास से पता लग जाता है।

(२) शारीरिक अवस्था

भोजन से उतर कर, उत्तम शरीर, दुराचार से बचाता है। दुराचार एक गिरावट का मार्ग है अतः बड़ा सुगम है। सदाचार उच्च मानसिक अवस्था का चिन्ह है और स्मरण रहे कि उत्तम मस्तिष्क सदा उत्तम शरीर में ही रह सकता है। उत्तम शरीर का मतलब केवल बल ही नहीं प्रत्युत् यह भी है कि किसी काम को मनुष्य एकग्रता से कितनी देर तक कर सकता है। अर्थात्, उस में सहन शक्ति, धैर्य और बल कितना है। अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में परीक्षणों द्वारा यह पता लगाया गया है कि सदाचारी यद्यपि दुराचारियों से बहुत बलवान् न भी हों परन्तु उन से ज्यादह निरन्तर कार्य कर सकते हैं। इस से स्पष्ट है कि शक्ति का योग (समय × कार्य) सदाचारियों में दुराचारियों की अपेक्षा अधिक होता है। उत्तम शारीरिक अवस्था प्राप्त करने के लिए व्यायाम, पूरी नींद, हलके सछिद्र रंगरहित कु-

पड़े और ब्रह्मचर्य का सेवन करना चाहिए।

व्यायाम इस प्रकार का करना चाहिये जिस से हृदय धीरे २ बलवान् होता रहे, अर्थात्, उस पर बहुत और सहसा भार न पड़ जावे तथा जब तक शरीर काम करता रहे तब तक हृदय साथ देता रहे। परीक्षणों से पता लगा है कि ये गुण हमारे आसनों में अधिकतर पाये जाते हैं। व्यायाम ऐसा करना चाहिए कि जिस से पेशियें सख्त न हो जावें परन्तु विश्राम की अवस्था में बड़ी कोमल और कार्य करने पर लोहे जैसी कठोर हो जावें। अर्थात्, उन में संकोच और विकास की शक्ति पर्याप्त मात्रा में हो। आसनों में यह गुण भी मिलता है। हृदय और पेशियों को बलवान् करने के साथ २ फुफ्फुस का भी शक्तिशाली बनाना अत्यन्त आवश्यक है। यह स्वच्छ खुले स्थान में प्राणायाम करने से हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की कम से कम ३ इन्च छाती फूलनी चाहिये।

(३) मानसिक अवस्था

वैसे तो उत्तम शरीर भी आत्मविश्वास उत्पन्न कर के मानसिक अवस्था की उन्नति में सहायक होता है परन्तु सदाचार के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि मन स्थिर और एकाग्र हो। यह गुण उत्तम विषयों पर मनन करने से आ सकता है। योगाभ्यास बहुत उपयोगी है यदि शारीरिक अवस्था को भुला न दिया जावे। मानसिक अवस्था की उन्नति के लिए सत्संग, उत्तम दृश्यों का देखना, कभी २ एकान्त सेवन, उपवास, स्वाध्याय, संध्या और सदुपदेश श्रवण भी बहुत लाभदायक हैं।

(४) सदाचार शिक्षण

सदाचार के भावों की वृद्धि के लिये शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है। प्रारम्भिक अवस्था में बच्चों को ऐसे स्थानों से हटा लेना चाहिये जहाँ दुराचार सम्बन्धी बात-चीत, दृश्य इत्यादि की संभावना हो। अतः एकान्त सेवन और स्थिर निरीक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। सदाचार शिक्षण का तब तक कोई लाभ नहीं जब तक कि गुरु और अध्यापकों का अपना आचार शुद्ध न हो क्योंकि आचार सदा अनुकरण करने से उन्नत होता है। सदाचार शिक्षण में शारीरिक दण्ड का प्रयोग बहुत कम करना चाहिये क्योंकि जहाँ इस से अंग-भंग होने का भय है वहाँ मार खा खा कर कभी २ बच्चों में लिङ्ग-सम्बन्धी दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषतः जब कि दण्ड नितम्ब और गालों पर दिया जाता है। परन्तु सदाचार शिक्षण के लिये दण्ड देना सर्वथा वर्जित नहीं है क्योंकि दण्ड मिलने पर बच्चों को पता लग जाता है कि दुराचार से एक यह भी हानि है। सर्वदा भर्त्सना और ताड़ना हानिकारक है। जहाँ हमें बच्चों को दुराचार की हानि बताने के लिए कभी २ दण्ड देना चाहिये वहाँ सदाचार के लाभ बताने के लिये कभी २ प्रशंसा

और इनाम भी देना चाहिये। यह ध्यान रहे कि सर्वदा प्रेम और कोमलता बच्चों को दुराचारी बना देते हैं। अध्यापकों का व्यवहार कोमल और दृढ़ होना चाहिये। सदाचार की शिक्षा देते समय इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि बालक पूरा बदमाश तो नहीं है। यदि हो तो उस के लिये उत्तम स्थान पागलखाना है।

(५) कार्य्यतत्परता

बच्चों को सर्वदा किसी न किसी काम में लगाये रखना चाहिये। इस में कोई सन्देह नहीं कि एक ही प्रकार का कार्य बहुत समय तक करते रहने से थकावट आ जाती है परन्तु कई प्रकार के कार्य बदल बदल कर करने से मन लगा रहता है। तथापि इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बालक बुरी तरह थक न जावें। कार्य-तत्पर रखने के लिये विद्यालय के अतिरिक्त समयों में आलेख्य, भजन, बढ़ईगिरी तथा अन्य शारीरिक श्रम के कार्य लाभदायक हैं।

(६) रोग-रक्षा

निम्न लिखित रोगों से उसे बचाना चाहिये।

(क) कब्ज या मलबन्धः—इस के लिये अच्छे भोजन के अतिरिक्त निम्न बातों का ध्यान रक्खें। प्रातः उठते ही एक गिलास जल घूंट घूंट कर के पीवें परन्तु जिन को हृदय के रोग हों उन को इस से सावधान रहना चाहिये। अनीमा तथा साधारण औषध-जैसे पैराफ़ीन का तेल, मधुयष्ट्यादि चूर्ण का सेवन करना चाहिये। पेट की मालिश करने से कब्ज़ी का निवारण होता है। यदि कब्ज़ी चिरस्थायी हो तो मैकफैडन की विधि उत्तम है। अर्थात्, व्यायाम के मध्य में कई बार गर्म नमकीन जल का सेवन करें।

(ख) भरे हुए मूत्राशय और आमाशयके साथ सोना हानिकारक है क्योंकि इससे प्रायः स्वप्न-दोष हो जाता है।

(ग) नेत्र रोग हो तो इन्हें अवश्य ठीक करवा लेना चाहिए।

(घ) मूत्रेन्द्रिय को स्वच्छ रखना चाहिये।

अवरोधात्मक चिकित्सा

यदि कोई दुराचारी हो जावे तो उपरोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त निम्न-लिखित चिकित्सा के करने की भी आवश्यकता होती है:—

(१) रोगी को बुरी संगत से तत्काल हटा लेना चाहिये। विदेश पर्यटन आवश्यक है तथा एकान्त सेवन सर्वथा वर्जित है। सत्संग, उत्तम पुस्तकों का पाठ और उत्तम दृश्यों का देखना लाभदायक है। परन्तु नाटक, सिनेमा हानिकारक हैं। रोगी को ऐसे स्थान पर रखना चाहिये जहाँ वह स्त्रियों को न देख सके।

(२) रोगी को किसी कार्य में तत्पर रखना बहुत आवश्यक है। उसे रोग की अवस्था के अनुसार कार्य देना चाहिये। काम लेने में चतुरता, को-

मलता और दृढ़ता का होना आवश्यक है।

(३) प्रारम्भ में पर्याप्त उपवास कराना चाहिये, तदनन्तर केवल दूध और फल देने चाहियें। ज्यों ज्यों उस की मानसिक अवस्था उन्नत होती जावे त्यों त्यों भोजन की मात्रा और गरिष्ठता भी बढ़ाते जावें परन्तु उत्तेजक भोजन सर्वथा वर्जित हैं।

(४) जब शारीरिक अवस्था अच्छी हो जावे तो व्यायाम, प्राणायाम और योगाभ्यास करवाने चाहियें परन्तु ऐसा न हो कि सब काम सहसा आरम्भ किये जावें।

(५) रोगी को पूरी नींद लेनी चाहिये। इसके लिये यदि सोने से पहले ठंडे जल से रोगी को स्नान कराया जाय और लघुशंका के लिये भी भेजा जाय तो उत्तम हो, ताकि सोने से पहले उस का मूत्राशय खाली रहे। रोगी को सीधा न सोने देना चाहिये, किसी करवट सुलाना लाभदायक है। प्रातः ज्यों ही रोगी की नींद खुले त्योंही रोगी को उठा देना चाहिये।

(६) स्नान रोगी की मानसिक अवस्था पर बहुत प्रभाव डालता है। यह ठण्डे जल से करवाना चाहिये तथा इस के पीछे शुष्क कपड़े से शरीर भली प्रकार पोंछना लाभदायक है। उष्णपाद स्नान (हौट-फ़ूट-बाथ) और शीत नितम्ब-स्नान (कोल्ड-हिप-बाथ) भी लाभदायक हैं।

(७) तीव्र और भयंकर अवस्थाओं में रोगी को नपुंसक करना उत्तम है जिस से रोगी अपने जैसी बुरी सन्तान उत्पन्न न कर सके। यदि विवाह ही न किया जाय तो अच्छा है अन्यथा पुरुषों में अण्डधारक रज्जु (स्पर्मेटिक कोर्ड) को बाँध देने से बड़ी सुगमता से नपुंसक किया जा सकता है।

(८) औषधि-चिकित्सा:—
निम्नलिखित औषधियाँ लाभदायक हैं:—

(१) पोटासियम ब्रोमाइड
(२) सोडियम ब्रोमाइड
(३) अमोनियम ब्रोमाइड
(५) स्पृट क्लोरोफ़ार्म
(३) टिञ्चर बैलाडुना
(७) टिञ्चर हायोसियामस.

यदि रोगी का मूत्र बहुत अम्ल क्रिया वाला हो तो सोडा बाईकार्ब देना चाहिए।

तीव्र अवस्थाओं में टिञ्चर ओपियाई और मौरफ़ीन का इन्जेक्शन करना लाभदायक है।

निम्नलिखित आयुर्वैदिक औषधियें भी इस के लिये उपयोगी हैं:—

(१) सौंफ़
(२) तवाशीर
(३) इलायची
(४) इन्द्र जौ
(५) चाँदी का वर्क
(६) धनियाँ
(७) कमर कस
(८) चने
(९) लस्सी

बहुत भयंकर और असाध्य रोगियों का सब से अच्छा इलाज पागलखाना ही है।

गङ्गा की बाढ़

(पं० वागीश्वर जी विद्यालङ्कार)

क्या व्योम में हैं पंख वाले शैल काले घूमते
या मत्त दिग्गज हैं दिगन्तों में निरंकुश झूमते।
क्या सत्व रज को जीत कर सर्वत्र तम है छा रहा
अथवा प्रलय की घोर रातों का प्रबल दल आ रहा ॥ १ ॥

* * * * *

क्या फूट निकला फोड़ कर पाताल को अंधेर है
या फैलता फुंकार कर यह फनियरों का ढेर है।
क्या काल की काली निराली झंडियाँ फहरा रहीं
या गोद से रवि की सुता है गिर रही लहरा रही ॥ २ ॥

* * * * *

क्या घिर रहा सब ओर दानव राज का परिवार है
या दिख रहा विकराल यह कलिकाल ही साकार है।
क्या भूल कर ये पुष्करावर्त्तक अभी हैं आ रहे
अथवा हमारे पाप ही प्रत्यक्ष हैं मँडरा रहे ॥ ३ ॥

* * * * *

क्या प्रेतपति के हैं भयंकर भूरि भैंसे भागते
या फिर रहे हैं पड़ितों के शाप जीते जागते।
क्या आज शंबरराज ने निज जाल है फैला दिया
अथवा किसी मायावि ने दुर्ज्ञेय जादू है किया ॥ ४ ॥

* * * * *

क्या नीलकण्ठेश्वर अकुण्ठित चण्ड-ताण्डव कर रहे
उनकी जटाओं के विकट हैं जूट जाल बिखर रहे।
या विश्व कर्मा चित्र अम्बर में बनाने के लिये
यह पृष्ठ काला कर रहा है बत्तियों से देखिये ॥ ५ ॥

* * * * *

क्या विश्व की रंग स्थली में शीघ्र ही नाटक नया
दुःखान्त कोई खेलने को काल नट है आ गया।
आकाश में कैसी अलौकिक चाँदनी नीली तनी
नीली जवनिकायें पड़ीं शोभा अनोखी है बनी ॥ ६ ॥

इस भाँति सब के लोचनों को चिर-चकित करते हुवे
सब ओर से घन घोर घन घुमड़े सलिल झरते हुवे।
क्या मन्दराचल से मथित यह सिन्धु करता शोर है
या गूंजता गिरिराज में मृगराज का रव घोर है ॥ ७ ॥

*   *   *   *   *

क्या चोट खाकर वज्र की गिरि रो रहे सब ओर से
या ये करोड़ों ही नगाड़े बज रहे हैं ज़ोर से।
इस छोर से उस छोर तक यूं दमकती है दामिनी
मानो उगलती जा रही है आग यह नट-भामिनी ॥ ८ ॥

*   *   *   *   *

क्या हो रहा फिर आज देवासुर महा-संग्राम है
बादल न ये पर अग्निबाणों का धुंआ उद्दाम है।
बूंदें नहीं ये किन्तु तीरों की प्रबल बोछार है
ये गरजते घन हैं न, छुटता वज्र बारंबार है ॥ ९ ॥

*   *   *   *   *

सब हो रहे हैं एक,जल-थल, लग गई ऐसी झड़ी
पथ भूल कर आकाश गङ्गा आज है क्या गिर पड़ी।
भरपूर भूतल पर बरसता वारि मूसल धार है
क्या धान लेकर कूटता यह वरुण का परिवार है ॥ १० ॥

*   *   *   *   *

क्या आज ऐसा बरस कर यह फिर न बरसेगा कभी
क्या चार भूतों की मिटा देगा जगत से बात भी।
क्या भूमि भर को क्रोध से सागर बना देगा अभी
क्या सोख कर सारा सलिल सागर सुखा देगा सभी ॥ ११ ॥

*   *   *   *   *

कितने दिनों से सूर्य भी शश-शृङ्ग सा है हो गया
इन बादलों से हार कर क्या मुंह छिपा कर सोगया।
क्या घोर घन-वन में भटक कर वह कहीं है खो गया
हर लेगया है तेज उसका भी ऋतु-ज्वर-रोग या ॥ १२ ॥

*   *   *   *   *

वह सामने भागीरथी है देखिये अठला रही
लहरा रही, छहरा रही, घहरा रही, भहरा रही।
कल थी वियोगिन सी मलिन मन, छीन तन दिखला रही
वह आज प्रिय उपकण्ठ से मिल कर परम सुख पा रही ॥ १३ ॥

उठतीं तरंगें तुंग हैं स्वाधीनता से खेलतीं
जो वस्तु आगे आगई, ले जारही हैं ढेलतीं।
कल-गान करतीं, पवन से पहचान करतीं, झूलतीं
चलतीं, मचलतीं हैं विचलतीं हर्ष से हैं फूलतीं ॥ १४ ॥

* * * * *

'हैं! किन्तु यह क्या बात'–चारों ओर पानी घिर गया
सब के प्रमोदामोद पर इक साथ पानी फिर गया।
क्षणमात्र में ही छोड़ कर वर रूप ये मायाविनी
'सूरप-नखा' सी हो गई उद्धत महा-भयदायिनी ॥ १५ ॥

* * * * *

'अति है बुरी सर्वत्र'-क्या यह ही सिखाने के लिये
अथवा भयंकर रूप ही अपना दिखाने के लिये,
तट तोड़ कर, झट छोड़ कर सीमा, निकट-गृह फोड़कर
बढ़ने लगी है, देखती पीछे नहीं मुंह मोड़ कर ॥ १६ ॥

* * * * *

गिरने लगी दीवार गल-गल कर धड़ा-धड़ ज़ोर से
हैं शब्द भीषण आरहे, इस ओर से उस ओर से।
काली अमावस की छटा, उस पर घिरी है घन-घटा
आकाश है पड़ता फटा, आतंक है आकर डटा ॥ १७ ॥

* * * * *

भूले अशन, भीगे वसन, बजते दशन हैं शीत से
सब ढूंढते फिरते शरण हैं मरण से हैं भीत-से।
छुटती नहीं ममता किसी से देह की, निज गेह की
धन धान्य में है मन लगा, स्थिति वृक्ष में है देह की ॥ १८ ॥

* * * * *

गृह हीन दीन बिलख रहे नर और नारी हैं सभी
हे नाथ ! दिखलाना हमें क्या और है तुमने अभी ?
यह क्या हुवा ! हैं ! वृक्ष भी–जिस का सहारा था लिया
जड़ से उखड़ कर गिर पड़ा, चुप-चाप आगे चल दिया ॥ १९ ॥

* * * * *

क्या आज जीवित ही हमें यह नरक में ले जायगा
ऊपर कभी, नीचे कभी, गोते हमें लगवायगा।
बिच्छू विषैले बह रहे हैं, सांप हैं फुंकारते
बढ़ते हमारी ओर ही हैं आ रहे मुंह फाड़ते ॥ २० ॥

बैठे हुवे ही छप्परों पर लोग कोई बह गये
कोई बिचारे हाय ! तिनके को तरसते रह गये ।
दुख देखने को जन्म-भर बच्चा किसी घर बच रहा
रोना सुनाने के लिये बूढ़ा कहीं पर बच रहा ॥ २१ ॥

*   *   *   *   *

कितनी जननियों को भरी वे गोद खाली हो गईं
कितनी सुहागिन आज फूटे भाग्यवाली हो गईं ।
बिछुड़े सहोदर से सहोदर संग सारे छुट गये
है कौन कह सकता-कि-कितने लाल किन के लुट गये ॥२२॥

*   *   *   *   *

क्या हाल पशुओं का हुवा ? यह बात ही पूछो नहीं,
जिस ओर जिन की मौत थी वे बह गये बेबस वहीं ।
रोने बिलखते ही हज़ारों दलदलों में गड़ गये
रक्षक न कोई भी बना—सब मर-मरा कर सड़ गये ॥ २३ ॥

*   *   *   *   *

हे भगवती भागीरथी ! यह खेल तूने क्या किया
अपने सुतों को नागिनी बन कर स्वयं ही खा लिया ।
तूने सहस्रों ही फनों से वह किया संहार है
जिस ओर देखो- आज करुणा पूर्ण हा-हा-कार है ॥ २४ ॥

*   *   *   *   *

निज गोद में सोने हुवों को मारना क्या धर्म है
अथवा छिपा इस कर्म में भी और ही कुछ मर्म है ।
तू हो गई परदेसियों की आज दासी दीन है
देखा न दुनियाँ में कहीं पर दीन का भी दीन है ॥ २५ ॥

सम्पादकीय

बेलगांव कांग्रेस

पिछले दिनों बम्बई में, देश भर के नेताओं ने मिल कर एकता सम्मेलन किया था। सम्मेलन की समाप्ति पर मौलाना मुहम्मद अली ने पिछले साल की महासभा के प्रधान की हैसीयत से देश के भिन्न २ दलों को बेलगांव में अपने २ अधिवेशन करने का निमन्त्रण दिया था। छोटे-मोटों से तो आशा थी ही कि वे बेलगांव में ही आकर जुड़ेंगे परन्तु लिबरल- फैडरेशन तथा मुस्लिम-लीग से भी पूरी उम्मीद थी कि वे क्रमिक एकता के लाने में अपना हाथ बटाएंगे । इन दोनों दलों के ने-

ताओं ने अपने अधिवेशनों को बेलगांव में न कर के अपनी अनुदारता का खूब खुल कर परिचय दिया है।

बम्बई के एकता- सम्मेलन का प्रत्यक्ष-फल अपरिवर्तनवादी तथा स्वराज्य वादियों का समझौता है। समझौते का रूप मताधिकार में परिवर्तन है। पहले चार आना देकर सब कोई महासभा के सदस्य बन सकते थे, अब प्रतिमास दो हज़ार गज़ सूत देने पर ही किसी व्यक्ति को मेम्बरी के योग्य समझा जायगा। इस सूत को कातने के लिये प्रत्येक व्यक्ति का स्वयं चरखा चलाना आवश्यक नहीं है। खरीद कर भी इतना ही हाथ-कता सूत देने पर मेम्बरी के लिये महासभा की शर्त पूरी हो जाती है।

इस समझौते का वास्तविक अभिप्राय क्या है? भाषा बड़ी छलिन है। वह भावों को प्रकट करने के स्थान पर छिपाने का कार्य अधिक करती है। इसी लिये जहां–तहां इस समझौते का अर्थ चरखे की विजय के रूप में उद्घोषित किया जा रहा है। कहा जाता है कि अब से चार आने की जगह दो हज़ार गज़ सूत महासभा की मेम्बरी के लिये आवश्यक शर्त हो गई है। यह ठीक भी है। परन्तु यह कहते हुए इस बात को न भुला देना चाहिये कि मताधिकार के लिये सूत को जो रूप दिया गया है वह स्पष्ट शब्दों में चरखे की विस्तृत माया को समेट लेता है। मोटे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अब सूत का कातना प्रत्येक सभासद् के लिये आवश्यक नहीं है। प्रस्ताव के शब्दों में यह नहीं है, परन्तु इन्हीं भावों के लिये प्रस्ताव का एक २ शब्द चुना गया है और इसी लिये समझौता सम्भव हो सका है।

हमारी सम्मति में बेलगांव की कांग्रेस में महात्मा गान्धी ने अपने आप को बिल्कुल स्वराज्यवादियों के हाथ में दे दिया है। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि इस समय दबे हुए शब्दों में महात्मा गान्धी ने महासभा से अपने कार्य-क्रम को स्थगित करा कर स्वराज्य-वादियों के कार्य-क्रम को मौका दिला दिया है। इस से महात्मा गान्धी के अनुयायी तो असन्तुष्ट हुए हैं परन्तु इसी से महात्मा गान्धी ने देखने वालों के सन्मुख सिद्ध कर दिया है कि वे निरे महात्मा नहीं हैं, अपितु, राजनीति के क्षेत्र में सधे हुए खिलाड़ी हैं।

महात्मा गान्धी ने स्वराज्य वादियों को मौका दिया है। अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए उन्हें खुले तौर से शायद मन-मानी करने की छुट्टी नहीं दी जा सकती थी, इस लिये जिस प्रकार भी उन के कार्य-क्रम के चलने में स्वराज्य-वादियों को सहायता दी जा सकती थी, वह सब, महात्मा गान्धी ने बड़ी बुद्धि-मत्ता से बेलगांव में दे दी है। अब स्वराज्य-वादियों को अपनी ज़िम्मेवारी समझ कर कार्य करना होगा। जब हम यह सोचते हैं कि महात्मा जी तथा उनके अनुयायियों ने अनिच्छा तथा प्रतिकूल-विचार-धारा के होते हुए भी स्वराज्य-वादियों को काम करने का मौका दिया है तब

ती देशबन्धु दास और पण्डित मोती-लाल नेहरू की ज़िम्मेवारी और भी बढ़ जाती है। उन्हीं के लिये अब तक चलते हुए देश के कार्य-क्रम को गौण रूप दिया गया है। इस अवसर से लाभ उठा कर यदि उन्होंने देश में अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी तो इस समझौते का लाभ होगा। परन्तु अपनी कृत्कार्यता को परखने से पूर्व, महात्मा गान्धी के कार्य-क्रम ने देश में जो जागृति उत्पन्न कर दी थी उस का उन्हें अवश्य ध्यान रखना होगा। हमें आशा रखनी चाहिये कि स्वराज्यवादी अपने उत्तर-दायित्व को भली प्रकार समझते हुए कार्य करेंगे।

शताब्दी पर साहित्य

मथुरा में धूम-धाम से शताब्दी महोत्सव मनाये जाने की तय्यारियाँ हो रहीं हैं। घर-घर में, प्रतिदिन, प्रातः काल, उत्सव के दिन गिने जा रहे हैं। आर्य-समाजियों का सब से बड़ा मेला होने वाला है। इस समय का लाभ उठा कर आर्य-समाज के माथे से कलङ्क की टीका सदा के लिये दूर किया जा सकता था, परन्तु उस तरफ़ जन्म-शताब्दी-कमेटी का बहुत कम ध्यान गया है। चारों तरफ़ से आवाज़ आ रही है कि आर्यसमाज में साहित्य बहुत थोड़ा है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त आर्य-समाज के साहित्य में जो भी ग्रन्थ लिखे गये हैं उन में से थोड़ों को छोड़ कर बाकी को तो साहित्य में गिनते हुए भी हमें शर्म आती है। ऐसी अवस्था में इस बहुमूल्य अवसर का लाभ न उठा कर स्वामी जी के ग्रन्थों को नये कागज़ों पर छापने और उनको नई २ जिल्दें बान्धने की तरफ़ ही अधिक ध्यान दिखाई देता है। हमारे कहने का यह अभिप्राय कभी नहीं कि स्वामी जी के ग्रन्थों का पुनः प्रकाशन रोक दिया जाय। उन का तो जितना भी प्रचार हो उतना ही वैदिक-धर्म का नाम उज्ज्वल होगा। परन्तु उन्हीं की पुनरावृत्तियें छपवाने और सुनहरी जिल्दें बन्धवाने तक ही यदि हमारी दौड़ रही तब तो आर्य-समाज में साहित्य की कमी वैसी की वैसी बनी रहेगी। विद्वान् लोगों के आर्य-समाज की तरफ़ न झुकने का मुख्य कारण यह भी है कि हमारे यहां उच्च कोटि के साहित्य का अत्यन्त अभाव है। ट्रेक्टों की संख्या गिजाइयों की तरह बढ़ती चली जा रही है और सम्भवतः शताब्दी के अवसर के लिये भी सैकड़ों तीसरे दर्जे के ट्रैक्ट तय्यार हो रहे हों। परन्तु याद रखनी चाहिये कि ऐसी घटिया किताबों की बढ़ती के साथ आर्य-समाज का गौरव घटता चला जा रहा है।

शताब्दी के अवसर पर आर्य-समाज के अगुओं को साहित्य-वृद्धि करने की तरफ़ जितना ध्यान देना चाहिये था उतना न देते देख कर हमें खेद होता है। क्या यह उचित नहीं कि जिस ऋषि की स्मृति मनाने के लिये हम हज़ारों रुपया ख़र्च कर डालेंगे, सात दिन का मेला कर के घरों को लौट आवेंगे, उस के लिये, साहित्य उत्पन्न करने के रूप में ऐसी

अमिट यादगारें बनाई जातीं जो आर्य-समाज के इतिहास में अपना स्थान स्थिर रूप से ग्रहण कर लेतीं ?

गुरुकुल-वृन्दावन

युक्त-प्रान्त की प्रतिनिधि सभा ने निश्चय कर लिया है कि वे अपने गुरुकुल में ऋषि दयानन्द की पाठ-विधि को अक्षरशः चलावेंगे । इसी हेतु से उन्होंने एक दम शिक्षा-क्रम में परिवर्तन कर दिया है । कार्यकर्ताओं में इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए अपेक्षणीय परिवर्तन किया गया है। वृन्दावन-गुरुकुल की सञ्चालक सभा ने यह कार्य बड़े महत्व का किया है । परन्तु अपने इरादे को क्रियात्मक रूप देते हुए उन्हों ने बहुत जल्दी की है । हमारी सम्मति में इस प्रकार कार्य प्रारम्भ करने की अपेक्षा यदि पहले विद्वानों को सलाह से प्रकृत पाठविधि का निश्चय कर लिया जाता और फिर चलती हुई पाठविधि को स्थगित किया जाता तो अच्छा रहता ।

ऋषि दयानन्द ने जो पाठविधि रखी है उसे भी वर्तमान अवस्थाओं के अनुसार निश्चित रूप देना अन्तरङ्ग या प्रतिनिधि सभा का कार्य नहीं है। इन सभाओं में चुनाव के अनुसार सभासदों का निश्चय होता है । उन सब का शिक्षा के सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक नहीं है । यदि ऋषि दयानन्द की शिक्षा पद्धति को ही चलाना है तो भी उसे प्रारम्भ करने से पहले उस के सम्भवनीय क्रियात्मक रूप पर भली भांति विद्वानों का विचार हो जाना अत्यन्त आवश्यक है । हम युक्तप्रान्त की अन्तरङ्ग सभा के फैसले को सराहना करते हैं परन्तु सभा के कार्यकर्ताओं के सम्मुख यह परामर्श रखना चाहते हैं कि वे पाठविधि का स्वयं निर्धारण करने की अपेक्षा इस विषय पर भिन्न भिन्न प्रान्तों के योग्य विद्वानों की सलाहों से फ़ायदा उठावें तो अच्छा है ।

गुरुकुल–समाचार

ऋतु उत्तम है। सर्दी अच्छी पड़ रही है। कभी कभी बादल घिर आते हैं, थोड़ी बहुत वर्षा भी हो जाती है। ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य साधारणतः अच्छा है। चिकित्सालय में मामूली ज्वर के एक दो रोगियों के सिवाय कोई रोगी नहीं।

पढ़ाइयां नियम पूर्वक चल रही हैं। स्नातक परीक्षा ६ फ़रवरी को शुरू होगी। अन्य श्रेणियों की परखपरीक्षायें भी इन्हीं दिनों होंगी । अतएव ब्रह्मचारी परीक्षाओं की तैय्यारी में लगे हुवे हैं। स्नातक परीक्षा को छोड़ कर शेष परीक्षायें शताब्दी महोत्सव के बाद १५ मार्च से होंगी। अधिकारी परीक्षा भी १५ मार्च से ही होगी।

गुरुकुल मुलतान की दशम श्रेणी के ब्रह्मचारी भी पहिले ही यहां आगये हैं और यहीं पर अन्य ब्रह्मचारियों के साथ अपने पाठ ख़तम कर रहे हैं।

बाढ़ के कारण गुरुकुलभूमि में रेत और मट्टी खूब भर गई है। क्रीड़ा क्षेत्रों में भी एक डेढ़ फ़ीट रेत भर गई थी। ब्रह्मचारियों ने परिश्रम कर के दो क्रीड़ा क्षेत्र बिलकुल साफ़ कर लिये हैं—उन में नित्य सायंकाल नियम पूर्वक खेल होते हैं। एक तीसरा क्रीड़ा क्षेत्र भी प्रायः साफ़ हो चुका है। ब्रह्मचारियों का यह परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। एक दो वर्षायें पड़ जाने से अब इन में घास भी पर्याप्त उग आयी है।

बाढ़ के कारण गिरे हुवे मकानों की मरम्मत शुरु होगयी है। जो मकान बिलकुल रहने योग्य नहीं रहे उन्हें तो अब खड़ा करना व्यर्थ ही है—क्योंकि कांगड़ी की भूमि से गुरुकुल को उठा लेना अब प्रायः निश्चित ही हो गया है। जो मकान अभी रहने लायक हैं उन्हें काम लायक बनाया जा रहा है।

गुरुकुल को भविष्य में कहां रखा जावे, इस बात का अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुवा। प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में कोई निर्णय न हो सका था। उसके बाद अन्तरंग सभा ने अपनी बैठक कर सर्वसम्मति से यही निश्चय किया है कि गुरुकुल को कांगड़ी की भूमि से उठा लिया जावे, पर उसे हरिद्वार के आस पास कहीं रखा जावे। इस हरिद्वार के आस पास स्थान का निश्चय करने के लिये डाक्टरों का कमीशन भी बनाया गया है। वह कमीशन भूमि को देख चुका है पर अभी उसने अपनी लिखित सम्मति नहीं दी।

भूमि के सम्बन्ध में अन्तिम निश्चय जनवरी के अन्त में प्रतिनिधि सभा के साधारण अधिवेशन में ही होगा। कमीशन की रिपोर्ट भी संभवतः उस में पेश होगी। पर अधिक सम्भावना यही है कि ज्वालापुर के पास गुरुकुल को रखने का निश्चय किया जावेगा।

इस वार गुरुकुल का महोत्सव शताब्दी के कारण होली के दिनों में न होकर ईस्टर की छुट्टियों में होगा। बाढ़के कारण उत्सव गुरुकुल भूमि में होना कठिन है। अतएव मायापुर वाटिका में ही उत्सव करने का निश्चय किया गया है

पिछले दिनों सभाओं की खूब रौनक रही। प्रति वर्ष अखिल भारतीय राष्ट्र महासभा के दिनों में यहां भी कांग्रेस का अधिवेशन वाग्वर्धिनी सभा की ओर से किया जाता है। इस वार भी यह खब धूम-धाम से किया गया। कांग्रेस के प्रधान, उपाध्याय देवराज जी सेठी थे। कांग्रेस का अधिवेशन चार दिन तक हुवा। कई आवश्यक प्रस्ताव स्वीकृत हुवे। खद्दर के मताधिकार का प्रस्ताव भी पेश हुवा पर बहुत विवाद के बाद गिर गया। इसके साथ गुरुकुल में चर्खे और खद्दर को सर्व प्रिय बनाने का प्रस्ताव स्वीकृत हुवा। इन प्रस्तावों के अतिरिक्त बङ्गाल आर्डिनांस, प्रवासी भारतीयों तथा ऐसे ही अ-

न्यान्य विषयों पर प्रस्ताव स्वीकृत हुवे।

इसके अतिरिक्त वाग्वर्धिनी सभा का जन्मोत्सव भी पिछले सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। स्नातक सत्यकेतु जी विद्यालंकार इसके सभा पति थे। सभा के अन्त में एक सहभोज भी हुवा।

गुरुकुल जन्मोत्सव की तिथि इस वार जन्मशताब्दि के उत्सव के बीच में ही पड़ती है। परन्तु उस समय अन्यान्य कार्यों के कारण वहां पर 'जन्मोत्सव' मनाना कठिन है अतएव १३ फ़रवरी को (१ फाल्गुन शुक्रवार) गुरुकुल जन्मोत्सव गुरुकुल-भूमि में ही मनाने का निश्चय किया गया है। सम्भवतः कांगड़ी भूमि में यह अन्तिम जन्मोत्सव ही होगा-अतः यह आशा की जाती है कि कम से कम स्नातक भाई तो अवश्य ही इस वार अधिक संख्या में उपस्थित होंगे। जन्मोत्सव मनाने के बाद ही सब कुलवासी शताब्दि महोत्सव के लिये यहां से चल पड़ेंगे।

उपाचार्य रामदेव जी अफ़्रीका से शीघ्र ही लौटने वाले हैं। वे सम्भवतः ७ फ़रवरी को बम्बई उतरेंगे।

शाखाएँ

सभी गुरुकुलों के उत्सव समीप आ रहे हैं। बची हुई पढ़ाइयां समाप्त हो रही हैं और परीक्षाओं के लिए तय्यारियां हो रही हैं। गुरुकुल कुरुक्षेत्र के उत्सव का अभी कुछ तय नहीं हो पाया। इन्द्रप्रस्थ का उत्सव सम्भवतः होलियों की छुट्टियों में मनाया जायगा। रायकोट गुरुकुल के वार्षिकोत्सव की तिथियां २७-२८-२९ जनवरी निश्चित की गई हैं। सूपा (गुजरात) गुरुकुल का उत्सव ५-६-७ फर्वरी को होगा। प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार गुरुकुल कांगड़ी से, इन्द्रप्रस्थ, सूपा तथा रायकोट, तीनों गुरुकुलों के उत्सवों पर सम्मिलित होंगे।

कुरुक्षेत्र गुरुकुल में महाशय धर्मदेव जी विद्यार्थी सहायक मुख्याधिष्ठाता तथा पं० सोमदत्त जी विद्यालंकार मुख्याध्यापक का कार्य बड़ी योग्यता से सम्पादन कर रहे हैं। इन्द्रप्रस्थ में पं० अमीचन्द्र जी विद्यालङ्कार के अधिष्ठातृत्व में गुरुकुल बहुत सन्तोष-जनक उन्नति कर रहा है। पं० ईश्वरदत्त जी विद्यालङ्कार बहुत देर तक रुग्ण होने के कारण सूपा गुरुकुल से बाहर रहे परन्तु अब वे वहीं पहुँच गये हैं और उन्होंने अपने कार्य को सम्भाल लिया है। पं० ईश्वरदत्त जी (भिषक्) विद्यालङ्कार हरियाने के आस पास जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में 'अष्टाध्यायी- विद्यापीठ' खोलने वाले हैं जिस में ऋषि-दयानन्द की पाठ-विधि के अनुसार पठन पाठन होगा।

Oxford *Caput* sitting there at dinner, in a dim but undeniable manner, in the City of Peeping Tom! He had, not without labour, to controvert the intrusive Bishop of Ely, the intrusive Abbot of Cluny Magnanimous Samson, his life is but a labour and a journey, a bustling and a justling, till the still Night come He is sent for again, over sea, to advise King Richard touching certain Peers of England, who had taken the Cross, but never followed it to Palestine, whom the Pope is inquiring after The magnanimous Abbot makes preparation for departure, departs, and——And Jocelin's Boswellean Narrative, suddenly shorn through by the scissors of Destiny, *ends* There are no words more, but a black line, and leaves of blank paper Irremediable the miraculous hand that held all this theatric-machinery suddenly quits hold, impenetrable Time-Curtains rush down, in the mind's eye all is again dark, void, with loud dinning in the mind's ear, our real-phantasmagory of St Edmundsbury plunges into the bosom of the Twelfth Century again, and all is over Monks, Abbot, Hero-worship, Government, Obedience, Cœur-de-Lion and St Edmund's Shrine, vanish like Mirza's Vision, and there is nothing left but a mutilated black Ruin amid green botanic expanses, and oxen, sheep and dilettanti pasturing in their places

CHAPTER XVII

THE BEGINNINGS

WHAT a singular shape of a Man, shape of a Time, have we in this Abbot Samson and his history, how strangely do modes, creeds, formularies, and the date and place of a man's birth, modify the figure of the man!

Formulas too, as we call them, have a *reality* in Human Life They are real as the very *skin* and

muscular tissue of a Man's Life, and a most blessed indispensable thing, so long as they have *vitality* withal, and are a *living* skin and tissue to him! No man, or man's life, can go abroad and do business in the world without skin and tissues. No, first of all, these have to fashion themselves,—as indeed they spontaneously and inevitably do. Foam itself, and this is worth thinking of, can harden into oyster-shell; all living objects do by necessity form to themselves a skin.

And yet, again, when a man's Formulas become *dead*; as all Formulas, in the progress of living growth, are very sure to do! When the poor man's integuments, no longer nourished from within, become dead skin, mere adscititious leather and callosity, wearing thicker and thicker, uglier and uglier; till no *heart* any longer can be felt beating through them, so thick, callous, calcified are they; and all over it has now grown mere calcified oyster-shell, or were it polished mother-of-pearl, inwards almost to the very heart of the poor man:—yes then, you may say, his usefulness once more is quite obstructed; once more, he cannot go abroad and do business in the world; it is time that *he* take to bed, and prepare for departure, which cannot now be distant!

Ubi homines sunt modi sunt. Habit is the deepest law of human nature. It is our supreme strength; if also, in certain circumstances, our miserablest weakness.—From Stoke to Stowe is as yet a field, all pathless, untrodden: from Stoke where I live, to Stowe where I have to make my merchandises, perform my businesses, consult my heavenly oracles, there is as yet no path or human footprint; and I, impelled by such necessities, must nevertheless undertake the journey. Let me go once, scanning my way with any earnestness of outlook, and successfully arriving, my footprints are an invitation to me a second time to go by the same way. It is easier than any other way; the industry of 'scanning' lies already invested in it for me; I can go this time with less of scanning, or without scanning

at all. Nay the very sight of my footprints, what a comfort for me; and in a degree, for all my brethren of mankind! The footprints are trodden and re-trodden; the path wears ever broader, smoother, into a broad highway, where even wheels can run; and many travel it,—till—till the Town of Stowe disappear from that locality (as towns have been known to do), or no merchandising, heavenly oracle, or real business any longer exist for one there: then why should anybody travel the way?—Habit is our primal, fundamental law; Habit and Imitation, there is nothing more perennial in us than these two. They are the source of all Working and all Apprenticeship, of all Practice and all Learning, in this world.

Yes, the wise man too speaks, and acts, in Formulas; all men do so. And in general, the more completely cased with Formulas a man may be, the safer, happier is it for him. Thou who, in an All of rotten Formulas, seemest to stand nigh bare, having indignantly shaken off the superannuated rags and unsound callosities of Formulas,—consider how thou too art still clothed! This English Nationality, whatsoever from uncounted ages is genuine and a fact among thy native People, in their words and ways: all this, has it not made for thee a skin or second skin, adhesive actually as thy natural skin? This thou hast not stripped off, this thou wilt never strip off: the humour that thy mother gave thee has to show itself through this. A common, or it may be an uncommon Englishman thou art: but, good Heavens, what sort of Arab, Chinaman, Jew-Clothesman, Turk, Hindoo, African Mandingo, wouldst thou have been, *thou* with those mother-qualities of thine!

It strikes me dumb to look over the long series of faces, such as any full Church, Courthouse, London-Tavern Meeting, or miscellany of men will show them. Some score or two of years ago, all these were little red-coloured pulpy infants; each of them capable of being kneaded, baked into any social form you chose: yet see now how they are fixed and hardened,—into

artisans, artists, clergy, gentry, learned serjeants, unlearned dandies, and can and shall now be nothing else henceforth!

Mark on that nose the colour left by too copious port and viands, to which the profuse cravat with exorbitant breast-pin, and the fixed, forward, and as it were menacing glance of the eyes correspond. That is a 'Man of Business', prosperous manufacturer, house-contractor, engineer, law-manager; his eye, nose, cravat have, in such work and fortune, got such a character: deny him not thy praise, thy pity. Pity him too, the Hard-handed, with bony brow, rudely combed hair, eyes looking out as in labour, in difficulty and uncertainty; rude mouth, the lips coarse, loose, as in hard toil and lifelong fatigue they have got the habit of hanging:—hast thou seen aught more touching than the rude intelligence, so cramped, yet energetic, unsubduable, true, which looks out of that marred visage? Alas, and his poor wife, with her own hands, washed that cotton neckcloth for him, buttoned that coarse shirt, sent him forth creditably trimmed as she could. In such imprisonment lives he, for his part; man cannot now deliver him: the red pulpy infant has been baked and fashioned *so*.

Or what kind of baking was it that this other brother-mortal got, which has baked him into the genus Dandy? Elegant Vacuum; serenely looking down upon all Plenums and Entities, as low and poor to his serene Chimeraship and *Non*entity laboriously attained! Heroic Vacuum; inexpugnable, while purse and present condition of society hold out; curable by no hellebore. The doom of Fate was, Be thou a Dandy! Have thy eye-glasses, opera-glasses, thy Long-Acre cabs with white-breeched tiger, thy yawning impassivities, pococurantisms; *fix* thyself in Dandyhood, undeliverable; it is thy doom.

And all these, we say, were red-coloured infants; of the same pulp and stuff, few years ago; now irretrievably shaped and kneaded as we see! Formulas? There is no mortal extant, out of the depths of Bedlam,

but lives all skinned, thatched, covered over with Formulas; and is, as it were, held in from delirium and the Inane by his Formulas! They are withal the most beneficent, indispensable of human equipments: blessed he who has a skin and tissues, so it be a living one, and the heart-pulse everywhere discernible through it. Monachism, Feudalism, with a real King Plantagenet, with real Abbots Samson, and their other living realities, how blessed!—

Not without a mournful interest have we surveyed that authentic image of a Time now wholly swallowed. Mournful reflections crowd on us;—and yet consolatory. How many brave men have lived before Agamemnon! Here is a brave governor Samson, a man *fearing God, and fearing nothing else*; of whom as First Lord of the Treasury, as King, Chief Editor, High Priest, we could be so glad and proud; of whom nevertheless Fame has altogether forgotten to make mention! The faint image of him, revived in this hour, is found in the gossip of one poor Monk, and in Nature nowhere else. Oblivion had so nigh swallowed him altogether, even to the echo of his ever having existed. What regiments and hosts and generations of such has Oblivion already swallowed! Their crumbled dust makes up the soil our life-fruit grows on. Said I not, as my old Nurse Fathers taught me, The Life-tree Igdrasil, which waves round thee in this hour, whereof thou in this hour art portion, has its roots down deep in the oldest Death Kingdoms; and grows; the Three Nornas, or *Times*, Past, Present, Future, watering it from the Sacred Well!

For example, who taught thee to *speak*? From the day when two hairy-naked or fig-leaved Human Figures began, as uncomfortable dummies, anxious no longer to be dumb, but to impart themselves to one another; and endeavoured, with gaspings, gesturings, with unsyllabled cries, with painful pantomime and interjections, in a very unsuccessful manner,—up to the writing of this present copyright Book, which also

is not very successful! Between that day and this, I say, there has been a pretty space of time, a pretty spell of work, which *somebody* has done! Thinkest thou there were no poets till Dan Chaucer? No heart burning with a thought, which it could not hold, and had no word for, and needed to shape and coin a word for,—what thou callest a metaphor, trope, or the like? For every word we have, there was such a man and poet. The coldest word was once a glowing new metaphor, and bold questionable originality. 'Thy very ATTENTION, does it not mean an *attentio*, a STRETCHING-TO?' Fancy that act of the mind, which all were conscious of, which none had yet named,—when this new 'poet' first felt bound and driven to name it! His questionable originality, and new glowing metaphor, was found adoptable, intelligible, and remains our name for it to this day.

Literature:—and look at Paul's Cathedral, and the Masonries and Worships and Quasi-Worships that are there; not to speak of Westminster Hall and its wigs! Men had not a hammer to begin with, not a syllabled articulation: they had it all to make;—and they have made it. What thousand thousand articulate, semi-articulate, earnest-stammering *Prayers* ascending up to Heaven, from hut and cell, in many lands, in many centuries, from the fervent kindled souls of innumerable men, each struggling to pour itself forth incompletely as it might, before the incompletest *Liturgy* could be compiled! The Liturgy, or adoptable and generally adopted Set of Prayers and Prayer Method, was what we can call the Select Adoptabilities, 'Select Beauties' well-edited (by Oecumenic Councils and other Useful-Knowledge Societies) from that wide waste imbroglio of Prayers already extant and accumulated, good and bad. The good were found adoptable by men; were gradually got together, well edited, accredited: the bad, found inappropriate, unadoptable, were gradually forgotten, disused and burnt. It is the way with human things. The first man who, looking with opened soul on this august Heaven and

Earth, this Beautiful and Awful, which we name Nature, Universe and such like, the essence of which remains forever UNNAMEABLE, he who first, gazing into this, fell on his knees awestruck, in silence as is likeliest,—he, driven by inner necessity, the 'audacious original' that he was, had done a thing, too, which all thoughtful hearts saw straightway to be an expressive, altogether adoptable thing! To bow the knee was ever since the attitude of supplication. Earlier than any spoken Prayers, *Litanias*, or *Leitourgias*, the beginning of all Worship,—which needed but a beginning, so rational was it. What a poet he! Yes, this bold original was a successful one withal. The well-head this one, hidden in the primeval dusks and distances, from whom as from a Nile-source all *Forms of Worship* flow:—such a Nile-river (somewhat muddy and malarious now!) of Forms of Worship sprang there, and flowed, and flows, down to Puseyism, Rotatory Calabash, Archbishop Laud at St. Catherine Creed's, and perhaps lower!

Things rise, I say, in that way. The *Iliad* Poem, and indeed most other poetic, especially epic things, have risen as the Liturgy did. The great *Iliad* in Greece, and the small *Robin Hood's Garland* in England, are each, as I understand, the well-edited 'Select Beauties' of an immeasurable waste imbroglio of Heroic Ballads in their respective centuries and countries. Think what strumming of the seven-stringed heroic lyre, torturing of the less heroic fiddle-catgut, in Hellenic Kings' Courts, and English wayside Public Houses, and beating of the studious Poetic brain, and gasping here too in the semi-articulate windpipe of Poetic men, before the Wrath of a Divine Achilles, the Prowess of a Will Scarlet or Wakefield Pindar, could be adequately sung! Honour to you, ye nameless great and greatest ones, ye long-forgotten brave!

Nor was the Statute *De Tallagio non concedendo*, nor any Statute, Law-method, Lawyer's-wig, much less were the Statute-Book and Four Courts, with Coke upon Lyttelton and Three Estates of Parliament in

the rear of them, got together without human labour,—mostly forgotten now! From the time of Cain's slaying Abel by swift head-breakage, to this time of killing your man in Chancery by inches, and slow heart-break for forty years,—there too is an interval! Venerable Justice herself began by Wild-Justice; all Law is as a tamed furrowfield, slowly worked out, and rendered arable, from the waste jungle of Club-Law. Valiant Wisdom tilling and draining; escorted by owl eyed Pedantry, by owlish and vulturish and many other forms of Folly,—the valiant husbandman assiduously tilling; the blind greedy enemy *too* assiduously sowing tares! It is because there is yet in venerable wigged Justice some wisdom, amid such mountains of wiggeries and folly, that men have not cast her into the River; that she still sits there, like Dryden's Head in the *Battle of the Books*,—a huge helmet, a huge mountain of greased parchment, of unclean horsehair, first striking the eye; and then in the innermost corner, visible at last, in size as a hazel-nut, a real fraction of God's Justice, perhaps not yet unattainable to some, surely still indispensable to all,—and men know not what to do with her! Lawyers were not all pedants, voluminous voracious persons; Lawyers too were poets, were heroes,—or their Law had been past the Nore long before this time. Their Owlisms, Vulturisms, to an incredible extent, will disappear by and by, their Heroisms only remaining, and the helmet be reduced to something like the size of the head, we hope!—

It is all work and forgotten work, this peopled, clothed, articulate-speaking, high-towered, wide-acred World. The hands of forgotten brave men have made it a World for us; they,—honour to them; they, in *spite* of the idle and the dastard. This English Land, here and now, is the summary of what was found of wise, and noble, and accordant with God's Truth, in all the generations of English Men. Our English Speech is speakable because there were Hero-Poets of our blood and lineage; speakable in proportion to the

number of these This Land of England has its conquerors, possessors, which change from epoch to epoch, from day to day; but its real conquerors, creators, and eternal proprietors are these following, and their representatives if you can find them. All the Heroic Souls that ever were in England, each in their degree, all the men that ever cut a thistle, drained a puddle out of England, contrived a wise scheme in England, did or said a true and valiant thing in England I tell thee, they had not a hammer to begin with, and yet Wren built St Paul's: not an articulated syllable; and yet there have come English Literatures, Elizabethan Literatures, Satanic-School, Cockney-School and other Literatures,—once more, as in the old time of the *Leitourgia*, a most waste imbroglio, and world-wide jungle and jumble; waiting terribly to be 'well-edited' and 'well-burnt'! Arachne started with forefinger and thumb, and had not even a distaff, yet thou seest Manchester, and Cotton Cloth, which will shelter naked backs, at twopence an ell

Work? The quantity of done and forgotten work that lies silent under my feet in this world, and escorts and attends me, and supports and keeps me alive, wheresoever I walk or stand, whatsoever I think or do, gives rise to reflections! Is it not enough, at any rate, to strike the thing called 'Fame' into total silence for a wise man? For fools and unreflective persons, she is and will be very noisy, this 'Fame', and talks of her 'immortals' and so forth but if you will consider it, what is she? Abbot Samson was not nothing because nobody *said* anything of him Or thinkest thou, the Right Honourable Sir Jabesh Windbag can be made something by Parliamentary Majorities and Leading Articles? Her 'immortals'! Scarcely two hundred years back can Fame recollect articulately at all, and there she but maunders and mumbles She manages to recollect a Shakespeare or so, and prates, considerably like a goose, about him, —and in the rear of that, onwards to the birth of Theuth, to Hengst's Invasion, and the bosom of

Eternity, it was all blank; and the respectable Teutonic Languages, Teutonic Practices, Existences, all came of their own accord, as the grass springs, as the trees grow, no Poet, no work from the inspired heart of a Man needed there; and Fame has not an articulate word to say about it! Or ask her, What, with all conceivable appliances and mnemonics, including apotheosis and human sacrifices among the number, she carries in her head with regard to a Wodan, even a Moses, or other such? She begins to be uncertain as to what they were, whether spirits or men of mould,—gods, charlatans, begins sometimes to have a misgiving that they were mere symbols, ideas of the mind, perhaps nonentities, and Letters of the Alphabet! She is the noisiest, inarticulately babbling, hissing, screaming, foolishest, unmusicallest of fowls that fly; and needs no 'trumpet', I think, but her own enormous goose-throat,—measuring several degrees of celestial latitude, so to speak Her 'wings', in these days, have grown far swifter than ever, but her goose-throat hitherto seems only larger, louder and foolisher than ever *She* is transitory, futile, a goose-goddess: —if she were not transitory, what would become of us! It is a chief comfort that she forgets us all, all, even to the very Wodans, and grows to consider us, at last, as probably nonentities and Letters of the Alphabet

Yes, a noble Abbot Samson resigns himself to Oblivion too, feels *it* no hardship, but a comfort, counts it as a still resting-place, from much sick fret and fever and stupidity, which in the night-watches often made his strong heart sigh Your most sweet voices, making one enormous goose voice, O Bobus and Company, how can they be a guidance for any Son of Adam? In *silence* of you and the like of you, the 'small still voices' will speak to him better, in which does lie guidance.

My friend, all speech and rumour is short-lived, foolish, untrue Genuine WORK alone, what thou workest faithfully, that is eternal, as the Almighty

Founder and World-Builder himself. Stand thou by that, and let 'Fame' and the rest of it go prating

Heard are the Voices,
Heard are the Sages,
The Worlds and the Ages
'*Choose well, your choice is*
Brief and yet endless

Here eyes do regard you,
In Eternity's stillness,
Here is all fulness,
Ye brave, to reward you:
Work, and despair not'[1]

[1] Goethe.

BOOK III—THE MODERN WORKER

CHAPTER I

PHENOMENA

But, it is said, our religion is gone: we no longer believe in St Edmund, no longer see the figure of him 'on the rim of the sky', minatory or confirmatory! God's absolute Laws, sanctioned by an eternal Heaven and an eternal Hell, have become Moral Philosophies, sanctioned by able computations of Profit and Loss, by weak considerations of Pleasures of Virtue and the Moral Sublime.

It is even so To speak in the ancient dialect, we 'have forgotten God',—in the most modern dialect and very truth of the matter, we have taken up the Fact of this Universe as it *is not* We have quietly closed our eyes to the eternal Substance of things, and opened them only to the Shows and Shams of things We quietly believe this Universe to be intrinsically a great unintelligible PERHAPS; extrinsically, clear enough, it is a great, most extensive Cattlefold and Workhouse, with most extensive Kitchen-ranges, Dining-tables,—whereat he is wise who can find a place! All the truth of this Universe is uncertain; only the profit and loss of it, the pudding and praise of it, are and remain very visible to the practical man

There is no longer any God for us! God's Laws are become a Greatest-Happiness Principle, a Parliamentary Expediency the Heavens overarch us only as an Astronomical Time-keeper, a butt for Herschel

telescopes to shoot science at, to shoot sentimentalities at:—in our and old Jonson's dialect, man has lost the *soul* out of him; and now, after the due period,—begins to find the want of it! This is verily the plague-spot; centre of the universal Social Gangrene, threatening all modern things with frightful death. To him that will consider it, here is the stem, with its roots and taproot, with its world-wide upas-boughs and accursed poison-exudations, under which the world lies writhing in atrophy and agony. You touch the focal-centre of all our disease, of our frightful nosology of diseases, when you lay your hand on this. There is no religion; there is no God; man has lost his soul, and vainly seeks antiseptic salt. Vainly: in killing Kings, in passing Reform Bills, in French Revolutions, Manchester Insurrections, is found no remedy. The foul elephantine leprosy, alleviated for an hour, reappears in new force and desperateness next hour.

For actually this is *not* the real fact of the world; the world is not made so, but otherwise!—Truly, any Society setting out from this No-God hypothesis will arrive at a result or two. The *Un*veracities, escorted, each Unveracity of them by its corresponding Misery and Penalty; the Phantasms, and Fatuities, and ten-years Corn-Law Debatings, that shall walk the Earth at noonday,—must needs be numerous! The Universe *being* intrinsically a Perhaps, being too probably an 'infinite Humbug', why should any minor Humbug astonish us? It is all according to the order of Nature; and Phantasms riding with huge clatter along the streets, from end to end of our existence, astonish nobody. Enchanted St. Ives' Workhouses and Joe-Manton Aristocracies; giant Working Mammonism near strangled in the partridge nets of giant-looking Idle Dilettantism,—this, in all its branches, in its thousand thousand modes and figures, is a sight familiar to us.

The Popish Religion, we are told, flourishes extremely in these years; and is the most vivacious

looking religion to be met with at present. '*Elle a trois cents ans dans le ventre*', counts M. Jouffroy; '*c'est pourquoi je la respecte!*'—The old Pope of Rome, finding it laborious to kneel so long while they cart him through the streets to bless the people on *Corpus-Christi* Day, complains of rheumatism; whereupon his Cardinals consult,—construct him, after some study, a stuffed cloaked figure, of iron and wood, with wool or baked hair; and place it in a kneeling posture. Stuffed figure, or rump of a figure; to this stuffed rump he, sitting at his ease on a lower level, joins, by the aid of cloaks and drapery, his living head and outspread hands: the rump with its cloaks kneels, the Pope looks, and holds his hands spread; and so the two in concert bless the Roman population on *Corpus-Christi* Day, as well as they can.

I have considered this amphibious Pope, with the wool-and-iron back, with the flesh head and hands; and endeavoured to calculate his horoscope. I reckon him the remarkablest Pontiff that has darkened God's daylight, or painted himself in the human retina, for these several thousand years. Nay, since Chaos first shivered, and 'sneezed', as the Arabs say, with the first shaft of sunlight shot through it, what stranger product was there of Nature and Art working together? Here is a Supreme Priest who believes God to be—What, in the name of God, *does* he believe God to be?—and discerns that all worship of God is a scenic phantasmagory of wax-candles, organ-blasts, Gregorian Chants, mass-brayings, purple monsignori, wool-and-iron rumps, artistically spread out,—to save the ignorant from worse.

O reader, I say not who are Belial's elect. This poor amphibious Pope, too, gives loaves to the Poor; has in him more good latent than he is himself aware of. His poor Jesuits, in the late Italian Cholera, were, with a few German Doctors, the only creatures whom dastard terror had not driven mad: they descended fearless into all gulfs and bedlams; watched over the pillow of the dying, with help, with counsel and hope;

shone as luminous fixed stars, when all else had gone out in chaotic night: honour to them! This poor Pope,—who knows what good is in him? In a Time otherwise too prone to forget, he keeps up the mournfulest ghastly memorial of the Highest, Blessedest, which once was; which, in new fit forms, will again partly have to be. Is he not as a perpetual death's-head and cross-bones, with their *Resurgam*, on the grave of a Universal Heroism,—grave of a Christianity? Such Noblenesses, purchased by the world's best heart's-blood, must not be lost; we cannot afford to lose them, in what confusions soever. To all of us the day will come, to a few of us it has already come, when no mortal, with his heart yearning for a 'Divine Humility', or other 'Highest form of Valour', will need to look for it in death's-heads, but will see it round him in here and there a beautiful living head.

Besides, there is in this poor Pope, and his practice of the Scenic Theory of Worship, a frankness which I rather honour. Not half and half, but with undivided heart does *he* set about worshipping by stage-machinery; as if there were now, and could again be, in Nature no other. He will ask you, what other? Under this my Gregorian Chant, and beautiful wax-light Phantasmagory, kindly hidden from you is an Abyss, of Black Doubt, Scepticism, nay Sansculottic Jacobinism; an Orcus that has no bottom. Think of that. 'Groby Pool *is* thatched with pancakes,'—as Jeannie Deans's Innkeeper defied it to be! The Bottomless of Scepticism, Atheism, Jacobinism, behold, it is thatched over, hidden from your despair, by stage-properties judiciously arranged. This stuffed rump of mine saves not me only from rheumatism, but you also from what other *isms*! In this your Life-pilgrimage Nowhither, a fine Squallacci marching-music, and Gregorian Chant, accompanies you, and the hollow Night of Orcus is well hid!

Yes truly, few men that worship by the rotatory Calabash of the Calmucks do it in half so great, frank or effectual a way. Drury-Lane, it is said, and that is

saying much, might learn from him in the dressing of parts, in the arrangement of lights and shadows He is the greatest Play-actor that at present draws salary in this world Poor Pope, and I am told he is fast growing bankrupt too; and will, in a measurable term of years (a great way *within* the 'three hundred'), not have a penny to make his pot boil! His old rheumatic back will then get to rest; and himself and his stage-properties sleep well in Chaos for evermore

Or, alas, why go to Rome for Phantasms walking the streets? Phantasms, ghosts, in this midnight hour, hold jubilee, and screech and jabber, and the question rather were, What high Reality anywhere is yet awake? Aristocracy has become Phantasm-Aristocracy, no longer able to *do* its work, not in the least conscious that it has any work longer to do Unable, totally careless to *do* its work, careful only to clamour for the *wages* of doing its work,—nay for higher, and *palpably* undue wages, and Corn-Laws and *increase* of rents, the old rate of wages not being adequate now! In hydra-wrestle, giant '*Millo*cracy' so called, a real giant, though as yet a blind one and but half-awake, wrestles and wrings in choking nightmare, 'like to be strangled in the partridge-nets of Phantasm-Aristocracy,' as we said, which fancies itself still to be a giant Wrestles, as under nightmare, till it do awaken, and gasps and struggles thousandfold, we may *say*, in a truly painful manner, through all fibres of our English Existence, in these hours and years! Is our poor English Existence wholly becoming a Nightmare, full of mere Phantasms?—

The Champion of England, cased in iron or tin, rides into Westminster Hall, 'being lifted into his saddle with little assistance,' and there asks, If in the four quarters of the world, under the cope of Heaven, is any man or demon that dare question the right of this King? Under the cope of Heaven no man makes intelligible answer,—as several men ought already to have done Does not this Champion too know the

world; that it is a huge Imposture, and bottomless Inanity, thatched over with bright cloth and other ingenious tissues? Him let us leave there, questioning all men and demons

Him we have left to his destiny, but whom else have we found? From this the highest apex of things, downwards through all strata and breadths, how many fully awakened Realities have we fallen in with — alas, on the contrary, what troops and populations of Phantasms, not God-Veracities but Devil-Falsities, down to the very lowest stratum,—which now, by such superincumbent weight of Unveracities, lies enchanted in St Ives' Workhouses, broad enough, helpless enough! You will walk in no public thoroughfare or remotest by-way of English Existence but you will meet a man, an interest of men, that has given up hope in the Everlasting, True, and placed its hope in the Temporary, half or wholly False The Honourable Member complains unmusically that there is 'devil's-dust' in Yorkshire cloth Yorkshire cloth,—why, the very Paper I now write on is made, it seems, partly of plaster-lime well-smoothed, and obstructs my writing! You are lucky if you can find now any good Paper,—any work really *done*, search where you will, from highest Phantasm apex to lowest Enchanted basis

Consider, for example, that great Hat seven feet high, which now perambulates London Streets, which my Friend Sauerteig regarded justly as one of our English notabilities, 'the topmost point as yet,' said he, 'would it were your culminating and returning point, to which English Puffery has been observed to reach!'—The Hatter in the Strand of London, instead of making better felt-hats than another, mounts a huge lath-and-plaster Hat, seven-feet high, upon wheels, sends a man to drive it through the streets, hoping to be saved *thereby*. He has not attempted to *make* better hats, as he was appointed by the Universe to do, and as with this ingenuity of his he could very probably have done, but his whole industry is turned to *persuade* us that he has made such! He too knows

that the Quack has become God. Laugh not at him, O *reader*, or do not laugh only. He has ceased to be comic; he is fast becoming tragic To me this all-deafening blast of Puffery, of poor Falsehood grown necessitous, of poor Heart-Atheism fallen now into Enchanted Workhouses, sounds too surely like a Doom's blast! I have to say to myself in old dialect 'God's blessing is not written on all this, His curse is written on all this!' Unless perhaps the Universe *be* a chimera,—some old totally deranged eight-day clock, dead as brass, which the Maker, if there ever was any Maker, has long ceased to meddle with?—To my Friend Sauerteig this poor seven-feet Hat-manufacturer, as the topstone of English Puffery, was very notable

Alas, that we natives note him little, that we view him as a thing of course, is the very burden of the misery. We take it for granted, the most rigorous of us, that all men who have made anything are expected and entitled to make the loudest possible proclamation of it, and call on a discerning public to reward them for it Every man his own trumpeter; that is, to a really alarming extent, the accepted rule Make loudest possible proclamation of your Hat· true proclamation if that will do, if that will not do, then false proclamation,—to such extent of falsity as will serve your purpose, as will not seem too false to be credible!—I answer, once for all, that the fact is not so. Nature requires no man to make proclamation of his doings and hat-makings, Nature forbids all men to make such There is not a man or hat maker born into the world but feels, or has felt, that he is degrading himself if he speak of his excellences and prowesses, and supremacy in his craft: his inmost heart says to him, 'Leave thy friends to speak of these, if possible, thy enemies to speak of these, but at all events, thy friends!' He feels that he is already a poor braggart, fast hastening to be a falsity and speaker of the Un truth

Nature's Laws, I must repeat, are eternal her

small still voice, speaking from the inmost heart of us, shall not, under terrible penalties, be disregarded No one man can depart from the truth without damage to himself, no one million of men, no Twenty-seven Millions of men. Show me a Nation fallen everywhere into this course, so that each expects it, permits it to others and himself, I will show you a Nation travelling with one assent on the broad way The broad way, however many Banks of England, Cotton-Mills and Duke's Palaces it may have Not at happy Elysian fields, and everlasting crowns of victory, earned by silent Valour, will this Nation arrive, but at precipices, devouring gulfs, if it pause not Nature has appointed happy fields, victorious laurel-crowns; but only to the brave and true *Un*nature, what we call Chaos, holds nothing in it but vacuities, devouring gulfs What are Twenty-seven Millions, and their unanimity? Believe them not the Worlds and the Ages, God and Nature and All Men say otherwise

'Rhetoric all this'? No, my brother, very singular to say, it is Fact all this Cocker's Arithmetic is not truer Forgotten in these days, it is old as the foundations of the Universe, and will endure till the Universe cease It is forgotten now, and the first mention of it puckers thy sweet countenance into a sneer but it will be brought to mind again,—unless indeed the Law of Gravitation chance to cease, and men find that they *can* walk on vacancy Unanimity of the Twenty-seven Millions will do nothing, walk not thou with them; fly from them as for thy life Twenty-seven Millions travelling on such courses, with gold jingling in every pocket, with vivats heaven-high, are incessantly advancing, let me again remind thee, towards the *firm-land's end*,—towards the end and extinction of what Faithfulness, Veracity, real Worth, was in their way of life Their noble ancestors have fashioned for them a 'life road',—in how many thousand senses, this! There is not an old wise Proverb on their tongue, an honest Principle articulated in their hearts into utterance, a wise true method of doing and dispatching any

work or commerce of men, but helps yet to carry them forward. Life is still possible to them, because all is not yet Puffery, Falsity, Mammon-worship and Unnature; because somewhat is yet Faithfulness, Veracity and Valour. With a certain very considerable finite quantity of Unveracity and Phantasm, social life is still possible; not with an infinite quantity! Exceed your certain quantity, the seven-feet Hat, and all things upwards to the very Champion cased in tin, begin to reel and flounder,—in Manchester Insurrections, Chartisms, Sliding scales; the Law of Gravitation not forgetting to act. You advance incessantly towards the land's end; you are, literally enough, 'consuming the way.' Step after step, Twenty-seven Million unconscious men,—till you are *at* the land's end; till there is not Faithfulness enough among you any more: and the next step now is lifted *not* over land, but into air, over ocean-deeps and roaring abysses:—unless perhaps the Law of Gravitation have forgotten to act?

O, it is frightful when a whole Nation, as our Fathers used to say, has 'forgotten God'; has remembered only Mammon, and what Mammon leads to! When your self trumpeting Hat-maker is the emblem of almost all makers, and workers, and men, that make anything,—from soul-overseerships, body-overseerships, epic poems, acts of parliament, to hats and shoe blacking! Not one false man but does uncountable mischief: how much, in a generation or two, will Twenty-seven Millions, mostly false, manage to accumulate? The sum of it, visible in every street, market place, senate house, circulating library, cathedral, cotton-mill, and union-workhouse, fills one *not* with a comic feeling!

CHAPTER II

GOSPEL OF MAMMONISM

READER, even Christian Reader as thy title goes, hast thou any notion of Heaven and Hell? I rather apprehend, not. Often as the words are on our tongue, they have got a fabulous or semi-fabulous character for most of us, and pass on like a kind of transient similitude, like a sound signifying little.

Yet it is well worth while for us to know, once and always, that they are not a similitude, nor a fable nor semi-fable; that they are an everlasting highest fact! 'No Lake of Sicilian or other sulphur burns now anywhere in these ages,' sayest thou? Well, and if there did not! Believe that there does not; believe it if thou wilt, nay hold by it as a real increase, a rise to higher stages, to wider horizons and empires. All this has vanished, or has not vanished; believe as thou wilt as to all this. But that an Infinite of Practical Importance, speaking with strict arithmetical exactness, an *Infinite*, has vanished or can vanish from the Life of any Man: this thou shalt not believe! O brother, the Infinite of Terror, of Hope, of Pity, did it not at any moment disclose itself to thee, indubitable, unnameable? Came it never, like the gleam of *preternatural* Oceans, like the voice of old Eternities, far-sounding through thy heart of hearts? Never? Alas, it was not thy Liberalism then; it was thy Animalism! The Infinite is more sure than any other fact. But only men can discern it; mere building beavers, spinning arachnes, much more the predatory vulturous and vulpine species, do not discern it well!—

'The word Hell', says Sauerteig, 'is still frequently in use among the English People: but I could not without difficulty ascertain what they meant by it. Hell generally signifies the Infinite Terror, the thing a man *is* infinitely afraid of, and shudders and shrinks from, struggling with his whole soul to escape from it.

There is a Hell therefore, if you will consider, which accompanies man, in all stages of his history, and religious or other development but the Hells of men and Peoples differ notably With Christians it is the infinite terror of being found guilty before the Just Judge. With old Romans, I conjecture, it was the terror not of Pluto, for whom probably they cared little, but of doing unworthily, doing unvirtuously, which was their word for un*man*fully. And now what is it, if you pierce through his Cants, his oft-repeated Hearsays, what he calls his Worships and so forth,—what is it that the modern English soul does, in very truth, dread infinitely, and contemplate with entire despair? What *is* his Hell, after all these reputable, oft-repeated Hearsays, what is it? With hesitation, with astonishment, I pronounce it to be The terror of "Not succeeding", of not making money, fame, or some other figure in the world,—chiefly of not making money! Is not that a somewhat singular Hell?'

Yes, O Sauerteig, it is very singular If we do not 'succeed', where is the use of us? We had better never have been born 'Tremble intensely,' as our friend the Emperor of China says *there* is the black Bottomless of Terror, what Sauerteig calls the 'Hell of the English!'—But indeed this Hell belongs naturally to the Gospel of Mammonism, which also has its corresponding Heaven For there *is* one Reality among so many Phantasms; about one thing we are entirely in earnest: The making of money Working Mammonism does divide the world with idle game-preserving Dilettantism —thank Heaven that there is even a Mammonism, *any*thing we are in earnest about! Idleness is worst, Idleness alone is without hope work earnestly at anything, you will by degrees learn to work at almost all things. There is endless hope in work, were it even work at making money

True, it must be owned, we for the present, with our Mammon Gospel, have come to strange conclusions We call it a Society, and go about professing openly

the totallest separation, isolation. Our life is not a mutual helpfulness; but rather, cloaked under due laws-of-war, named 'fair competition' and so forth, it is a mutual hostility. We have profoundly forgotten everywhere that *Cash-payment* is not the sole relation of human beings; we think, nothing doubting, that *it* absolves and liquidates all engagements of man. 'My starving workers?' answers the rich Millowner: 'Did not I hire them fairly in the market? Did I not pay them, to the last sixpence, the sum covenanted for? What have I to do with them more?'—Verily Mammon-worship is a melancholy creed. When Cain, for his own behoof, had killed Abel, and was questioned, 'Where is thy brother?' he too made answer, 'Am I my brother's keeper?' Did I not pay my brother *his* wages, the thing he had merited from me?

O sumptuous Merchant-Prince, illustrious game-preserving Duke, is there no way of 'killing' thy brother but Cain's rude way! 'A good man by the very look of him, by his very presence with us as a fellow wayfarer in this Life-pilgrimage, *promises* so much': woe to him if he forget all such promises, if he never know that they are given! To a deadened soul, seared with the brute Idolatry of Sense, to whom going to Hell is equivalent to not making money, all 'promises', and moral duties, that cannot be pleaded for in Courts of Requests, address themselves in vain. Money he can be ordered to pay, but nothing more. I have not heard in all Past History, and expect not to hear in all Future History, of any Society anywhere under God's Heaven supporting itself on such Philosophy. The Universe is not made so; it is made otherwise than so. The man or nation of men that thinks it is made so, marches forward nothing doubting, step after step; but marches—whither we know! In these last two centuries of Atheistic Government (near two centuries now, since the blessed restoration of his Sacred Majesty, and Defender of the Faith, Charles Second), I reckon that we have pretty well exhausted what of 'firm earth' there was for us to

march on,—and are now, very ominously, shuddering, reeling, and let us hope trying to recoil, on the cliff's edge!—

For out of this that we call Atheism come so many other *isms* and falsities, each falsity with its misery at its heels!—A SOUL is not like wind (*spiritus*, or breath) contained within a capsule; the ALMIGHTY MAKER is not like a Clockmaker that once, in old immemorial ages, having *made* his Horologe of a Universe, sits ever since and sees it go! Not at all. Hence comes Atheism; come, as we say, many other *isms*; and as the sum of all, comes Valetism, the *reverse* of Heroism; sad root of all woes whatsoever. For indeed, as no man ever saw the above-said wind-element enclosed within its capsule, and finds it at bottom more deniable than conceivable; so too he finds, in spite of Bridgewater Bequests, your Clockmaker Almighty an entirely questionable affair, a deniable affair;—and accordingly denies it, and along with it so much else. Alas, one knows not what and how much else! For the faith in an Invisible, Unnameable, Godlike, present everywhere in all that we see and work and suffer, is the essence of all faith whatsoever; and that once denied, or still worse, asserted with lips only, and out of bound prayerbooks only, what other thing remains believable? That Cant well-ordered is marketable Cant; that Heroism means gas-lighted Histrionism; that seen with 'clear eyes' (as they call Valet-eyes), no man is a Hero, or ever was a Hero, but all men are Valets and Varlets. The accursed practical quintessence of all sorts of Unbelief! For if there be now no Hero, and the Histrio himself begin to be seen into, what hope is there for the seed of Adam here below? We are the doomed everlasting prey of the Quack; who, now in this guise, now in that, is to filch us, to pluck and eat us, by such modes as are convenient for him. For the modes and guises I care little. The Quack once inevitable, let him come swiftly, let him pluck and eat me;—swiftly, that I may at least have done with him; for in his Quack-world I can have no wish to

linger Though he slay me, yet will I *not* trust in him. Though he conquer nations, and have all the Flunkeys of the Universe shouting at his heels, yet will I know well that *he* is an Inanity, that for him and his there is no continuance appointed, save only in Gehenna and the Pool Alas, the Atheist world, from its utmost summits of Heaven and Westminster Hall, downwards through poor seven-feet Hats and 'Unveracities fallen hungry', down to the lowest cellars and neglected hunger-dens of it, is very wretched

One of Dr Alison's Scotch facts struck us much[1] A poor Irish Widow, her husband having died in one of the Lanes of Edinburgh, went forth with her three children, bare of all resource, to solicit help from the Charitable Establishments of that City At this Charitable Establishment and then at that she was refused, referred from one to the other, helped by none,—till she had exhausted them all, till her strength and heart failed her she sank down in typhus-fever, died, and infected her Lane with fever, so that 'seventeen other persons' died of fever there in consequence The humane Physican asks thereupon, as with a heart too full for speaking, Would it not have been *economy* to help this poor Widow? She took typhus-fever, and killed seventeen of you!— Very curious The forlorn Irish Widow applies to her fellow-creatures, as if saying, 'Behold I am sinking, bare of help ye must help me! I am your sister, bone of your bone, one God made us· ye must help me!' They answer, 'No, impossible, thou art no sister of ours.' But she proves her sisterhood, her typhus-fever kills *them* they actually were her brothers, though denying it! Had human creature ever to go lower for a proof?

For, as indeed was very natural in such case, all government of the Poor by the Rich has long ago

[1] Observations on the Management of the Poor in Scotland By William Pulteney Alison, M D (Edinburgh, 1840)

been given over to Supply-and-demand, Laissez-faire and such like, and universally declared to be 'impossible'. 'You are no sister of ours; what shadow of proof is there? Here are our parchments, our padlocks, proving indisputably our money-safes to be *ours*, and you to have no business with them. Depart! It is impossible!'—Nay, what wouldst thou thyself have us do? cry indignant readers. Nothing, my friends,—till you have got a soul for yourselves again. Till then all things are 'impossible.' Till then I cannot even bid you buy, as the old Spartans would have done, two-pence worth of powder and lead, and compendiously shoot to death this poor Irish Widow: even that is 'impossible' for you. Nothing is left but that she prove her sisterhood by dying, and infecting you with typhus. Seventeen of you lying dead will not deny such proof that she *was* flesh of your flesh; and perhaps some of the living may lay it to heart.

'Impossible': of a certain two-legged animal with feathers it is said, if you draw a distinct chalk-circle round him, he sits imprisoned, as if girt with the iron ring of Fate; and will die there, though within sight of victuals,—or sit in sick misery there, and be fatted to death. The name of this poor two-legged animal is—Goose; and they make of him, when well fattened, *Pâté de foie gras*, much prized by some!

CHAPTER III

GOSPEL OF DILETTANTISM

BUT after all, the Gospel of Dilettantism, producing a Governing Class who do not govern, nor understand in the least that they are bound or expected to govern, is still mournfuller than that of Mammonism. Mammonism, as we said, at least works; this goes idle. Mammonism has seized some portion of the message

of Nature to man; and seizing that, and following it, will seize and appropriate more and more of Nature's message: but Dilettantism has missed it wholly. 'Make money': that will mean withal, 'Do work in order to make money.' But, 'Go gracefully idle in Mayfair,' what does or can that mean? An idle, game-preserving and even corn-lawing Aristocracy, in such an England as ours: has the world, if we take thought of it, ever seen such a phenomenon till very lately? Can it long continue to see such?

Accordingly the impotent, insolent Donothingism in Practice, and Saynothingism in Speech, which we have to witness on that side of our affairs, is altogether amazing. A Corn-Law demonstrating itself openly, for ten years or more, with 'arguments' to make the angels, and some other classes of creatures, weep! For men are not ashamed to rise in Parliament and elsewhere, and speak the things they do *not* think. 'Expediency,' 'Necessities of Party,' &c &c! It is not known that the Tongue of Man is a sacred organ; that Man himself is definable in Philosophy as an 'Incarnate *Word*'; the Word not there, you have no Man there either, but a Phantasm instead! In this way it is that Absurdities may live long enough,—still walking, and talking for themselves, years and decades after the brains are quite out! How are 'the knaves and dastards' ever to be got 'arrested' at that rate?—

'No man in this fashionable London of yours,' friend Sauerteig would say, 'speaks a plain word to me. Every man feels bound to be something more than plain; to be pungent withal, witty, ornamental. His poor fraction of sense has to be perked into some epigrammatic shape, that it may prick into me;—perhaps (this is the commonest) to be topsy-turvied, left standing on its head, that I may remember it the better! Such grinning inanity is very sad to the soul of man. Human faces should not grin on one like masks; they should look on one like faces! I love honest laughter, as I do sunlight; but not dishonest: most kinds of dancing too; but the St. Vitus kind not

at all! A fashionable wit, *ach Himmel*, if you ask, Which, he or a Death's-head, will be the cheerier company for me? pray send *not* him!'

Insincere Speech, truly, is the prime material of insincere Action Action hangs, as it were, *dissolved* in Speech, in Thought whereof Speech is the shadow, and precipitates itself therefrom The kind of Speech in a man betokens the kind of Action you will get from him Our Speech, in these modern days, has become amazing Johnson complained, 'Nobody speaks in earnest, Sir, there is no serious conversation' To us all serious speech of men, as that of Seventeenth-Century Puritans, Twelfth Century Catholics, German Poets of this Century, has become jargon, more or less insane Cromwell was mad and a quack; Anselm, Becket, Goethe, *ditto ditto*

Perhaps few narratives in History or Mythology are more significant than that Moslem one, of Moses and the Dwellers by the Dead Sea A tribe of men dwelt on the shores of that same Asphaltic Lake, and having forgotten, as we are all too prone to do, the inner facts of Nature, and taken up with the falsities and outer semblances of it, were fallen into sad conditions,—verging indeed towards a certain far deeper Lake Whereupon it pleased kind Heaven to send them the Prophet Moses, with an instructive word of warning, out of which might have sprung 'remedial measures' not a few. But no: the men of the Dead Sea discovered, as the valet-species always does in heroes or prophets, no comeliness in Moses, listened with real tedium to Moses, with light grinning, or with splenetic sniffs and sneers, affecting even to yawn; and signified, in short, that they found him a humbug, and even a bore Such was the candid theory these men of the Asphalt Lake formed to themselves of Moses, That probably he was a humbug, that certainly he was a bore

Moses withdrew, but Nature and her rigorous veracities did not withdraw The men of the Dead

Sea, when we next went to visit them, were all 'changed into Apes'[1], sitting on the trees there, grinning now in the most *un*affected manner; gibbering and chattering very genuine nonsense, finding the whole Universe now a most indisputable Humbug! The Universe has *become* a Humbug to these Apes who thought it one There they sit and chatter, to this hour only, I believe, every Sabbath there returns to them a bewildered half consciousness, half-reminiscence, and they sit, with their *wizened* smoke-dried *visages*, and such an air of supreme tragicality as Apes may, looking out through those blinking smoke-bleared eyes of theirs, into the wonderfullest universal smoky Twilight and undecipherable disordered Dusk of Things, wholly an Uncertainty, Unintelligibility, they and it, and for commentary thereon, here and there an unmusical chatter or mew —truest, tragicallest Humbug conceivable by the mind of man or ape! They made no use of their souls, and so have lost them Their worship on the Sabbath now is to roost there, with unmusical screeches, and half-remember that they had souls

Didst thou never, O Traveller, fall in with parties of this tribe? Meseems they are grown somewhat numerous in our day

CHAPTER IV

HAPPY

ALL work, even cotton-spinning, is noble; work is alone noble. be that here said and asserted once more. And in like manner, too, all dignity is painful, a life of ease is not for any man, nor for any god The life of all gods figures itself to us as a Sublime Sadness,—earnestness of Infinite Battle against Infinite Labour Our highest religion is named the 'Worship of Sorrow'.

[1] Sale's Koran (*Introduction*)

For the son of man there is no noble crown, well worn, or even ill worn, but is a crown of thorns!—These things, in spoken words, or still better, in felt instincts alive in every heart, were once well known

Does not the whole wretchedness, the whole *Atheism* as I call it, of man's ways, in these generations, shadow itself for us in that unspeakable Life-philosophy of his: The pretension to be what he calls 'happy'? Every pitifullest whipster that walks within a skin has his head filled with the notion that he is, shall be, or by all human and divine laws ought to be, 'happy' His wishes, the pitifullest whipster's, are to be fulfilled for him; his days, the pitifullest whipster's, are to flow on in ever-gentle current of enjoyment, impossible even for the gods The prophets preach to us, Thou shalt be happy, thou shalt love pleasant things, and find them The people clamour, Why have we not found pleasant things?

We construct our theory of Human Duties, not on any Greatest-Nobleness Principle, never so mistaken; no, but on a Greatest-Happiness Principle. 'The word *Soul* with us, as in some Slavonic dialects, seems to be synonymous with *Stomach*.' We plead and speak, in our Parliaments and elsewhere, not as from the Soul, but from the Stomach;—wherefore, indeed, our pleadings are so slow to profit We plead not for God's Justice; we are not ashamed to stand clamouring and pleading for our own 'interests', our own rents and trade-profits; we say, They are the 'interests' of so many; there is such an intense desire in us for them! We demand Free-Trade, with much just vociferation and benevolence, That the poorer classes, who are terribly ill-off at present, may have cheaper New-Orleans bacon Men ask on Free-trade platforms, How can the indomitable spirit of Englishmen be kept up without plenty of bacon? We shall become a ruined Nation!—Surely, my friends, plenty of bacon is good and indispensable: but, I doubt, you will never get even bacon by aiming only at that You are men, not animals of prey, well-used or ill-used!

Your Greatest-Happiness Principle seems to me fast becoming a rather unhappy one —What if we should cease babbling about 'happiness', and leave *it* resting on its own basis, as it used to do!

A gifted Byron rises in his wrath, and feeling too surely that he for his part is not 'happy', declares the same in very violent language, as a piece of news that may be interesting It evidently has surprised him much One dislikes to see a man and poet reduced to proclaim on the streets such tidings but on the whole, as matters go, that is not the most dislikable Byron speaks the *truth* in this matter Byron's large audience indicates how true it is felt to be

'Happy', my brother? First of all, what difference is it whether thou art happy or not! To-day becomes Yesterday so fast, all To-morrows become Yesterdays; and then there is no question whatever of the 'happiness', but quite another question Nay, thou hast such a sacred pity left at least for thyself, thy very pains, once gone over into Yesterday, become joys to thee. Besides, thou knowest not what heavenly blessedness and indispensable sanative virtue was in them, thou shalt only know it after many days, when thou art wiser!—A benevolent old Surgeon sat once in our company, with a Patient fallen sick by gormandizing, whom he had just, too briefly in the Patient's judgement, been examining The foolish Patient still at intervals continued to break in on our discourse, which rather promised to take a philosophic turn 'But I have lost my appetite,' said he, objurgatively, with a tone of irritated pathos, 'I have no appetite, I can't eat!'—'My dear fellow,' answered the Doctor in mildest tone, 'it isn't of the slightest consequence', —and continued his philosophical discoursings with us!

Or does the reader not know the history of that Scottish iron Misanthrope? The inmates of some town-mansion, in those Northern parts, were thrown into the fearfullest alarm by indubitable symptoms of a ghost inhabiting the next house, or perhaps even the partition-wall! Ever at a certain hour, with pre-

ternatural gnarring, growling and screeching, which attended as running bass, there began, in a horrid, semi-articulate, unearthly voice, this song. 'Once I was hap-hap-happy, but now I'm *mees*-erable! Clack-clack-clack, gnarr-r-r, whuz-z: Once I was hap-hap happy, but now I'm *mees*-erable!'—Rest, rest, perturbed spirit,—or indeed, as the good old Doctor said My dear fellow, it isn't of the slightest consequence! But no, the perturbed spirit could not rest, and to the neighbours, fretted, affrighted, or at least insufferably bored by him, it *was* of such consequence that they had to go and examine in his haunted chamber In his haunted chamber, they find that the perturbed spirit is an unfortunate—Imitator of Byron? No, is an unfortunate rusty Meat-jack, gnarring and creaking with rust and work, and this, in Scottish dialect, is *its* Byronian musical Life-philosophy, sung according to ability!

Truly, I think the man who goes about pothering and uproaring for his 'happiness',—pothering, and were it ballot-boxing, poem making, or in what way soever fussing and exerting himself,—he is not the man that will help us to 'get our knaves and dastards arrested'! No, he rather is on the way to increase the number,—by at least one unit and his tail! Observe, too, that this is all a modern affair, belongs not to the old heroic times, but to these dastard new times 'Happiness our being's end and aim', all that very paltry speculation, is at bottom, if we will count well, not yet two centuries old in the world

The only happiness a brave man ever troubled himself with asking much about was, happiness enough to get his work done. Not 'I can't eat!' but 'I can't work!' that was the burden of all wise complaining among men It is, after all, the one unhappiness of a man That he cannot work, that he cannot get his destiny as a man fulfilled Behold, the day is passing swiftly over, our life is passing swiftly over, and the night cometh, wherein no man can work. The night

once come, our happiness, our unhappiness,—it is all abolished, vanished, clean gone, a thing that has been. 'not of the slightest consequence' whether we were happy as eupeptic Curtis, as the fattest pig of Epicurus, or unhappy as Job with potsherds, as musical Byron with Giaours and sensibilities of the heart, as the unmusical Meat-jack with hard labour and rust! But our work,—behold that is not abolished, that has not vanished our work, behold, it remains, or the want of it remains,—for endless Times and Eternities, remains, and that is now the sole question with us for evermore! Brief brawling Day, with its noisy phantoms, its poor paper-crowns tinsel-gilt, is gone, and divine everlasting Night, with her star diadems, with her silences and her veracities, is come! What hast thou done, and how? Happiness, unhappiness all that was but the *wages* thou hadst, thou has spent all that, in sustaining thyself hitherward, not a coin of it remains with thee, it is all spent, eaten and now thy work, where is thy work? Swift, out with it, let us see thy work!

Of a truth, if man were not a poor hungry dastard, and even much of a blockhead withal, he would cease criticizing his victuals to such extent, and criticize himself rather, what he does with his victuals!

CHAPTER V

THE ENGLISH

And yet, with all thy theoretic platitudes, what a depth of practical sense in thee, great England! A depth of sense, of justice, and courage, in which, under all emergencies and world-bewilderments, and under this most complex of emergencies we now live in, there is still hope, there is still assurance!

The English are a dumb people They can do great acts, but not describe them Like the old Romans,

and some few others, *their* Epic Poem is written on the Earth's surface England her Mark! It is complained that they have no artists one Shakespeare indeed, but for Raphael only a Reynolds, for Mozart nothing but a Mr Bishop not a picture, not a song And yet they did produce one Shakespeare. consider how the element of Shakespearean melody does lie imprisoned in their nature, reduced to unfold itself in mere Cotton-mills, Constitutional Governments, and such like,—all the more interesting when it does become visible, as even in such unexpected shapes it succeeds in doing! Goethe spoke of the Horse, how impressive, almost affecting it was that an animal of such qualities should stand obstructed so, its speech nothing but an inarticulate neighing, its handiness mere *hoof*iness, the fingers all constricted, tied together, the finger-nails coagulated into a mere hoof, shod with iron The more significant, thinks he, are those eye-flashings of the generous noble quadruped, those prancings, curvings of the neck clothed with thunder

A Dog of Knowledge has free utterance, but the Warhorse is almost mute, very far from free! It is even so. Truly, your freest utterances are not by any means always the best. they are the worst rather, the feeblest, trivialest, their meaning prompt, but small, ephemeral Commend me to the silent English, to the silent Romans Nay, the silent Russians too I believe to be worth something are they not even now drilling, under much obloquy, an immense semi-barbarous half-world from Finland to Kamtschatka, into rule, subordination, civilization,—really in an old Roman fashion, speaking no word about it, quietly hearing all manner of vituperative Able Editors speak! While your ever-talking, ever-gesticulating French, for example, what are they at this moment drilling?—Nay, of all animals, the freest of utterance, I should judge, is the genus *Simia* go into the Indian woods, say all Travellers, and look what a brisk, adroit, unresting Ape-population it is!

The spoken Word, the written Poem, is said to be

an epitome of the man, how much more the done Work. Whatsoever of morality and of intelligence; what of patience, perseverance, faithfulness, or method, insight, ingenuity, energy; in a word, whatsoever of Strength the man had in him will lie written in the Work he does. To work: why, it is to try himself against Nature, and her everlasting unerring Laws; these will tell a true verdict as to the man. So much of virtue and of faculty did *we* find in him; so much and no more! He had such capacity of harmonizing himself with *me* and my unalterable ever-veracious Laws; of co-operating and working as *I* bade him;—and has prospered, and has not prospered, as you see!—Working as great Nature bade him: does not that mean virtue of a kind; nay, of all kinds? Cotton can be spun and sold, Lancashire operatives can be got to spin it, and at length one has the woven webs and sells them, by following Nature's regulations in that matter: by not following Nature's regulations, you have them not. You have them not;—there is no Cotton-web to sell: Nature finds a bill against you; your 'Strength' is not Strength, but Futility! Let faculty be honoured, so far as it is faculty. A man that can succeed in working is to me always a man.

How one loves to see the burly figure of him, this thick-skinned, seemingly opaque, perhaps sulky, almost stupid Man of Practice, pitted against some light adroit Man of Theory, all equipped with clear logic, and able anywhere to give you Why for Wherefore! The adroit Man of Theory, so light of movement, clear of utterance, with his bow full-bent and quiver full of arrow-arguments,—surely he will strike down the game, transfix everywhere the heart of the matter; triumph everywhere, as he proves that he shall and must do? To your astonishment, it turns out oftenest No. The cloudy-browed, thick soled, opaque Practicality, with no logic utterance, in silence mainly, with here and there a low grunt or growl, has in him what transcends all logic-utterance: a Congruity with the Unuttered. The Speakable, which lies atop, as a superficial film,

or outer skin, is his or is not his but the Doable, which reaches down to the World's centre, you find him there!

The rugged Brindley has little to say for himself, the rugged Brindley, when difficulties accumulate on him, retires silent, 'generally to his bed', retires 'sometimes for three days together to his bed, that he may be in perfect privacy there', and ascertain in his rough head how the difficulties can be overcome The ineloquent Brindley, behold he *has* chained seas together, his ships do visibly float over valleys, invisibly through the hearts of mountains, the Mersey and the Thames, the Humber and the Severn have shaken hands Nature most audibly answers, Yea! The man of Theory twangs his full-bent bow Nature's Fact ought to fall stricken, but does not his logic-arrow glances from it as from a scaly dragon, and the obstinate Fact keeps walking its way How singular! At bottom, you will have to grapple closer with the dragon, take it home to you, by real faculty, not by seeming faculty, try whether you are stronger or it is stronger Close with it, wrestle it sheer obstinate toughness of muscle, but much more, what we call toughness of heart, which will mean persistence hopeful and even desperate, unsubduable patience, composed candid openness, clearness of mind: all this shall be 'strength' in wrestling your dragon, the whole man's real strength is in this work, we shall get the measure of him here

Of all the Nations in the world at present the English are the stupidest in speech, the wisest in action As good as a 'dumb' Nation, I say, who cannot speak, and have never yet spoken,—spite of the Shakespeares and Miltons who show us what possibilities there are!— O Mr Bull, I look in that surly face of thine with a mixture of pity and laughter, yet also with wonder and veneration Thou complainest not, my illustrious friend; and yet I believe the heart of thee is full of sorrow, of unspoken sadness, seriousness,—profound melancholy (as some have said) the basis of thy being

Unconsciously, for thou speakest of nothing, this great Universe is great to thee Not by levity of floating, but by stubborn force of swimming, shalt thou make thy way The Fates sing of thee that thou shalt many times be thought an ass and a dull ox, and shalt with a godlike indifference believe it. My friend,—and it is all untrue, nothing ever falser in point of fact! Thou art of those great ones whose greatness the small passer-by does not discern Thy very stupidity is wiser than their wisdom A grand *vis inertiae* is in thee; how many grand qualities unknown to small men! Nature alone knows thee, acknowledges the bulk and strength of thee thy Epic, unsung in words, is written in huge characters on the face of this Planet, —sea-moles, cotton-trades, railways, fleets and cities, Indian Empires, Americas, New-Hollands, legible throughout the Solar System!

But the dumb Russians too, as I said, they, drilling all wild Asia and wild Europe into military rank and file, a terrible yet hitherto a prospering enterprise, are still dumber The old Romans also could not *speak*, for many centuries —not till the world was theirs, and so many speaking Greekdoms, their logic-arrows all spent, had been absorbed and abolished The logic-arrows, how they glanced futile from obdurate thick-skinned Facts, Facts to be wrestled down only by the real vigour of Roman thews!—As for me, I honour, in these loud-babbling days, all the Silent rather. A grand Silence that of Romans,—nay the grandest of all, is it not that of the gods! Even Triviality, Imbecility, that can sit silent, how respectable is it in comparison! The 'talent of silence' is our fundamental one Great honour to him whose Epic is a melodious hexameter Iliad, not a jingling Sham-Iliad, nothing true in it but the hexameters and forms merely But still greater honour, if his Epic be a mighty Empire slowly built together, a mighty Series of Heroic Deeds,—a mighty Conquest over Chaos; *which* Epic the 'Eternal Melodies' have, and must have, informed and dwelt in, as *it* sung itself! There

is no mistaking that latter Epic Deeds are greater than Words Deeds have such a life, mute but undeniable, and grow as living trees and fruit-trees do, they people the vacuity of Time, and make it green and worthy Why should the oak prove logically that it ought to grow, and will grow? Plant it, try it, what gifts of diligent judicious assimilation and secretion it has, of progress and resistance, of *force* to grow, will then declare themselves My much-honoured, illustrious, extremely inarticulate Mr Bull!—

Ask Bull his spoken opinion of any matter,—oftentimes the force of dullness can no farther go You stand silent, incredulous, as over a platitude that borders on the Infinite The man's Churchisms, Dissenterisms, Puseyisms, Benthamisms, College Philosophies, Fashionable Literatures, are unexampled in this world Fate's prophecy is fulfilled, you call the man an ox and an ass But set him once to work,—respectable man! His spoken sense is next to nothing, nine-tenths of it palpable *non*sense but his unspoken sense, his inner silent feeling of what is true, what does agree with fact, what is doable and what is not doable,—this seeks its fellow in the world A terrible worker, irresistible against marshes, mountains, impediments, disorder, incivilization, everywhere vanquishing disorder, leaving it behind him as method and order. He 'retires to his bed three days', and considers!

Nay withal, stupid as he is, our dear John,—ever, after infinite tumblings, and spoken platitudes innumerable from barrel heads and parliament-benches, he does settle down somewhere about the just conclusion, you are certain that his jumblings and tumblings will end, after years or centuries, in the stable equilibrium Stable equilibrium, I say, centre-of-gravity lowest,—not the unstable, with centre-of-gravity highest, as I have known it done by quicker people! For indeed, do but jumble and tumble sufficiently, you avoid that worse fault, of settling with your centre-of-gravity highest, your centre-of-gravity is certain to come lowest, and to stay there.

If slowness, what we in our impatience call 'stupidity', be the price of stable equilibrium over unstable, shall we grudge a little slowness? Not the least admirable quality of Bull is, after all, that of remaining insensible to logic; holding out for considerable periods, ten years or more, as in this of the Corn-Laws, after all arguments and shadow of arguments have faded away from him, till the very urchins on the street titter at the arguments he brings. Logic,—Λογική, the 'Art of Speech',—does indeed speak so and so; clear enough: nevertheless Bull still shakes his head; will see whether nothing else *illogical*, not yet 'spoken', not yet able to be 'spoken', do not lie in the business, as there so often does!—My firm belief is, that, finding himself now enchanted, hand-shackled, foot-shackled, in Poor-Law Bastilles and elsewhere, he will retire three days to his bed, and *arrive* at a conclusion or two! His three-years 'total stagnation of trade', alas, is not that a painful enough 'lying in bed to consider himself'? Poor Bull!

Bull is a born Conservative; for this too I inexpressibly honour him. All great Peoples are conservative; slow to believe in novelties; patient of much error in actualities; deeply and for ever certain of the greatness that is in LAW, in Custom once solemnly established, and now long recognized as just and final.—True, O Radical Reformer, there is no Custom that can, properly speaking, be final; none. And yet thou seest *Customs* which, in all civilized countries, are accounted final; nay, under the Old-Roman name of *Mores*, are accounted *Morality*, Virtue, Laws of God Himself. Such, I assure thee, not a few of them are; such almost all of them once were. And greatly do I respect the solid character,—a blockhead, thou wilt say; yes, but a well conditioned blockhead, and the best-conditioned,—who esteems all 'Customs once solemnly acknowledged' to be ultimate, divine, and the rule of a man to walk by, nothing doubting, not inquiring farther. What a time of it had we, were all men's life and trade still, in all

parts of it, a problem, a hypothetic seeking, to be settled by painful Logics and Baconian Inductions! The Clerk in Eastcheap cannot spend the day in verifying his Ready-Reckoner; he must take it as verified, true and indisputable; or his Book-keeping by Double Entry will stand still 'Where is your Posted Ledger?' asks the Master at night—'Sir,' answers the other, 'I was verifying my Ready-Reckoner, and find some errors The Ledger is—!'—Fancy such a thing!

True, all turns on your Ready-Reckoner being moderately correct,—being *not* insupportably incorrect! A Ready-Reckoner which has led to distinct entries in your Ledger such as these: '*Creditor* an English People by fifteen hundred years of good Labour, and *Debtor* to lodging in enchanted Poor-Law Bastilles: *Creditor* by conquering the largest Empire the Sun ever saw, and *Debtor* to Donothingism and "Impossible" written on all departments of the government thereof *Creditor* by mountains of gold ingots earned; and *Debtor* to No Bread purchasable by them' —*such* Ready-Reckoner, methinks, is beginning to be suspect, nay is ceasing, and has ceased, to be suspect! Such Ready-Reckoner is a Solecism in Eastcheap, and must, whatever be the press of business, and will and shall be rectified a little Business can go on no longer with *it* The most Conservative English People, thickest-skinned, most patient of Peoples, is driven alike by its Logic and its Unlogic, by things 'spoken', and by things not yet spoken or very speakable, but only felt and very unendurable, to be wholly a Reforming People Their Life as it is has ceased to be longer possible for them.

Urge not this noble silent People: rouse not the Berserkir rage that lies in them! Do you know their Cromwells, Hampdens, their Pyms and Bradshaws? Men very peaceable, but men that can be made very terrible! Men who, like their old Teutsch Fathers in Agrippa's days, 'have a soul that despises death', to whom 'death', compared with falsehoods and

injustices, is light,—'in whom there is a rage unconquerable by the immortal gods!' Before this, the English People have taken very preternatural looking Spectres by the beard, saying virtually: 'And if thou *wert* "preternatural"? Thou with thy "divine-rights" grown diabolic wrongs? Thou,—not even "natural", decapitable, totally extinguishable!'—— Yes, just so godlike as this People's patience was, even so godlike will and must its impatience be. Away, ye scandalous Practical Solecisms, children actually of the Prince of Darkness, ye have near broken our hearts, we can and will endure you no longer. Begone, we say, depart, while the play is good! By the Most High God, whose sons and born missionaries true men are, ye shall not continue here! You and we have become incompatible, can inhabit one house no longer. Either you must go, or we. Are ye ambitious to try *which* it shall be?

O my Conservative friends, who still specially name and struggle to approve yourselves 'Conservative', would to Heaven I could persuade you of this world-old fact, than which Fate is not surer, That Truth and Justice alone are *capable* of being 'conserved' and preserved! The thing which is unjust, which is *not* according to God's Law, will you, in a God's Universe, try to conserve that? It is so old, say you? Yes, and the hotter haste ought *you*, of all others, to be in to let it grow no older! If but the faintest whisper in your hearts intimate to you that it is not fair,—hasten, for the sake of Conservatism itself, to probe it rigorously, to cast it forth at once and for ever if guilty. How will or can you preserve *it*, the thing that is not fair? 'Impossibility' a thousandfold is marked on that. And ye call yourselves Conservatives, Aristocracies:—ought not honour and nobleness of mind, if they had departed from all the Earth elsewhere, to find their last refuge with you? Ye unfortunate!

The bough that is dead shall be cut away, for the sake of the tree itself. Old? Yes, it is too old. Many a weary winter has it swung and creaked there, and

gnawed and fretted, with its dead wood, the organic substance and still living fibre of this good tree, many a long summer has its ugly naked brown defaced the fair green umbrage, every day it has done mischief, and that only: off with it, for the tree's sake, if for nothing more; let the Conservatism that would preserve cut *it* away Did no wood forester apprise you that a dead bough with its dead root left sticking there is extraneous, poisonous, is as a dead iron spike, some horrid rusty ploughshare driven into the living substance,—nay is far worse, for in every windstorm ('commercial crisis' or the like), it frets and creaks, jolts itself to and fro, and cannot lie quiet as your dead iron spike would

If I were the Conservative Party of England (which is another bold figure of speech), I would not for a hundred thousand pounds an hour allow those Corn-Laws to continue! Potosi and Golconda put together would not purchase my assent to them Do you count what treasuries of bitter indignation they are laying up for you in every just English heart? Do you know what questions, not as to Corn-prices and Sliding-scales alone, they are *forcing* every reflective Englishman to ask himself? Questions insoluble, or hitherto unsolved, deeper than any of our Logic-plummets hitherto will sound: questions deep enough,—which it were better that we did not name even in thought! You are forcing us to think of them, to begin uttering them The utterance of them is begun; and where will it be ended, think you? When two millions of one's brother-men sit in Workhouses, and five millions, as is insolently said, 'rejoice in potatoes,' there are various things that must be begun, let them end where they can

CHAPTER VI

TWO CENTURIES

THE Settlement effected by our 'Healing Parliament' in the Year of Grace 1660, though accomplished under universal acclamations from the four corners of the British Dominions, turns out to have been one of the mournfullest that ever took place in this land of ours It called and thought itself a Settlement of brightest hope and fulfilment, bright as the blaze of universal tar-barrels and bonfires could make it · and we find it now, on looking back on it with the insight which trial has yielded, a Settlement as of despair. Considered well, it was a settlement to govern henceforth without God, with only some decent Pretence of God

Governing by the Christian Law of God has been found a thing of battle, convulsion, confusion, an infinitely difficult thing · wherefore let us now abandon it, and govern only by so much of God's Christian Law as—as may prove quiet and convenient for us. What is the end of Government ? To guide men in the way wherein they should go , towards their true good in this life, the portal of infinite good in a life to come ? To guide men in such way, and ourselves in such way, as the Maker of men, whose eye is upon us, will sanction at the Great Day ?—Or alas, perhaps at bottom *is* there no Great Day, no sure outlook of any life to come , but only this poor life, and what of taxes, felicities, Nell-Gwyns and entertainments we can manage to muster here ? In that case, the end of Government will be, To suppress all noise and disturbance, whether of Puritan preaching, Cameronian psalm-singing, thieves'-riot, murder, arson, or what noise soever, and—be careful that supplies do not fail ! A very notable conclusion, if we will think of it, and not without an abundance of fruits for us. Oliver Cromwell's body hung on the Tyburn-gallows, as the type of

Puritanism found futile, inexecutable, execrable,—yes, that gallows-tree has been a finger-post into very strange country indeed Let earnest Puritanism die, let decent Formalism, whatsoever cant it be or grow to, live! We have had a pleasant journey in that direction; and are—arriving at our inn?

To support the Four Pleas of the Crown, and keep Taxes coming in in very sad seriousness, has not this been, ever since, even in the best times, almost the one admitted end and aim of Government? Religion, Christian Church, Moral Duty, the fact that man had a soul at all, that in man's life there was any eternal truth or justice at all,—has been as good as left quietly out of sight Church indeed,—alas, the endless talk and struggle we have had of High-Church, Low-Church, Church-Extension, Church in Danger we invite the Christian reader to think whether it has not been a too miserable screech-owl phantasm of talk and struggle, as for a 'Church',—which one had rather not define at present!

But now in these godless two centuries, looking at England and her efforts and doings, if we ask, What of England's doings the Law of Nature had accepted, Nature's King had actually furthered and pronounced to have truth in them,—where is our answer? Neither the 'Church' of Hurd and Warburton, nor the Antichurch of Hume and Paine, nor in any shape the Spiritualism of England all this is already seen, or beginning to be seen, for what it is, a thing that Nature does *not* own On the one side is dreary Cant, with a *reminiscence* of things noble and divine, on the other is but acrid Candour, with a *prophecy* of things brutal, infernal Hurd and Warburton are sunk into the sere and yellow leaf, no considerable body of true seeing men looks thitherward for healing the Paine-and-Hume Atheistic theory, of 'things well let alone', with Liberty, Equality and the like, is also in these days declaring itself naught, unable to keep the world from taking fire.

The theories and speculations of both these parties,

and, we may say, of all intermediate parties and persons, prove to be things which the Eternal Veracity did not accept; things superficial, ephemeral, which already a near Posterity, finding them already dead and brown-leafed, is about to suppress and forget The Spiritualism of England, for those godless years, is, as it were, all forgettable Much has been written but the perennial Scriptures of Mankind have had small accession from all English Books, in rhyme or prose, in leather binding or in paper wrappage, how many verses have been added to these? Our most melodious Singers have sung as from the throat outwards: from the inner Heart of Man, from the great Heart of Nature, through no Pope or Philips, has there come any tone The Oracles have been dumb. In brief, the Spoken Word of England has not been true The Spoken Word of England turns out to have been trivial; of short endurance; not valuable, not available as a Word, except for the passing day It has been accordant with transitory Semblance; discordant with eternal Fact It has been unfortunately not a Word, but a Cant; a helpless involuntary Cant, nay too often a cunning voluntary one either way, a very mournful Cant; the Voice not of Nature and Fact, but of something other than these

With all its miserable shortcomings, with its wars, controversies, with its trades-unions, famine-insurrections,—it is her Practical Material Work alone that England has to show for herself! This, and hitherto almost nothing more; yet actually this The grim inarticulate veracity of the English People, unable to speak its meaning in words, has turned itself silently on things; and the dark powers of Material Nature have answered, 'Yes, this at least is true, this is not false!' So answers Nature 'Waste desert-shrubs of the Tropical swamps have become Cotton-trees; and here, under my furtherance, are verily woven shirts,—hanging unsold, undistributed, but capable to be distributed, capable to cover the bare backs of my children of men Mountains, old as the Creation,

I have permitted to be bored through; bituminous fuel-stores, the wreck of forests that were green a million years ago,—I have opened them from my secret rock-chambers, and they are yours, ye English Your huge fleets, steamships, do sail the sea, huge Indias do obey you, from huge *New* Englands and Antipodal Australias comes profit and traffic to this Old England of mine!' So answers Nature The Practical Labour of England is *not* a chimerical Triviality: it is a Fact, acknowledged by all the Worlds, which no man and no demon will contradict It is, very audibly, though very inarticulately as yet, the one God's Voice we have heard in these two atheistic centuries

And now to observe with what bewildering obscurations and impediments all this as yet stands entangled, and is yet intelligible to no man! How, with our gross Atheism, we hear it not to be the Voice of God to us, but regard it merely as a Voice of earthly Profit-and-Loss And have a Hell in England,—the Hell of not making money And coldly see the all-conquering valiant Sons of Toil sit enchanted, by the million, in their Poor-Law Bastille, as if this were Nature's Law, —mumbling to ourselves some vague janglement of Laissez faire, Supply-and-demand, Cash-payment the one nexus of man to man Free-trade, Competition, and Devil take the hindmost, our latest Gospel yet preached!

As if, in truth, there were no God of Labour; as if godlike Labour and brutal Mammonism were convertible terms A serious, most earnest Mammonism grown Midas eared, an unserious Dilettantism, earnest about nothing, grinning with inarticulate incredulous incredible jargon about all things, as the *enchanted* Dilettanti do by the Dead Sea! It is mournful enough, for the present hour, were there not an endless hope in it withal Giant LABOUR, truest emblem there is of God the World Worker, Demiurgus, and Eternal Maker, noble LABOUR, which is yet to be the King of this Earth, and sit on the highest

throne,—staggering hitherto like a blind irrational giant, hardly allowed to have his common place on the street-pavements, idle Dilettantism, Dead-Sea Apism crying out, 'Down with him, he is dangerous!'

Labour must become a seeing rational giant, with a *soul* in the body of him, and take his place on the throne of things,—leaving his Mammonism, and several other adjuncts, on the lower steps of said throne.

CHAPTER VII

OVER-PRODUCTION

But what will reflective readers say of a Governing Class, such as ours, addressing its Workers with an indictment of 'Over-production!' Over-production: runs it not so? 'Ye miscellaneous, ignoble manufacturing individuals, ye have produced too much! We accuse you of making above two-hundred thousand shirts for the bare backs of mankind Your trousers too, which you have made, of fustian, of cassimere, of Scotch-plaid, of jane, nankeen and woollen broadcloth, are they not manifold? Of hats for the human head, of shoes for the human foot, of stools to sit on, spoons to eat with—Nay, what say we hats or shoes? You produce gold-watches, jewelleries, silver-forks and epergnes, commodes, chiffoniers, stuffed sofas—Heavens, the Commercial Bazaar and multitudinous Howel-and-Jameses cannot contain you You have produced, produced,—he that seeks your indictment, let him look around Millions of shirts, and empty pairs of breeches, hang there in judgement against you We accuse you of over-producing. you are criminally guilty of producing shirts, breeches, hats, shoes and commodities, in a frightful over-abundance. And now there is a glut, and your operatives cannot be fed!'

Never surely, against an earnest Working Mammonism was there brought, by Game-preserving aristocratic Dilettantism, a stranger accusation, since

this world began My lords and gentlemen,—why, it was *you* that were appointed, by the fact and by the theory of your position on the Earth, to 'make and administer Laws',—that is to say, in a world such as ours, to guard against 'gluts', against honest operatives, who had done their work, remaining unfed! I say, *you* were appointed to preside over the Distribution and Apportionment of the Wages of Work done, and to see well that there went no labourer without his hire, were it of money-coins, were it of hemp gallows-ropes. that function was yours, and from immemorial time has been, yours, and as yet no other's These poor shirt-spinners have forgotten much, which by the virtual unwritten law of their position they should have remembered but by any written recognized law of their position, what have they forgotten? They were set to make shirts The Community with all its voices commanded them, saying, 'Make shirts',—and there the shirts are! Too many shirts? Well, that is a novelty, in this intemperate Earth, with its nine-hundred millions of bare backs! But the Community commanded you, saying, 'See that the shirts are well apportioned, that our Human Laws be emblem of God's Laws',—and where is the apportionment? Two million shirtless or ill-shirted workers sit enchanted in Workhouse Bastilles, five million more (according to some) in Ugolino Hunger-cellars, and for remedy, you say,—what say you?—'Raise *our* rents!' I have not in my time heard any stranger speech, not even on the Shores of the Dead Sea You continue addressing those poor shirt-spinners and over-producers, in really a *too* triumphant manner

'Will you bandy accusations, will you accuse *us* of over-production? We take the Heavens and the Earth to witness that we have produced nothing at all. Not from us proceeds this frightful overplus of shirts In the wide domains of created Nature circulates no shirt or thing of our producing Certain fox-brushes nailed upon our stable-door, the fruit of

fair audacity at Melton Mowbray, these we have produced, and they are openly nailed up there He that accuses us of producing, let him show himself, let him name what and when We are innocent of producing,—ye ungrateful, what mountains of things have we not, on the contrary, had to 'consume', and make away with! Mountains of those your heaped manufactures, wheresoever edible or wearable, have they not disappeared before us, as if we had the talent of ostriches, or cormorants, and a kind of divine faculty to eat? Ye ungrateful!—and did you not grow under the shadow of our wings? Are not your filthy mills built on these fields of ours, on this soil of England, which belongs to—whom think you? And we shall not offer you our own wheat at the price that pleases us, but that partly pleases you? A precious notion! What would become of you, if we chose, at any time, to decide on growing no wheat more?'

Yes, truly, *here* is the ultimate rock-basis of all Corn-Laws, whereon, at the bottom of much arguing, they rest, as securely as they can What would become of you, if we decided, some day, on growing no more wheat at all? If we chose to grow only partridges henceforth, and a modicum of wheat for our own uses? Cannot we do what we like with our own?—Yes, indeed! For my share, if I could melt Gneiss Rock, and create Law of Gravitation, if I could stride out to the Doggerbank, some morning, and striking down my trident there into the mud-waves, say, 'Be land, be fields, meadows, mountains and fresh-rolling streams!' by Heaven, I should incline to have the letting of *that* land in perpetuity, and sell the wheat of it, or burn the wheat of it, according to my own good judgement! My Corn-Lawing friends, you affright me

To the 'Millo cracy' so-called, to the Working Aristocracy, steeped too deep in mere ignoble Mammonism, and as yet all unconscious of its noble destinies, as yet but an irrational or semi-rational giant, strug-

gling to awake some soul in itself,—the world will have much to say, reproachfully, reprovingly, admonishingly. But to the Idle Aristocracy, what will the world have to say? Things painful and not pleasant!

To the man who *works*, who attempts, in never so ungracious barbarous a way, to get forward with some work, you will hasten out with furtherances, with encouragements, corrections, you will say to him: 'Welcome, thou art ours, our care shall be of thee' To the Idler, again, never so gracefully going idle, coming forward with never so many parchments, you will not hasten out, you will sit still, and be disinclined to rise You will say to him 'Not welcome, O complex Anomaly, would thou hadst stayed out of doors for who of mortals knows what to do with thee? Thy parchments: yes, they are old, of venerable yellowness; and we too honour parchment, old-established settlements, and venerable use and wont Old parchments in very truth —yet on the whole, if thou wilt remark, they are young to the Granite Rocks, to the Groundplan of God's Universe! We advise thee to put up thy parchments, to go home to thy place, and make no needless noise whatever Our heart's wish is to save thee: yet there as thou art, hapless Anomaly, with nothing but thy yellow parchments, noisy futilities, and shotbelts and fox brushes, who of gods or men can avert dark Fate? Be counselled, ascertain if no work exist for thee on God's Earth, if thou find no commanded-duty there but that of going gracefully idle? Ask, inquire earnestly, with a half-frantic earnestness, for the answer means Existence or Annihilation to thee We apprise thee of the world-old fact, becoming sternly disclosed again in these days, That he who cannot work in this Universe cannot get existed in it: had he parchments to thatch the face of the world, these, combustible fallible sheepskin, cannot avail him Home, thou unfortunate; and let us have at least no noise from thee!'

Suppose the unfortunate Idle Aristocracy, as the unfortunate Working one has done, were to 'retire

three days to *its* bed', and consider itself there, what o'clock it had become ?—

How have we to regret not only that men have 'no religion', but that they have next to no reflection; and go about with heads full of mere extraneous noises, with eyes wide-open but visionless,—for most part, in the somnambulist state !

CHAPTER VIII

UNWORKING ARISTOCRACY

It is well said, 'Land is the right basis of an Aristocracy', whoever possesses the Land, he, more emphatically than any other, is the Governor, Viceking of the people on the Land It is in these days as it was in those of Henry Plantagenet and Abbot Samson, as it will in all days be The land is *Mother* of us all, nourishes, shelters, gladdens, lovingly enriches us all, in how many ways, from our first awakening to our last sleep on her blessed mother-bosom, does she, as with blessed mother-arms, enfold us all !

The Hill I first saw the Sun rise over, when the Sun and I and all things were yet in their auroral hour, who can divorce me from it? Mystic, deep as the world's centre, are the roots I have struck into my Native Soil, no *tree* that grows is rooted so From noblest Patriotism to humblest industrial Mechanism, from highest dying for your country, to lowest quarrying and coal-boring for it, a Nation's Life depends upon its Land Again and again we have to say, there can be no true Aristocracy but must possess the Land

Men talk of 'selling' Land Land, it is true, like Epic Poems and even higher things, in such a trading world, has to be presented in the market for what it will bring, and as we say be 'sold'. but the notion of 'selling', for certain bits of metal, the *Iliad* of Homer, how much more the *Land* of the World-Creator, is a ridiculous impossibility! We buy what

is saleable of it, nothing more was ever buyable Who can, or could, sell it to us? Properly speaking, the Land belongs to these two To the Almighty God; and to all His Children of Men that have ever worked well on it, or that shall ever work well on it No generation of men can or could, with never such solemnity and effort, sell Land on any other principle it is not the property of any generation, we say, but that of all the past generations that have worked on it, and of all the future ones that shall work on it

Again, we hear it said, The soil of England, or of any country, is properly worth nothing, except 'the labour bestowed on it' This, speaking even in the language of Eastcheap, is not correct The rudest space of country equal in extent to England, could a whole English Nation, with all their habitudes, arrangements, skills, with whatsoever they do carry within the skins of them and cannot be stripped of, suddenly take wing and alight on it,—would be worth a very considerable thing! Swiftly, within year and day, this English Nation, with its multiplex talents of ploughing, spinning, hammering, mining, road-making and trafficking, would bring a handsome value out of such a space of country On the other hand, fancy what an English Nation, once 'on the wing', could have done with itself, had there been simply no soil, not even an inarable one, to alight on? Vain all its talents for ploughing, hammering, and whatever else, there is no Earth-room for this Nation with its talents· this Nation will have to *keep* hovering on the wing, dolefully shrieking to and fro, and perish piecemeal, burying itself, down to the last soul of it, in the waste unfirmamented seas Ah yes, soil, with or without ploughing, is the gift of God. The soil of all countries belongs evermore, in a very considerable degree, to the Almighty Maker! The last stroke of labour bestowed on it is not the making of its value, but only the increasing thereof

It is very strange, the degree to which these truisms are forgotten in our days, how, in the ever-whirling

chaos of Formulas, we have quietly lost sight of Fact, —which it is so perilous not to keep forever in sight. Fact, if we do not see it, will make us *feel* it by and by! —From much loud controversy, and Corn-Law debating there rises, loud though inarticulate, once more in these years, this very question among others, Who made the Land of England? Who made it, this respectable English Land, wheat-growing, metalliferous, carboniferous, which will let readily hand over head for seventy millions or upwards, as it here lies: who did make it?—'We!' answer the much-*consuming* Aristocracy; 'We!' as they ride in, moist with the sweat of Melton Mowbray. 'It is we that made it; or are the heirs, assigns and representatives of those who did!'—My brothers, You? Everlasting honour to you, then; and Corn-Laws as many as you will, till your own deep stomachs cry Enough, or some voice of Human pity for our famine bids you Hold! Ye are as gods, that can create soil. Soil-creating gods there is no withstanding. They have the might to sell wheat at what price they list; and the right, to all lengths, and famine-lengths,—if they be pitiless infernal gods! Celestial gods, I think, would stop short of the famine-price; but no infernal nor any kind of god can be bidden stop!——Infatuated mortals, into what questions are you driving every thinking man in England?

I say, you did *not* make the Land of England; and, by the possession of it, you *are* bound to furnish guidance and governance to England! That is the law of your position on this God's Earth; an everlasting act of Heaven's Parliament, not repealable in St Stephen's or elsewhere! True government and guidance; not no-government and Laissez-faire; how much less, *mis*-government and Corn-Law! There is not an imprisoned Worker looking out from these Bastilles but appeals, very audibly in Heaven's High Courts, against you, and me, and every one who is not imprisoned, 'Why am I here?' His appeal is audible in Heaven; and will become audible enough

on Earth too, if it remain unheeded here His appeal is against you, foremost of all, you stand in the front-rank of the accused, you, by the very place you hold, have first of all to answer him and Heaven!

What looks maddest, miserablest in these mad and miserable Corn Laws is independent altogether of their 'effect on wages', their effect on 'increase of trade', or any other such effect it is the continual maddening proof they protrude into the faces of all men, that our Governing Class, called by God and Nature and the inflexible law of Fact, either to do something towards governing, or to die and be abolished,—have not yet learned even to sit still and do no mischief! For no Anti-Corn-Law League yet asks more of them than this,—Nature and Fact, very imperatively, asking so much more of them Anti-Corn Law League asks not, Do something, but, Cease your destructive misdoing, Do ye nothing!

Nature's message will have itself obeyed messages of mere Free-Trade, Anti Corn Law League and Laissez-faire, will then need small obeying!—Ye fools, in name of Heaven, work, work, at the Ark of Deliverance for yourselves and us, while hours are still granted you! No instead of working at the Ark, they say, 'We cannot get our hands kept rightly warm', and *sit obstinately burning the planks* No madder spectacle at present exhibits itself under this Sun.

The Working Aristocracy, Mill owners, Manufacturers, Commanders of Working Men alas, against them also much shall be brought in accusation, much, —and the freest Trade in Corn, total abolition of Tariffs, and uttermost 'Increase of Manufactures' and 'Prosperity of Commerce', will permanently mend no jot of it The Working Aristocracy must strike into a new path; must understand that money alone is *not* the representative either of man's success in the world, or of man's duties to man and reform

their own selves from top to bottom, if they wish England reformed. England will not be habitable long, unreformed.

The Working Aristocracy—Yes, but on the threshold of all this, it is again and again to be asked, What of the Idle Aristocracy? Again and again, What shall we say of the Idle Aristocracy, the Owners of the Soil of England; whose recognized function is that of handsomely consuming the rents of England, shooting the partridges of England, and as an agreeable amusement (if the purchase-money and other conveniences serve), dilettante-ing in Parliament and Quarter-Sessions for England? We will say mournfully, in the presence of Heaven and Earth,—that we stand speechless, stupent, and know not what to say! That a class of men entitled to live sumptuously on the marrow of the earth, permitted simply, nay entreated, and as yet entreated in vain, to do nothing at all in return, was never heretofore seen on the face of this Planet. That such a class is transitory, exceptional, and, unless Nature's Laws fall dead, cannot continue. That it has continued now a moderate while; has, for the last fifty years, been rapidly attaining its state of perfection. That it will have to find its duties and do them; or else that it must and will cease to be seen on the face of this Planet, which is a Working one, not an Idle one.

Alas, alas, the Working Aristocracy, admonished by Trades-unions, Chartist conflagrations, above all by their own shrewd sense kept in perpetual communion with the fact of things, will assuredly reform themselves, and a working world will still be possible:—but the fate of the Idle Aristocracy, as one reads its horoscope hitherto in Corn-Laws and such like, is an abyss that fills one with despair. Yes, my rosy fox-hunting brothers, a terrible *Hippocratic look* reveals itself (God knows, not to my joy) through those fresh buxom countenances of yours. Through your Corn-Law Majorities, Sliding Scales, Protecting-Duties, Bribery-Elections, and triumphant Kentish-fire, a thinking eye discerns ghastly images of ruin, too

ghastly for words , a handwriting as of MENE, MENE Men and brothers, on your Sliding-scale you seem sliding, and to have slid,—you little know whither ! Good God ! did not a French Donothing Aristocracy, hardly above half a century ago, declare in like manner, and in its featherhead believe in like manner, 'We cannot exist, and continue to dress and parade ourselves, on the just rent of the soil of France , but we must have farther payment than rent of the soil, we must be exempted from taxes too,'—we must have a Corn-Law to *extend our rent* ? This was in 1789 in four years more—Did you look into the Tanneries of Meudon, and the long-naked making for themselves breeches of human skins ! May the merciful Heavens avert the omen , may we be wiser, that so we be less wretched

A High Class without duties to do is like a tree planted on precipices , from the roots of which all the earth has been crumbling Nature owns no man who is not a Martyr withal Is there a man who pretends to live luxuriously housed up , screened from all work, from want, danger, hardship, the victory over which is what we name work ,—he himself to sit serene, amid down-bolsters and appliances, and have all his work and battling done by other men ? And such man calls himself a *noble*-man ? His fathers worked for him, he says , or successfully gambled for him . here *he* sits , professes, not in sorrow but in pride, that he and his have done no work, time out of mind It is the law of the land, and is thought to be the law of the Universe, that he, alone of recorded men, shall have no task laid on him, except that of eating his cooked victuals, and not flinging himself out of window Once more I will say, there was no stranger spectacle ever shown under this Sun A veritable fact in our England of the Nineteenth Century His victuals he does eat but as for keeping in the inside of the window,—have not his friends, like me, enough to do ? Truly, looking at his Corn-Laws, Game-Laws, Chandos-Clauses, Bribery-

Elections and much else, you do shudder over the tumbling and plunging he makes, held back by the lapels and coatskirts, only a thin fence of window-glass before him,—and in the street mere horrid iron spikes! My sick brother, as in hospital-maladies men do, thou dreamest of Paradises and Eldorados, which are far from thee 'Cannot I do what I like with my own?' Gracious Heaven, my brother, this that thou seest with those sick eyes is no firm Eldorado, and Corn-Law Paradise of Donothings, but a dream of thy own fevered brain It is a glass-window, I tell thee, so many stories from the street, where are iron spikes and the law of gravitation!

What is the meaning of nobleness, if this be 'noble'? In a valiant suffering for others, not in a slothful making others suffer for us, did nobleness ever lie. The chief of men is he who stands in the van of men, fronting the peril which frightens back all others, which, if it be not vanquished, will devour the others Every noble crown is, and on Earth will for ever be, a crown of thorns The Pagan Hercules, why was he accounted a hero? Because he had slain Nemean Lions, cleansed Augean Stables, undergone Twelve Labours only not too heavy for a god In modern, as in ancient and all societies, the Aristocracy, they that assume the functions of an Aristocracy, doing them or not, have taken the post of honour, which is the post of difficulty, the post of danger,—of death, if the difficulty be not overcome *Il faut payer de sa vie* Why was our life given us, if not that we should manfully give it? Descend, O Donothing Pomp, quit thy down-cushions, expose thyself to learn what wretches feel, and how to cure it! The Czar of Russia became a dusty toiling shipwright, worked with his axe in the Docks of Saardam; and his aim was small to thine Descend thou undertake this horrid 'living chaos of Ignorance and Hunger' weltering round thy feet, say, 'I will heal it, or behold I will die foremost in it' Such is verily the law Everywhere and everywhen a man has to '*pay* with his life', to do his work, as a soldier does at the

expense of life In no Piepowder earthly Court can you sue an Aristocracy to do its work, at this moment · but in the Higher Court, which even *it calls* ' *Court of* Honour ', and which is the Court of Necessity withal, and the eternal Court of the Universe, in which all Fact comes to plead, and every Human Soul is an apparitor,—the Aristocracy is answerable, and even now answering, *there*

Parchments ? Parchments are venerable . but they ought at all times to represent, as near as they by possibility can, the writing of the Adamant Tablets , otherwise they are not so venerable ! Benedict the Jew in vain pleaded parchments , his usuries were too many The King said, ' Go to, for all thy parchments, thou shalt pay just debt ; down with thy dust, or observe this tooth-forceps ! ' Nature, a far juster Sovereign, has far terribler forceps Aristocracies, actual and imaginary, reach a time when parchment pleading does not avail them ' Go to, for all thy parchments, thou shalt pay due debt ! ' shouts the Universe to them, in an emphatic manner They refuse to pay, confidently pleading parchment their best grinder-tooth, with horrible agony, goes out of their jaw Wilt thou pay now ? A second grinder, again in horrible agony, goes a second, and a third, and if need be, all the teeth and grinders, and the life itself with them ,—and *then* there is free payment, and an anatomist-subject into the bargain !

Reform Bills, Corn-Law Abrogation Bills, and then Land-Tax Bill, Property-Tax Bill, and still dimmer list of *etceteras* , grinder after grinder ·—my lords and gentlemen, it were better for you to arise, and begin doing your work, than sit there and plead parchments !

We write no Chapter on the Corn-Laws, in this place , the Corn-Laws are too mad to have a Chapter There is a certain immorality, when there is not a necessity, in speaking about things finished , in chopping into small pieces the already slashed and slain When the

brains are out, why does not a Solecism die? It is at its own peril if it refuse to die; it ought to make all conceivable haste to die, and get itself buried! The trade of Anti-Corn-Law Lecturer in these days, still an indispensable, is a highly tragic one

The Corn-Laws will go, and even soon go: would we were all as sure of the Millennium as they are of going! They go swiftly in these present months, with an increase of velocity, an ever-deepening, ever-widening sweep of momentum, truly notable It is at the Aristocracy's own damage and peril, still more than at any other's whatsoever, that the Aristocracy maintains them,—at a damage, say only, as above computed, of a 'hundred thousand pounds an hour'! The Corn-Laws keep all the air hot: fostered by their fever-warmth, much that is evil, but much also, how much that is good and indispensable, is rapidly coming to life among us!

CHAPTER IX

WORKING ARISTOCRACY

A POOR Working Mammonism getting itself 'strangled in the partridge-nets of an Unworking Dilettantism', and bellowing dreadfully, and already black in the face, is surely a disastrous spectacle! But of a Midas eared Mammonism, which indeed at bottom all pure Mammonisms are, what better can you expect? No better, —if not this, then something other equally disastrous, if not still more disastrous. Mammonisms, grown asinine, have to become human again, and rational, they have, on the whole, to cease to be Mammonisms, were it even on compulsion, and pressure of the hemp round their neck!—My friends of the Working Aristocracy, there are now a great many things which you also, in your extreme need, will have to consider.

The Continental people, it would seem, are 'export-

ing our machinery, beginning to spin cotton and manufacture for themselves, to cut us out of this market and then out of that'! Sad news indeed, but irremediable;—by no means the saddest news. The saddest news is, that we should find our National Existence, as I sometimes hear it said, depend on selling manufactured cotton at a farthing an ell cheaper than any other People. A most narrow stand for a great Nation to base itself on! A stand which, with all the Corn-Law Abrogations conceivable, I do not think will be capable of enduring.

My friends, suppose we quitted that stand; suppose we came honestly down from it, and said: 'This is our minimum of cotton-prices. We care not, for the present, to make cotton any cheaper. Do you, if it seem so blessed to you, make cotton cheaper. Fill your lungs with cotton-fuz, your hearts with copperas-fumes, with rage and mutiny; become ye the general gnomes of Europe, slaves of the lamp!'—I admire a Nation which fancies it will die if it do not undersell all other Nations, to the end of the world. Brothers, we will cease to *under*sell them; we will be content to *equal*-sell them; to be happy selling equally with them! I do not see the use of underselling them. Cotton cloth is already two-pence a yard or lower; and yet bare backs were never more numerous among us. Let inventive men cease to spend their existence incessantly contriving how cotton can be made cheaper; and try to invent, a little, how cotton at its present cheapness could be somewhat justlier divided among us. Let inventive men consider, Whether the Secret of this Universe, and of Man's Life there, does, after all, as we rashly fancy it, consist in making money? There is One God, just, supreme, almighty: but is Mammon the name of him?—With a Hell which means 'Failing to make money', I do not think there is any Heaven possible that would suit one well; nor so much as an Earth that can be habitable long! In brief, all this Mammon-Gospel, of Supply-and-demand, Competition, Laissez-faire, and Devil take the hindmost,

begins to be one of the shabbiest Gospels ever preached, or altogether the shabbiest Even with Dilettante partridge-nets, and as a horrible expenditure of pain, who shall regret to see the entirely transient, and at best somewhat despicable life strangled out of *it*? At the best, as we say, a somewhat despicable, unvenerable thing, this same 'Laissez-faire', and now, at the *worst*, fast growing an altogether detestable one!

'But what is to be done with our manufacturing population, with our agricultural, with our ever-increasing population?' cry many —Aye, what? Many things can be done with them, a hundred things, and a thousand things,—had we once got a soul, and begun to try This one thing, of doing for them by 'underselling all people', and filling our own bursten pockets and appetites by the road, and turning over all care for any 'population', or human or divine consideration except cash only, to the winds, with a 'Laissez faire' and the rest of it this is evidently not the thing Farthing cheaper per yard? No great Nation can stand on the apex of such a pyramid, screwing itself higher and higher, balancing itself on its great-toe! Can England not subsist without being *above* all people in working? England never deliberately purposed such a thing If England work better than all people, it shall be well England, like an honest worker, will work as well as she can, and hope the gods may allow her to live on that basis Laissez-faire and much else being once well dead, how many 'impossibles' will become possible! They are impossible, as cotton-cloth at two-pence an ell was—till men set about making it The inventive genius of great England will not for ever sit patient with mere wheels and pinions, bobbins, straps and billy-rollers whirring in the head of it The inventive genius of England is not a Beaver's, or a Spinner's or Spider's genius. it is a *Man's* genius, I hope, with a God over him!

Laissez-faire, Supply-and-demand,—one begins to be weary of all that Leave all to egoism, to ravenous

greed of money, of pleasure, of applause:—it is the Gospel of Despair! Man *is* a Patent-Digester, then: only give him Free Trade, Free digesting room; and each of us digest what he can come at, leaving the rest to Fate! My unhappy brethren of the Working Mammonism, my unhappier brethren of the Idle Dilettantism, no world was ever held together in that way for long. A world of mere Patent-Digesters will soon have nothing to digest: such worlds end, and by Law of Nature must end, in 'over-population'; in howling universal famine, 'impossibility,' and suicidal madness, as of endless dog-kennels run rabid. Supply-and-demand shall do its full part, and Free Trade shall be free as air;—thou of the shotbelts, see thou forbid it not, with those paltry, *worse* than Mammonish swindleries and Sliding scales of thine, which are seen to be swindleries for all thy canting, which in times like ours are very scandalous to see! And Trade never so well freed, and all Tariffs settled or abolished, and Supply-and-demand in full operation,—let us all know that we have yet done nothing; that we have merely cleared the ground for doing.

Yes, were the Corn-Laws ended to-morrow, there is nothing yet ended; there is only room made for all manner of things beginning. The Corn-Laws gone, and Trade made free, it is as good as certain this paralysis of industry will pass away. We shall have another period of commercial enterprise, of victory and prosperity; during which, it is likely, much money will again be made, and all the people may, by the extant methods, still for a space of years, be kept alive and physically fed. The strangling band of Famine will be loosened from our necks; we shall have room again to breathe; time to bethink ourselves, to repent and consider! A precious and thrice-precious space of years; wherein to struggle as for life in reforming our foul ways; in alleviating, instructing, regulating our people; seeking, as for life, that something like spiritual food be imparted them, some real governance and guidance be provided them! It will be a priceless

time For our new period or paroxysm of commercial prosperity will and can, on the old methods of 'Competition and Devil take the hindmost', prove but a paroxysm a new paroxysm,—likely enough, if we do not use it better, to be our *last* In this, of itself, is no salvation It our Trade in twenty years, 'flourishing' as never Trade flourished, could double itself, yet then also, by the old Laissez faire method, our Population is doubled we shall be as we are, only twice as many of us, twice and ten times as unmanageable!

All this dire misery, therefore, all this of our poor Workhouse Workmen, of our Chartisms, Trades-strikes, Corn-Laws, Toryisms, and the general downbreak of Laissez-faire in these days,—may we not regard it as a voice from the dumb bosom of Nature, saying to us 'Behold! Supply and-demand is not the one Law of Nature, Cash-payment is not the sole nexus of man with man,—how far from it! Deep, far deeper than Supply-and-demand, are Laws, Obligations sacred as Man's Life itself these also, if you will continue to do work, you shall now learn and obey He that will learn them, behold Nature is on his side, he shall yet work and prosper with noble rewards He that will not learn them, Nature is against him, he shall not be able to do work in Nature's empire,—not in hers Perpetual mutiny, contention, hatred, isolation, execration shall wait on his footsteps, till all men discern that the thing which he attains, however golden it look or be, is not success, but the want of success'

Supply and-demand,—alas! For what noble work was there ever yet any audible 'demand' in that poor sense? The man of Macedonia, speaking in vision to an Apostle Paul, 'Come over and help us,' did not specify what rate of wages he would give! Or was the Christian Religion itself accomplished by Prize-Essays, Bridgwater Bequests, and a 'minimum of Four thousand five hundred a year'? No demand that I heard of was made then, audible in any Labour-market, Manchester Chamber of Commerce, or other the like em-

porium and hiring establishment, silent were all these from any whisper of such demand,—powerless were all these to 'supply' it, had the demand been in thunder and earthquake, with gold Eldorados and Mahometan Paradises for the reward Ah me, into what waste latitudes, in this Time Voyage, have we wandered, like adventurous Sindbads,—where the men go about as if by galvanism, with meaningless glaring eyes, and have no soul, but only a beaver-faculty and stomach! The haggard despair of Cotton-factory, Coal-mine operatives, Chandos Farm-labourers, in these days, is painful to behold, but not so painful, hideous to the inner sense, as that brutish god-forgetting Profit-and-Loss Philosophy and Life-theory, which we hear jangled on all hands of us, in senate-houses, spouting clubs, leading articles, pulpits and platforms, everywhere as the Ultimate Gospel and candid Plain-English of Man's Life, from the throats and pens and thoughts of all-but all men!—

Enlightened Philosophies, like Molière Doctors, will tell you 'Enthusiasms, Self sacrifice, Heaven, Hell and such like yes, all that was true enough for old stupid times, all that used to be true but we have changed all that, *nous avons changé tout cela!*' Well, if the heart be got round now into the right side, and the liver to the left, if man have no heroism in him deeper than the wish to eat, and in his soul there dwell now no Infinite of Hope and Awe, and no divine Silence can become imperative because it is not Sinai Thunder, and no tie will bind if it be not that of Tyburn gallows-ropes,—then verily you have changed all that, and for it, and for you, and for me, behold the Abyss and nameless Annihilation is ready So scandalous a beggarly Universe deserves indeed nothing else, I cannot say I would save it from Annihilation Vacuum, and the serene Blue, will be much handsomer, easier too for all of us I, for one, decline living as a Patent-Digester Patent-Digester, Spinning-Mule, Mayfair Clothes Horse many thanks, but your Chaosships will have the goodness to excuse me!

CHAPTER X

PLUGSON OF UNDERSHOT

One thing I do know Never, on this Earth, was the relation of man to man long carried on by Cash payment alone If, at any time, a philosophy of Laissez-faire, Competition and Supply-and-demand, start up as the exponent of human relations, expect that it will soon end

Such philosophies will arise · for man's philosophies are usually the 'supplement of his practice', some ornamental Logic-varnish, some outer skin of Articulate Intelligence, with which he strives to render his dumb Instinctive Doings presentable when they are done Such philosophies will arise, be preached as Mammon-Gospels, the ultimate Evangel of the World, be believed, with what is called belief, with much superficial bluster, and a kind of shallow satisfaction real in its way —but they are ominous gospels! They are the sure, and even swift, forerunner of great changes Expect that the old System of Society is done, is dying and fallen into dotage, when it begins to rave in that fashion Most Systems that I have watched the death of, for the last three thousand years, have gone just so The Ideal, the True and Noble that was in them having faded out, and nothing now remaining but naked Egoism, vulturous Greediness, they cannot live, they are bound and inexorably ordained by the oldest Destinies, Mothers of the Universe, to die Curious enough they thereupon, as I have pretty generally noticed, devise some light comfortable kind of 'wine-and-walnuts philosophy' for themselves, this of Supply-and-demand or another, and keep saying, during hours of mastication and rumination, which they call hours of meditation. 'Soul, take thy ease, it is all *well* that thou art a vulture-soul',—and pangs of dissolution come upon them, oftenest before they are aware!

Cash-payment never was, or could except for a few

years be, the union-bond of man to man Cash never yet paid one man fully his deserts to another, nor could it, nor can it, now or henceforth to the end of the world I invite his Grace of Castle-Rackrent to reflect on this ,—does he think that a Land Aristocracy when it becomes a Land Auctioneership can have long to live ? Or that Sliding-scales will increase the vital stamina of it ? The indomitable Plugson too, of the respected Firm of Plugson, Hunks and Company, in St Dolly Undershot, is invited to reflect on this , for to him also it will be new, perhaps even newer Book-keeping by double entry is admirable, and records several things in an exact manner But the Mother-Destinies also keep their Tablets , in Heaven's Chancery also there goes on a recording , and things, as my Moslem friends say, are 'written on the iron leaf'

Your Grace and Plugson, it is like, go to Church occasionally did you never in vacant moments, with perhaps a dull parson droning to you, glance into your New Testament and the cash-account stated four times over, by a kind of quadruple entry,—in the Four Gospels there ? I consider that a cash-account, and balance-statement of work done and wages paid, worth attending to Precisely *such,* though on a smaller scale, go on at all moments under this Sun , and the statement and balance of them in the Plugson Ledgers and on the Tablets of Heaven's Chancery are discrepant exceedingly ,—which ought really to teach, and to have long since taught, an indomitable common-sense Plugson of Undershot, much more an unattackable *un*common-sense Grace of Rackrent, a thing or two !—In brief, we shall have to dismiss the Cash-Gospel rigorously into its own place we shall have to know, on the threshold, that either there is some infinitely deeper Gospel, subsidiary, explanatory and daily and hourly corrective, to the Cash one , or else that the Cash one itself and all others are fast travelling !

For all human things do require to have an Ideal in them , to have some Soul in them, as we said, were it

only to keep the Body unputrefied. And wonderful it is to see how the Ideal or Soul, place it in what ugliest Body you may, will irradiate said Body with its own nobleness; will gradually, incessantly, mould, modify, new-form or reform said ugliest Body, and make it at last beautiful, and to a certain degree divine!—O, if you could dethrone that Brute-god Mammon, and put a Spirit-god in his place! One way or other, he must and will have to be dethroned.

Fighting, for example, as I often say to myself, Fighting with steel murder-tools is surely a much uglier operation than Working, take it how you will. Yet even of Fighting, in religious Abbot Samson's days, see what a Feudalism there had grown,—a 'glorious Chivalry', much besung down to the present day. Was not that one of the 'impossiblest' things? Under the sky is no uglier spectacle than two men with clenched teeth, and hellfire eyes, hacking one another's flesh; converting precious living bodies, and priceless living souls, into nameless masses of putrescence, useful only for turnip-manure. How did a Chivalry ever come out of that; how anything that was not hideous, scandalous, infernal? It will be a question worth considering by and by.

I remark, for the present, only two things: first, that the Fighting itself was not, as we rashly suppose it, a Fighting without cause, but more or less with cause. Man is created to fight; he is perhaps best of all definable as a born soldier; his life 'a battle and a march', under the right General. It is for ever indispensable for a man to fight: now with Necessity, with Barrenness, Scarcity, with Puddles, Bogs, tangled Forests, unkempt Cotton;—now also with the hallucinations of his poor fellow Men. Hallucinatory visions rise in the head of my poor fellow man; make him claim over me rights which are not his. All Fighting, as we noticed long ago, is the dusty conflict of strengths, each thinking itself the strongest, or, in other words, the justest;—of Mights which do in the long-run, and for ever will in this just Universe in the long-run, mean

Rights In conflict the perishable part of them, beaten sufficiently, flies off into dust this process ended, appears the imperishable, the true and exact.

And now let us remark a second thing how, in these baleful operations, a noble devout-hearted Chevalier will comfort himself, and an ignoble godless Bucanier and Chactaw Indian Victory is the aim of each But deep in the heart of the noble man it lies for ever legible, that, as an Invisible Just God made him, so will and must God's Justice and this only, were it never so invisible, ultimately prosper in all controversies and enterprises and battles whatsoever What an Influence, ever-present,—like a Soul in the rudest Caliban of a body, like a ray of Heaven, and illuminative creative *Fiat-Lux*, in the wastest terrestrial Chaos! Blessed divine Influence, traceable even in the horror of Battlefields and garments rolled in blood. how it ennobles even the Battlefield, and, in place of a Chactaw Massacre, makes it a Field of Honour! A Battlefield too is great Considered well, it is a kind of Quintessence of Labour, Labour distilled into its utmost concentration, the significance of years of it compressed into an hour Here too thou shalt be strong, and not in muscle only, if thou wouldst prevail Here too thou shalt be strong of heart, noble of soul; thou shalt dread no pain or death, thou shalt not love ease or life, in rage, thou shalt remember mercy, justice,—thou shalt be a Knight and not a Chactaw, if thou wouldst prevail! It is the rule of all battles, against hallucinating fellow Men, against unkempt Cotton, or whatsoever battles they may be, which a man in this world has to fight.

Howel Davies dyes the West-Indian Seas with blood, piles his decks with plunder, approves himself the expertest Seaman, the daringest Seafighter: but he gains no lasting victory, lasting victory is not possible for him Not, had he fleets larger than the combined British Navy all united with him in bucaniering He, once for all, cannot prosper in his duel He strikes down his man. yes, but his man, or his man's repre-

sentative, has no notion to lie struck down; neither, though slain ten times, will he keep so lying,—nor has the Universe *any* notion to keep him so lying! On the contrary, the Universe and he have, at all moments, all manner of motives to start up again, and desperately fight again. Your Napoleon is flung out, at last, to St. Helena; the latter end of him sternly compensating the beginning. The Bucanier strikes down a man, a hundred or a million men: but what profits it? He has one enemy never to be struck down; nay two enemies: Mankind and the Maker of Men. On the great scale or on the small, in fighting of men or fighting of difficulties, I will not embark my venture with Howel Davies: it is not the Bucanier, it is the Hero only that can gain victory, that can do more than *seem* to succeed. These things will deserve meditating; for they apply to all battle and soldiership, all struggle and effort whatsoever in this Fight of Life. It is a poor Gospel, Cash-Gospel or whatever name it have, that does not, with clear tone, uncontradictable, carrying conviction to all hearts, for ever keep men in mind of these things.

Unhappily, my indomitable friend Plugson of Undershot has, in a great degree, forgotten them;—as, alas, all the world has; as, alas, our very Dukes and Soul-Overseers have, whose special trade it was to remember them! Hence these tears.—Plugson, who has indomitably spun Cotton merely to gain thousands of pounds, I have to call as yet a Bucanier and Chactaw; till there come something better, still more indomitable from him. His hundred Thousand-pound Notes, if there be nothing other, are to me but as the hundred Scalps in a Chactaw wigwam. The blind Plugson: he was a Captain of Industry, born member of the Ultimate genuine Aristocracy of this Universe, could he have known it! These thousand men that span and toiled round him, they were a regiment whom he had enlisted, man by man; to make war on a very genuine enemy: Bareness of back, and disobedient Cotton-fibre, which will not, unless forced to it, consent to cover bare backs. Here is a most genuine enemy; over whom all creatures

will wish him victory. He enlisted his thousand men, said to them, 'Come, brothers, let us have a dash at Cotton!' They follow with cheerful shout; they gain such a victory over Cotton as the Earth has to admire and clap hands at: but, alas, it is yet only of the Bucanier or Chactaw sort,—as good as no victory! Foolish Plugson of St Dolly Undershot: does he hope to become illustrious by hanging up the scalps in his wigwam, the hundred thousands at his banker's, and saying, Behold my scalps? Why, Plugson, even thy own host is all in mutiny: Cotton is conquered; but the 'bare backs'—are worse covered than ever! Indomitable Plugson, thou must cease to be a Chactaw; thou and others; thou thyself, if no other!

Did William the Norman Bastard, or any of his Taillefers, *Ironcutters*, manage so? Ironcutter, at the end of the campaign, did not turn off his thousand fighters, but said to them: 'Noble fighters, this is the land we have gained; be I Lord in it,—what we will call *Law-ward*, maintainer and *keeper* of Heaven's *Laws*: be I *Law ward*, or in brief orthoepy *Lord* in it, and be ye Loyal Men around me in it; and we will stand by one another, as soldiers round a captain, for again we shall have need of one another!' Plugson, bucanier-like, says to them: 'Noble spinners, this is the Hundred Thousand we have gained, wherein I mean to dwell and plant vineyards; the hundred thousand is mine, the three and sixpence daily was yours: adieu, noble spinners; drink my health with this groat each, which I give you over and above!' The entirely unjust Captain of Industry, say I; not Chevalier, but Bucanier! 'Commercial Law' does indeed acquit him; asks, with wide eyes, What else? So too Howel Davies asks, Was it not according to the strictest Bucanier Custom? Did I depart in any jot or tittle from the Laws of the Bucaniers?

After all, money, as they say, is miraculous. Plugson wanted victory; as Chevaliers and Bucaniers, and all men alike do. He found money recognized, by the whole world with one assent, as the true symbol, exact

equivalent and synonym of victory,—and here we have him, a grim-browed, indomitable Bucanier, coming home to us with a 'victory', which the whole world is *ceasing* to clap hands at! The whole world, taught somewhat impressively, is beginning to recognize that such victory is but half a victory, and that now, if it please the Powers, we must—have the other half!

Money is miraculous. What miraculous facilities has it yielded, will it yield us; but also what never-imagined confusions, obscurations has it brought in; down almost to total extinction of the moral sense in large masses of mankind! 'Protection of property', of what is '*mine*', means with most men protection of money,—the thing which, had I a thousand padlocks over it, is least of all *mine*; is, in a manner, scarcely worth calling mine! The symbol shall be held sacred, defended everywhere with tipstaves, ropes and gibbets; the thing signified shall be composedly cast to the dogs. A human being who has worked with human beings clears all scores with them, cuts himself with triumphant completeness for ever loose from them, by paying down certain shillings and pounds. Was it not the wages I promised you? There they are, to the last sixpence,—according to the Laws of the Bucaniers!—Yes, indeed;—and, at such times, it becomes imperatively necessary to ask all persons, bucaniers and others, Whether these same respectable Laws of the Bucaniers are written on God's eternal Heavens at all, on the inner Heart of Man at all; or on the respectable Bucanier Logbook merely, for the convenience of bucaniering merely? What a question;—whereat Westminster Hall shudders to its driest parchment; and on the dead wigs each particular horsehair stands on end!

The Laws of Laissez-faire, O Westminster, the laws of industrial Captain and industrial Soldier, how much more of idle Captain and industrial Soldier, will need to be remodelled, and modified, and rectified in a hundred and a hundred ways,—and *not* in the Sliding-scale direction, but in the totally opposite one! With

two million industrial Soldiers already sitting in Bastilles, and five million pining on potatoes, methinks Westminster cannot begin too soon !—A man has other obligations laid on him, in God's Universe, than the payment of cash these also Westminster, if it will continue to exist and have board-wages, must contrive to take some charge of —by Westminster or by another, they must and will be taken charge of , be, with whatever difficulty, got articulated, got enforced, and to a certain approximate extent put in practice And, as I say, it cannot be too soon ! For Mammonism, left to itself, has become Midas-eared , and with all its gold mountains, sits starving for want of bread and Dilettantism with its partridge-nets, in this extremely earnest Universe of ours, is playing somewhat too high a game ' A man by the very look of him promises so much ' · yes , and by the rent roll of him does he promise nothing ?—

Alas, what a business will this be, which our Continental friends, groping this long while somewhat absurdly about it and about it, call ' Organization of Labour ' ,—which must be taken out of the hands of absurd windy persons, and put into the hands of wise, laborious, modest and valiant men, to begin with it straightway to proceed with it, and succeed in it more and more, if Europe, at any rate if England, is to continue habitable much longer Looking at the kind of most noble Corn Law Dukes or Practical *Duces* we have, and also of right reverend Soul-Overseers, Christian Spiritual *Duces* ' on a minimum of four thousand five hundred ', one's hopes are a little chilled Courage, nevertheless , there are many brave men in England ! My indomitable Plugson,—nay is there not even in thee some hope ? Thou art hitherto a Bucanier, as it was written and prescribed for thee by an evil world · but in that grim brow, in that indomitable heart which *can* conquer Cotton, do there not perhaps lie other ten-times nobler conquests ?

CHAPTER XI

LABOUR

FOR there is a perennial nobleness, and even sacredness, in Work. Were he never so benighted, forgetful of his high calling, there is always hope in a man that actually and earnestly works in Idleness alone is there perpetual despair Work, never so Mammonish, mean, *is* in communication with Nature, the real desire to get Work done will itself lead one more and more to truth, to Nature's appointments and regulations which are truth

The latest Gospel in this world is, Know thy work and do it. 'Know thyself' long enough has that poor 'self' of thine tormented thee, thou wilt never get to 'know' it, I believe! Think it not thy business, this of knowing thyself, thou art an unknowable individual know what thou canst work at, and work at it, like a Hercules! That will be thy better plan.

It has been written, 'an endless significance lies in Work'; a man perfects himself by working Foul jungles are cleared away, fair seed fields rise instead, and stately cities, and withal the man himself first ceases to be a jungle and foul unwholesome desert thereby Consider how, even in the meanest sorts of Labour, the whole soul of a man is composed into a kind of real harmony, the instant he sets himself to work! Doubt, Desire, Sorrow, Remorse, Indignation, Despair itself, all these like helldogs lie beleaguering the soul of the poor dayworker, as of every man but he bends himself with free valour against his task, and all these are stilled, all these shrink murmuring far off into their caves The man is now a man The blessed glow of Labour in him, is it not as purifying fire, wherein all poison is burnt up, and of sour smoke itself there is made bright blessed flame!

Destiny, on the whole, has no other way of cultivating us A formless Chaos, once set it *revolving*,

grows round and ever rounder, ranges itself, by mere force of gravity, into strata, spherical courses, is no longer a Chaos, but a round compacted World What would become of the Earth, did she cease to revolve ? In the poor old Earth, so long as she revolves, all inequalities, irregularities disperse themselves, all irregularities are incessantly becoming regular. Hast thou looked on the Potter's wheel,—one of the venerablest objects, old as the Prophet Ezekiel and far older ? Rude lumps of clay, how they spin themselves up, by mere quick whirling, into beautiful circular dishes And fancy the most assiduous Potter, but without his wheel, reduced to make dishes, or rather amorphous botches, by mere kneading and baking ! Even such a Potter were Destiny, with a human soul that would rest and lie at ease, that would not work and spin ! Of an idle unrevolving man the kindest Destiny, like the most assiduous Potter without wheel, can bake and knead nothing other than a botch, let her spend on him what expensive colouring, what gilding and enamelling she will, he is but a botch Not a dish, no, a bulging, kneaded, crooked, shambling, squint-cornered, amorphous botch,—a mere enamelled *vessel of dishonour* ! Let the idle think of this

Blessed is he who has found his work, let him ask no other blessedness He has a work, a life-purpose, he has found it, and will follow it ! How, as a free-flowing channel, dug and torn by noble force through the sour mud-swamp of one's existence, like an ever-deepening river there, it runs and flows,—draining off the sour festering water, gradually from the root of the remotest grass-blade, making, instead of pestilential swamp, a green fruitful meadow with its clear flowing stream How blessed for the meadow itself, let the stream and *its* value be great or small ! Labour is Life from the inmost heart of the Worker rises his god-given Force, the sacred celestial Life-essence breathed into him by Almighty God, from his inmost heart awakens him to all nobleness,—to all knowledge, 'self-knowledge' and much else, so soon as Work fitly

begins Knowledge? The knowledge that will hold good in working, cleave thou to that, for Nature herself accredits that, says Yea to that Properly thou hast no other knowledge but what thou hast got by working. the rest is yet all a hypothesis of knowledge; a thing to be argued of in schools, a thing floating in the clouds, in endless logic-vortices, till we try it and fix it 'Doubt, of whatever kind, can be ended by Action alone'

And again, hast thou valued Patience, Courage, Perseverance, Openness to light, readiness to own thyself mistaken, to do better next time? All these, all virtues, in wrestling with the dim brute Powers of Fact, in ordering of thy fellows in such wrestle, there and elsewhere not at all, thou wilt continually learn Set down a brave Sir Christopher in the middle of black ruined Stone-heaps, of foolish unarchitectural Bishops, redtape Officials, idle Nell-Gwyn Defenders of the Faith, and see whether he will ever raise a Paul's Cathedral out of all that, yea or no! Rough, rude, contradictory are all things and persons, from the mutinous masons and Irish hodmen, up to the idle Nell-Gwyn Defenders, to blustering redtape Officials, foolish unarchitectural Bishops All these things and persons are there not for Christopher's sake and his Cathedral's, they are there for their own sake mainly! Christopher will have to conquer and constrain all these,—if he be able All these are against him Equitable Nature herself, who carries her mathematics and architectonics not on the face of her, but deep in the hidden heart of her,—Nature herself is but partially for him; will be wholly against him, if he constrain her not! His very money, where is it to come from? The pious munificence of England lies far-scattered, distant, unable to speak, and say, 'I am here', —must be spoken to before it can speak. Pious munificence, and all help, is so silent, invisible like the gods, impediment, contradictions manifold are so loud and near! O brave Sir Christopher, trust thou in those, notwithstanding,

and front all these; understand all these; by valiant patience, noble effort, insight, by man's-strength, vanquish and compel all these,—and, on the whole, strike down victoriously the last topstone of that Paul's Edifice, thy monument for certain centuries, the stamp 'Great Man' impressed very legibly on Portland stone there!—

Yes, all manner of help, and pious response from Men or Nature, is always what we call silent, cannot speak or come to light, till it be seen, till it be spoken to Every noble work is at first 'impossible'. In very truth, for every noble work the possibilities will lie diffused through Immensity, inarticulate, undiscoverable except to faith Like Gideon thou shalt spread out thy fleece at the door of thy tent, see whether under the wide arch of Heaven there be any bounteous moisture, or none Thy heart and life-purpose shall be as a miraculous Gideon's fleece, spread out in silent appeal to Heaven, and from the kind Immensities, what from the poor unkind Localities and town and country Parishes there never could, blessed dew moisture to suffice thee shall have fallen!

Work is of a religious nature.—work is of a *brave* nature, which it is the aim of all religion to be All work of man is as the swimmer's a waste ocean threatens to devour him, if he front it not bravely, it will keep its word By incessant wise defiance of it, lusty rebuke and buffet of it, behold how it loyally supports him, bears him as its conqueror along 'It is so', says Goethe, 'with all things that man undertakes in this world.'

Brave Sea captain, Norse Sea-king,—Columbus, my hero, royallest Sea king of all! it is no friendly environment this of thine, in the waste deep waters, around thee mutinous discouraged souls, behind thee disgrace and ruin, before thee the unpenetrated veil of Night Brother, these wild water-mountains, bounding from their deep bases (ten miles deep, I am told), are not entirely there on thy behalf! Meseems *they* have other work than floating thee forward,—and the huge

Winds, that sweep from Ursa Major to the Tropics and Equators, dancing their giant-waltz through the kingdoms of Chaos and Immensity, they care little about filling rightly or filling wrongly the small shoulder-of-mutton sails in this cockle-skiff of thine! Thou art not among articulate speaking friends, my brother; thou art among immeasurable dumb monsters, tumbling, howling wide as the world here. Secret, far off, invisible to all hearts but thine, there lies a help in them: see how thou wilt get at that. Patiently thou wilt wait till the mad South-wester spend itself, saving thyself by dexterous science of defence, the while: valiantly, with swift decision, wilt thou strike in, when the favouring East, the Possible, springs up. Mutiny of men thou wilt sternly repress; weakness, despondency, thou wilt cheerily encourage: thou wilt swallow down complaint, unreason, weariness, weakness of others and thyself;—how much wilt thou swallow down! There shall be a depth of Silence in thee, deeper than this Sea, which is but ten miles deep: a Silence unsoundable; known to God only. Thou shalt be a Great Man. Yes, my World-Soldier, thou of the World Marine-service,—thou wilt have to be *greater* than this tumultuous unmeasured World here round thee is: thou, in thy strong soul, as with wrestler's arms, shalt embrace it, harness it down; and make it bear thee on,—to new Americas, or whither God wills!

CHAPTER XII

REWARD

'RELIGION,' I said; for, properly speaking, all true Work is Religion: and whatsoever Religion is not Work may go and dwell among the Brahmins, Antinomians, Spinning Dervishes, or where it will; with me it shall have no harbour. Admirable was that of the old Monks, '*Laborare est Orare*, Work is Worship.'

Older than all preached Gospels was this unpreached,

inarticulate, but ineradicable, forever-enduring Gospel: Work, and therein have wellbeing. Man, Son of Earth and of Heaven, lies there not, in the innermost heart of thee, a Spirit of active Method, a Force for Work;—and burns like a painfully smouldering fire, giving thee no rest till thou unfold it, till thou write it down in beneficent Facts around thee! What is immethodic, waste, thou shalt make methodic, regulated, arable; obedient and productive to thee. Wheresoever thou findest Disorder, there is thy eternal enemy; attack him swiftly, subdue him; make Order of him, the subject not of Chaos, but of Intelligence, Divinity and Thee! The thistle that grows in thy path, dig it out, that a blade of useful grass, a drop of nourishing milk, may grow there instead. The waste cotton-shrub, gather its waste white down, spin it, weave it; that, in place of idle litter, there may be folded webs, and the naked skin of man be covered.

But above all, where thou findest Ignorance, Stupidity, Brute-mindedness,—yes, there, with or without Church-tithes and Shovel-hat, with or without Talfourd-Mahon Copyrights, or were it with mere dungeons and gibbets and crosses, attack it, I say; smite it wisely, unweariedly, and rest not while thou livest and it lives; but smite, smite, in the name of God! The Highest God, as I understand it, does audibly so command thee; still audibly, if thou have ears to hear. He, even He, with his *un*spoken voice, awfuller than any Sinai thunders or syllabled speech of Whirlwinds; for the SILENCE of deep Eternities, of Worlds from beyond the morning-stars, does it not speak to thee? The unborn Ages; the old Graves, with their long-mouldering dust, the very tears that wetted it now all dry,—do not these speak to thee, what our ear hath not heard? The deep Death-kingdoms, the Stars in their never-resting courses, all Space and all Time, proclaim it to thee in continual silent admonition. Thou too, if ever man should, shalt work while it is called To-day. For the Night cometh, wherein no man can work.

All true Work is sacred; in all true Work, were it but true hand-labour, there is something of divineness. Labour, wide as the Earth, has its summit in Heaven. Sweat of the brow; and up from that to sweat of the brain, sweat of the heart; which includes all Kepler calculations, Newton meditations, all Sciences, all spoken Epics, all acted Heroisms, Martyrdoms,—up to that 'Agony of bloody sweat', which all men have called divine! O brother, if this is not 'worship', then I say, the more pity for worship; for this is the noblest thing yet discovered under God's sky. Who art thou that complainest of thy life of toil? Complain not. Look up, my wearied brother; see thy fellow Workmen there, in God's Eternity; surviving there, they alone surviving: sacred Band of the Immortals, celestial Bodyguard of the Empire of Mankind. Even in the weak Human Memory they survive so long, as saints, as heroes, as gods; they alone surviving; peopling, they alone, the unmeasured solitudes of Time! To thee Heaven, though severe, is *not* unkind; Heaven is kind,—as a noble Mother; as that Spartan Mother, saying, while she gave her son his shield, 'With it, my son, or upon it!' Thou too shalt return *home* in honour; to thy far-distant Home, in honour; doubt it not,—if in the battle thou keep thy shield! Thou, in the Eternities and deepest Death-kingdoms, art not an alien; thou everywhere art a denizen! Complain not; the very Spartans did not *complain*.

And who art thou that braggest of thy life of Idleness; complacently showest thy bright gilt equipages; sumptuous cushions; appliances for folding of the hands to mere sleep? Looking up, looking down, around, behind or before, discernest thou, if it be not in Mayfair alone, any *idle* hero, saint, god, or even devil? Not a vestige of one. In the Heavens, in the Earth, in the Waters under the Earth, is none like unto thee. Thou art an original figure in this Creation; a denizen in Mayfair alone, in this extraordinary Century or Half-Century alone! One monster there is in the world: the idle man. What is his 'Religion'?

That Nature is a Phantasm, where cunning beggary or thievery may sometimes find good victual That God is a lie, and that Man and his Life are a lie — Alas, alas, who of us *is* there that can say, I have worked ? The faithfullest of us are unprofitable servants, the faithfullest of us know that best The faithfullest of us may say, with sad and true old Samuel, 'Much of my life has been trifled away!' But he that has, and except 'on public occasions' professes to have, no function but that of going idle in a graceful or graceless manner, and of begetting sons to go idle, and to address Chief Spinners and Diggers, who at least *are* spinning and digging, 'Ye scandalous persons who produce too much'—My Corn-Law friends, on what imaginary still richer Eldorados, and true iron spikes with law of gravitation, are ye rushing!

As to the Wages of Work there might innumerable things be said, there will and must yet innumerable things be said and spoken, in St Stephen's and out of St Stephen's, and gradually not a few things be ascertained and written, on Law-parchment, concerning this very matter.—'Fair day's-wages for a fair day's work' is the most unrefusable demand! Money-wages 'to the extent of keeping your worker alive that he may work more', these, unless you mean to dismiss him straightway out of this world, are indispensable alike to the noblest Worker and to the least noble!

One thing only I will say here, in special reference to the former class, the noble and noblest, but throwing light on all the other classes and their arrangements of this difficult matter The 'wages' of every noble Work do yet lie in Heaven or else Nowhere Not in Bank-of-England bills, in Owen's Labour-bank, or any the most improved establishment of banking and money-changing, needest thou, heroic soul, present thy account of earnings Human banks and labour-banks know thee not, or know thee after generations and centuries have passed away, and thou art clean

gone from 'rewarding',—all manner of bank drafts, shop tills, and Downing-street Exchequers lying very invisible, so far from thee! Nay, at bottom, dost thou need any reward? Was it thy aim and life-purpose to be filled with good things for thy heroism; to have a life of pomp and ease, and be what men call 'happy', in this world, or in any other world? I answer for thee deliberately, No. The whole spiritual secret of the new epoch lies in this, that thou canst answer for thyself, with thy whole clearness of head and heart, deliberately, No!

My brother, the brave man has to give his Life away. Give it, I advise thee;—thou dost not expect to *sell* thy Life in an adequate manner? What price, for example, would content thee? The just price of thy LIFE to thee,—why, God's entire Creation to thyself, the whole Universe of Space, the whole Eternity of Time, and what they hold: that is the price which would content thee; that, and if thou wilt be candid, nothing short of that! It is thy all; and for it thou wouldst have all. Thou art an unreasonable mortal;—or rather thou art a poor *infinite* mortal, who, in thy narrow clay-prison here, *seemest* so unreasonable! Thou wilt never sell thy Life, or any part of thy Life, in a satisfactory manner. Give it, like a royal heart; let the price be Nothing: thou *hast* then, in a certain sense, got All for it! The heroic man,—and is not every man, God be thanked, a potential hero?—has to do so, in all times and circumstances. In the most heroic age, as in the most unheroic, he will have to say, as Burns said proudly and humbly of his little Scottish Songs, little dewdrops of Celestial Melody in an age when so much was unmelodious: 'By Heaven, they shall either be invaluable or of no value; I do not need your guineas for them!' It is an element which should, and must, enter deeply into all settlements of wages here below. They never will be 'satisfactory' otherwise; they cannot, O Mammon Gospel, they never can! Money for my little piece of work 'to the extent that will allow me to keep working'; yes,

this,—unless you mean that I shall go my ways *before* the work is all taken out of me but as to 'wages'—!—

On the whole we do entirely agree with those old Monks, *Laborare est Orare* In a thousand senses, from one end of it to the other, true Work *is* Worship He that works, whatsoever be his work, he bodies forth the form of Things Unseen, a small Poet every Worker is The idea, were it but of his poor Delf Platter, how much more of his Epic Poem, is as yet 'seen', half seen, only by himself, to all others it is a thing unseen, impossible, to Nature herself it is a thing unseen, a thing which never hitherto was; —very 'impossible', for it is as yet a No-thing! The Unseen Powers had need to watch over such a man, he works in and for the Unseen Alas, if he look to the Seen Powers only, he may as well quit the business, his No thing will never rightly issue as a Thing, but as a Deceptivity, a Sham-thing,—which it had better not do!

Thy No thing of an Intended Poem, O Poet who hast looked merely to reviewers, copyrights, booksellers, popularities, behold it has not yet become a Thing, for the truth is not in it! Though printed, hotpressed, reviewed, celebrated, sold to the twentieth edition what is all that? The Thing, in philosophical uncommercial language, is still a No-thing, mostly semblance, and deception of the sight,—benign Oblivion incessantly gnawing at it, impatient till Chaos, to which it belongs, do reabsorb it!—

He who takes not counsel of the Unseen and Silent, from him will never come real visibility and speech Thou must descend to the *Mothers*, to the *Manes*, and Hercules-like long suffer and labour there, wouldst thou emerge with victory into the sunlight As in battle and the shock of war,—for is not this a battle?—thou too shalt fear no pain or death, shalt love no ease or life, the voice of festive Lubberlands, the noise of greedy Acheron shall alike be silent under thy victorious feet Thy work, like Dante's, shall 'make thee lean for many years' The world and its wages,

its criticisms, counsels, helps, impediments, shall be as a waste ocean-flood, the chaos through which thou art to swim and sail Not the waste waves and their weedy gulf-streams, shalt thou take for guidance thy star alone,—'*Se tu segui tua stella!*' Thy star alone, now clear-beaming over Chaos, nay now by fits gone out, disastrously eclipsed this only shalt thou strive to follow O, it is a business, as I fancy, that of weltering your way through Chaos and the murk of Hell! Green-eyed dragons watching you, three-headed Cerberuses,—not without sympathy of *their* sort! '*Eccovi l' uom ch' è stato all' Inferno*' For in fine, as Poet Dryden says, you do walk hand in hand with sheer Madness, all the way,—who is by no means pleasant company! You look fixedly into Madness, and *her* undiscovered, boundless, bottomless Night empire; that you may extort new Wisdom out of it, as an Eurydice from Tartarus The higher the Wisdom, the closer was its neighbourhood and kindred with mere Insanity, literally so,—and thou wilt, with a speechless feeling, observe how highest Wisdom, struggling up into this world, has oftentimes carried such tinctures and adhesions of Insanity still cleaving to it hither!

All Works, each in their degree, are a making of Madness sane,—truly enough a religious operation, which cannot be carried on without religion You have not work otherwise, you have eye-service, greedy grasping of wages, swift and ever swifter manufacture of semblances to get hold of wages Instead of better felt-hats to cover your head, you have bigger lath-and plaster hats set travelling the streets on wheels Instead of heavenly and earthly Guidance for the souls of men, you have 'Black or White Surplice' Controversies, stuffed hair-and-leather Popes,—terrestrial *Law-wards*, Lords and Law-bringers, 'organizing Labour' in these years, by passing Corn-Laws. With all which, alas, this distracted Earth is now full, nigh to bursting Semblances most smooth to the touch and eye, most accursed nevertheless to body

and soul Semblances, be they of Sham-woven Cloth or of Dilettante Legislation, which are *not* real wool or substance, but Devil's-dust, accursed of God and man! No man has worked, or can work, except religiously, not even the poor day-labourer, the weaver of your coat, the sewer of your shoes All men, if they work not as in a Great Taskmaster's eye, will work wrong, work unhappily for themselves and you

Industrial work, still under bondage to Mammon, the rational soul of it not yet awakened, is a tragic spectacle Men in the rapidest motion and self-motion, restless, with convulsive energy, as if driven by Galvanism, as if possessed by a Devil, tearing asunder mountains,—to no purpose, for Mammonism is always Midas eared! This is sad, on the face of it Yet courage the beneficent Destinies, kind in their sternness, are apprising us that this cannot continue Labour is not a devil, even while encased in Mammonism, Labour is ever an imprisoned god, writhing unconsciously or consciously to escape out of Mammonism! Plugson of Undershot, like Taillefer of Normandy, wants victory, how much happier will even Plugson be to have a Chivalrous victory than a Chactaw one. The unredeemed ugliness is that of a slothful People. Show me a People energetically busy, heaving, struggling, all shoulders at the wheel, their heart pulsing, every muscle swelling, with man's energy and will;—I show you a People of whom great good is already predicable, to whom all manner of good is yet certain, if their energy endure By very working, they will learn, they have, Antaeus-like, their foot on Mother Fact: how can they but learn?

The vulgarest Plugson of a Master-Worker, who can command Workers, and get work out of them, is already a considerable man Blessed and thrice-blessed symptoms I discern of Master-Workers who are not vulgar men, who are Nobles, and begin to feel that they must act as such all speed to these,

they are England's hope at present! But in this Plugson himself, conscious of almost no nobleness whatever, how much is there! Not without man's faculty, insight, courage, hard energy, is this rugged figure. His words none of the wisest; but his actings cannot be altogether foolish. Think, how were it, stoodst thou suddenly in his shoes! He has to command a thousand men. And not imaginary commanding; no, it is real, incessantly practical. The evil passions of so many men (with the Devil in them, as in all of us) he has to vanquish; by manifold force of speech and of silence, to repress or evade. What a force of silence, to say nothing of the others, is in Plugson! For these his thousand men he has to provide raw-material, machinery, arrangement, house-room; and ever at the week's end, wages by due sale. No Civil-List, or Goulburn-Baring Budget has he to fall back upon, for paying of his regiment; he has to pick his supplies from this confused face of the whole Earth and Contemporaneous History, by his dexterity alone. There will be dry eyes if he fail to do it!—He exclaims, at present, 'black in the face,' near strangled with Dilettante Legislation: 'Let me have elbow-room, throat-room, and I will not fail! No, I will spin yet, and conquer like a giant: what "sinews of war" lie in me, untold resources towards the Conquest of this Planet, if instead of hanging me, you husband them, and help me!'—My indomitable friend, it is *true*; and thou shalt and must be helped.

This is not a man I would kill and strangle by Corn Laws, even if I could! No, I would fling my Corn-Laws and Shotbelts to the Devil; and try to help this man. I would teach him, by noble precept and law-precept, by noble example most of all, that Mammonism was not the essence of his or of my station in God's Universe; but the adscititious excrescence of it; the gross, terrene, godless embodiment of it; which would have to become, more or less, a godlike one. By noble *real* legislation, by true *noble's*-work, by unwearied, valiant, and were it wageless effort, in

my Parliament and in my Parish, I would aid, constrain, encourage him to effect more or less this blessed change I should know that it would have to be effected, that unless it were in some measure effected, he and I and all of us, I first and soonest of all, were doomed to perdition!—Effected it will be, unless it were a Demon that made this Universe, which I, for my own part, do at no moment, under no form, in the least believe

May it please your Serene Highnesses, your Majesties, Lordships and Law-wardships, the proper Epic of this world is not now 'Arms and the Man', how much less, 'Shirt-frills and the Man': no, it is now 'Tools and the Man': that, henceforth to all time, is now our Epic;—and you, first of all others, I think, were wise to take note of that!

CHAPTER XIII

DEMOCRACY

If the Serene Highnesses and Majesties do not take note of that, then, as I perceive, *that* will take note of itself! The time for levity, insincerity, and idle babble and play-acting, in all kinds, is gone by, it is a serious, grave time Old long-vexed questions, not yet solved in logical words or parliamentary laws, are fast solving themselves in facts, somewhat unblessed to behold! This largest of questions, this question of Work and Wages, which ought, had we heeded Heaven's voice, to have begun two generations ago or more, cannot be delayed longer without hearing Earth's voice 'Labour' will verily need to be somewhat 'organized', as they say,—God knows with what difficulty. Man will actually need to have his debts and earnings a little better paid by man, which, let Parliaments speak of them, or be silent of them, are eternally his due from man, and cannot, without penalty and at length not without death-penalty, be

withheld How much ought to cease among us straightway; how much ought to begin straightway, while the hours yet are!

Truly they are strange results to which this of leaving all to 'Cash', of quietly shutting up the God's Temple, and gradually opening wide-open the Mammon's Temple, with 'Laissez-faire, and Every man for himself',—have led us in these days! We have Upper, speaking Classes, who indeed do 'speak' as never man spake before; the withered flimsiness, godless baseness and barrenness of whose Speech might of itself indicate what kind of Doing and practical Governing went on under it! For Speech is the gaseous element out of which most kinds of Practice and Performance, especially all kinds of moral Performance, condense themselves, and take shape, as the one is, so will the other be Descending, accordingly, into the Dumb Class in its Stockport Cellars and Poor-Law Bastilles, have we not to announce that they are hitherto unexampled in the History of Adam's Posterity?

Life was never a May game for men. in all times the lot of the dumb millions born to toil was defaced with manifold sufferings, injustices, heavy burdens, avoidable and unavoidable, not play at all, but hard work that made the sinews sore and the heart sore As bond-slaves, *villani*, *bordarii*, *sochemanni*, nay indeed as dukes, earls and kings, men were oftentimes made weary of their life; and had to say, in the sweat of their brow and of their soul, Behold, it is not sport, it is grim earnest, and our back can bear no more! Who knows not what massacrings and harryings there have been, grinding, long-continuing, unbearable injustices,—till the heart had to rise in madness, and some '*Eu Sachsen, nimith euer sachses*, You Saxons, out with your gully-knives, then!' You Saxons, some 'arrestment', partial 'arrestment of the Knaves and Dastards' has become indispensable!—The page of Dryasdust is heavy with such details

And yet I will venture to believe that in no time,

since the beginnings of Society, was the lot of those same dumb millions of toilers so entirely unbearable as it is even in the days now passing over us It is not to die, or even to die of hunger, that makes a man wretched, many men have died, all men must die,—the last exit of us all is in a Fire-Chariot of Pain But it is to live miserable we know not why, to work sore and yet gain nothing, to be heart-worn, weary, yet isolated, unrelated, girt-in with a cold universal Laissez-faire it is to die slowly all our life long, imprisoned in a deaf, dead, Infinite Injustice, as in the accursed iron belly of a Phalaris' Bull! This is and remains for ever intolerable to all men whom God has made Do we wonder at French Revolutions, Chartisms, Revolts of Three Days? The times, if we will consider them, are really unexampled

Never before did I hear of an Irish Widow reduced to 'prove her sisterhood by dying of typhus fever and infecting seventeen persons',—saying in such undeniable way, 'You *see*, I was your sister!' Sisterhood, brotherhood, was often forgotten, but not till the rise of these ultimate Mammon and Shotbelt Gospels did I ever see it so expressly denied If no pious Lord or *Law-ward* would remember it, always some pious Lady ('*Hlaf dig*', Benefactress, '*Loaf-giveress*,' they say she is,—blessings on her beautiful heart!) was there, with mild mother-voice and hand, to remember it, some pious thoughtful *Elder*, what we now call 'Prester', *Presbyter* or 'Priest', was there to put all men in mind of it, in the name of the God who had made all

Not even in Black Dahomey was it ever, I think, forgotten to the typhus-fever length Mungo Park, resourceless, had sunk down to die under the Negro Village-Tree, a horrible White object in the eyes of all But in the poor Black Woman, and her daughter who stood aghast at him, whose earthly wealth and funded capital consisted of one small calabash of rice, there lived a heart richer than '*Laissez-faire*': they, with a royal munificence, boiled their rice for him, they sang all night to him, spinning assiduous on their

cotton distaffs, as he lay to sleep: 'Let us pity the poor white man, no mother has he to fetch him milk, no sister to grind him corn!' Thou poor black Noble One,—thou *Lady* too: did not a God make thee too, was there not in thee too something of a God!—

Gurth, born thrall of Cedric the Saxon, has been greatly pitied by Dryasdust and others. Gurth, with the brass collar round his neck, tending Cedric's pigs in the glades of the wood, is not what I call an exemplar of human felicity: but Gurth, with the sky above him, with the free air and tinted boscage and umbrage round him, and in him at least the certainty of supper and social lodging when he came home, Gurth to me seems happy, in comparison with many a Lancashire and Buckinghamshire man, of these days, not born thrall of anybody! Gurth's brass collar did not gall him: Cedric *deserved* to be his Master. The pigs were Cedric's, but Gurth too would get his parings of them. Gurth had the inexpressible satisfaction of feeling himself related indissolubly, though in a rude brass-collar way, to his fellow-mortals in this Earth. He had superiors, inferiors, equals.—Gurth is now 'emancipated' long since; has what we call 'Liberty.' Liberty, I am told, is a Divine thing. Liberty when it becomes the 'Liberty to die by starvation' is not so divine!

Liberty? The true liberty of a man, you would say, consisted in his finding out, or being forced to find out, the right path, and to walk thereon. To learn, or to be taught, what work he actually was able for; and then by permission, persuasion, and even compulsion, to set about doing of the same! That is his true blessedness, honour, 'liberty' and maximum of wellbeing: if liberty be not that, I for one have small care about liberty. You do not allow a palpable madman to leap over precipices; you violate his liberty, you that are wise; and keep him, were it in strait-waistcoats, away from the precipices! Every stupid, every cowardly and foolish man is but a less

palpable madman: his true liberty were that a wiser man, that any and every wiser man, could, by brass collars, or in whatever milder or sharper way, lay hold of him when he was going wrong, and order and compel him to go a little righter. O, if thou really art my *Senior*, Seigneur, my *Elder*, Presbyter or Priest,—if thou art in very deed my *Wiser*, may a beneficent instinct lead and impel thee to 'conquer' me, to command me! If thou do know better than I what is good and right, I conjure thee in the name of God, force me to do it; were it by never such brass collars, whips and handcuffs, leave me not to walk over precipices! That I have been called, by all the Newspapers, a 'free man' will avail me little, if my pilgrimage have ended in death and wreck. O that the Newspapers had called me slave, coward, fool, or what it pleased their sweet voices to name me, and I had attained not death, but life!—Liberty requires new definitions.

A conscious abhorrence and intolerance of Folly, of Baseness, Stupidity, Poltroonery and all that brood of things, dwells deep in some men: still deeper in others an *un*conscious abhorrence and intolerance, clothed moreover by the beneficent Supreme Powers in what stout appetites, energies, egoisms so-called, are suitable to it;—these latter are your Conquerors, Romans, Normans, Russians, Indo-English; Founders of what we call Aristocracies. Which indeed have they not the most 'divine right' to found;—being themselves very truly Ἄριστοι, BRAVEST, BEST; and conquering generally a confused rabble of WORST, or at lowest, clearly enough, of WORSE? I think their divine right, tried, with affirmatory verdict, in the greatest Law-Court known to me, was good! A class of men who are dreadfully exclaimed against by Dryasdust; of whom nevertheless beneficent Nature has oftentimes had need; and may, alas, again have need.

When, across the hundredfold poor scepticisms, trivialisms, and constitutional cobwebberies of Dryasdust, you catch any glimpse of a William the Conqueror,

a Tancred of Hauteville or such like,—do you not discern veritably some rude outline of a true God-made King; whom not the Champion of England cased in tin, but all Nature and the Universe were calling to the throne? It is absolutely necessary that he get thither. Nature does not mean her poor Saxon children to perish, of obesity, stupor or other malady, as yet: a stern Ruler and Line of Rulers therefore is called in,—a stern but most beneficent *perpetual House-Surgeon* is by Nature herself called in, and even the appropriate *fees* are provided for him! Dryasdust talks lamentably about Hereward and the Fen Counties, fate of Earl Waltheof, Yorkshire and the North reduced to ashes, all of which is undoubtedly lamentable. But even Dryasdust apprises me of one fact: 'A child, in this William's reign, might have carried a purse of gold from end to end of England.' My erudite friend, it is a fact which outweighs a thousand! Sweep away thy constitutional, sentimental, and other cobwebberies, look eye to eye, if thou still have any eye, in the face of this big burly William Bastard: thou wilt see a fellow of most flashing discernment, of most strong lion-heart,—in whom, as it were, within a frame of oak and iron, the gods have planted the soul of 'a man of genius'! Dost thou call that nothing? I call it an immense thing!—Rage enough was in this Willelmus Conquestor, rage enough for his occasions,—and yet the essential element of him, as of all such men, is not scorching *fire*, but shining illuminative *light*. Fire and light are strangely interchangeable; nay, at bottom, I have found them different forms of the same most godlike 'elementary substance' in our world: a thing worth stating in these days. The essential element of this Conquestor is, first of all, the most sun-eyed perception of what *is* really what on this God's-Earth,—which, thou wilt find, does mean at bottom 'Justice', and 'Virtues' not a few: *Conformity* to what the Maker has seen good to make; that, I suppose, will mean Justice and a Virtue or two?—

Dost thou think Willelmus Conquestor would have tolerated ten years' jargon, one hour's jargon, on the propriety of killing Cotton-manufactures by partridge Corn-Laws? I fancy, this was not the man to knock out of his night's rest with nothing but a noisy bedlamism in your mouth! 'Assist us still better to bush the partridges; strangle Plugson who spins the shirts?'—'*Par la Splendeur de Dieu!*'——Dost thou think Willelmus Conquestor, in this new time, with Steam-engine Captains of Industry on one hand of him, and Joe-Manton Captains of Idleness on the other, would have doubted which *was* really the BEST; which did deserve strangling, and which not?

I have a certain indestructible regard for Willelmus Conquestor. A resident House Surgeon, provided by Nature for her beloved English People, and even furnished with the requisite fees, as I said; for he by no means felt himself doing Nature's work, this Willelmus, but his own work exclusively! And his own work withal it was; informed '*par la Splendeur de Dieu*.'—I say, it is necessary to get the work out of such a man, however harsh that be! When a world, not yet doomed for death, is rushing down to ever-deeper Baseness and Confusion, it is a dire necessity of Nature's to bring in her ARISTOCRACIES, her BEST, even by forcible methods. When their descendants or representatives cease entirely to *be* the Best, Nature's poor world will very soon rush down again to Baseness; and it becomes a dire necessity of Nature's to cast them out. Hence French Revolutions, Five-point Charters, Democracies, and a mournful list of *Etceteras*, in these our afflicted times.

To what extent Democracy has now reached, how it advances irresistible with ominous, ever-increasing speed, he that will open his eyes on any province of human affairs may discern. Democracy is everywhere the inexorable demand of these ages, swiftly fulfilling itself. From the thunder of Napoleon battles, to the jabbering of Open-vestry in St. Mary Axe, all things announce Democracy. A distinguished man, whom

some of my readers will hear again with pleasure, thus writes to me what in these days he notes from the Wahngasse of Weissnichtwo, where our London fashions seem to be in full vogue Let us hear the Herr Teufelsdrockh again, were it but the smallest word!

'Democracy, which means despair of finding any Heroes to govern you, and contented putting up with the want of them,—alas, thou too, *mein Lieber*, seest well how close it is of kin to *Atheism*, and other sad *Isms*. he who discovers no God whatever, how shall he discover Heroes, the visible Temples of God?—Strange enough meanwhile it is, to observe with what thoughtlessness, here in our rigidly Conservative Country, men rush into Democracy with full cry Beyond doubt, his Excellenz the Titular-Herr Ritter Kauderwalsch von Pferdefuss-Quacksalber, he our distinguished Conservative Premier himself, and all but the thicker-headed of his Party, discern Democracy to be inevitable as death, and are even desperate of delaying it much!

'You cannot walk the streets without beholding Democracy announce itself the very Tailor has become, if not properly Sansculottic, which to him would be ruinous, yet a Tailor unconsciously symbolizing, and prophesying with his scissors, the reign of Equality What now is our fashionable coat? A thing of superfinest texture, of deeply meditated cut, with Malines-lace cuffs, quilted with gold, so that a man can carry, without difficulty, an estate of land on his back? *Keineswegs*, By no manner of means! The Sumptuary Laws have fallen into such a state of desuetude as was never before seen Our fashionable coat is an amphibium between barn sack and drayman's doublet The cloth of it is studiously coarse, the colour a speckled soot-black or rust brown grey,—the nearest approach to a Peasant's And for shape,—thou shouldst see it! The last consummation of the year now passing over us is definable as Three Bags; a big bag for the body, two small bags for the arms, and by way of collar a hem! The first Antique

Cheruscan who, of felt-cloth or bear's-hide, with bone or metal needle, set about making himself a coat, before Tailors had yet awakened out of Nothing,—did not he make it even so? A loose wide poke for body, with two holes to let out the arms, this was his original coat: to which holes it was soon visible that two small loose pokes, or sleeves, easily appended, would be an improvement

'Thus has the Tailor-art, so to speak, overset itself, like most other things, changed its centre of-gravity, whirled suddenly over from zenith to nadir Your Stulz, with huge somerset, vaults from his high shopboard down to the depths of primal savagery,—carrying much along with him! For I will invite thee to reflect that the Tailor, as topmost ultimate froth of Human Society, is indeed swift-passing, evanescent, slippery to decipher, yet significant of much, nay of all Topmost evanescent froth, he is churned up from the very lees, and from all intermediate regions of the liquor The general outcome he, visible to the eye, of what men aimed to do, and were obliged and enabled to do, in this one public department of symbolizing themselves to each other by covering of their skins A smack of all Human Life lies in the Tailor its wild struggles towards beauty, dignity, freedom, victory, and how, hemmed in by Sedan and Huddersfield, by Nescience, Dullness, Prurience, and other sad necessities and laws of Nature, it has attained just to this. Grey savagery of Three Sacks with a hem!

'When the very Tailor verges towards Sansculottism, is it not ominous? The last Divinity of poor mankind dethroning himself, sinking *his* taper too, flame downmost, like the Genius of Sleep or of Death, admonitory that Tailor-time shall be no more!—For, little as one could advise Sumptuary Laws at the present epoch, yet nothing is clearer than that where ranks do actually exist, strict division of costumes will also be enforced, that if we ever have a new Hierarchy and Aristocracy, acknowledged veritably as such, for which I daily pray Heaven, the Tailor will

re awaken, and be, by volunteering and appointment, consciously and unconsciously, a safeguard of that same '—Certain farther observations, from the same invaluable pen, on our never ending changes of mode, our 'perpetual nomadic and even ape-like appetite for change and mere change' in all the equipments of our existence, and the 'fatal revolutionary character' thereby manifested, we suppress for the present It may be admitted that Democracy, in all meanings of the word, is in full career, irresistible by any Ritter Kauderwalsch or other Son of Adam, as times go 'Liberty' is a thing men are determined to have

But truly, as I had to remark in the meanwhile, 'the liberty of not being oppressed by your fellow man' is an indispensable, yet one of the most insignificant fractional parts of Human Liberty No man oppresses thee, can bid thee fetch or carry, come or go, without reason shown True, from all men thou art emancipated but from Thyself and from the Devil—? No man, wiser, unwiser, can make thee come or go but thy own futilities, bewilderments, thy false appetites for Money, Windsor Georges and such like? No man oppresses thee, O free and independent Franchiser but does not this stupid Porter-pot oppress thee? No Son of Adam can bid thee come or go, but this absurd Pot of Heavy-wet, this can and does! Thou art the thrall not of Cedric the Saxon, but of thy own brutal appetites, and this scoured dish of liquor And thou pratest of thy 'liberty'? Thou entire blockhead!

Heavy-wet and gin. alas, these are not the only kinds of thraldom Thou who walkest in a vain show, looking out with ornamental dilettante sniff, and serene supremacy, at all Life and all Death, and amblest jauntily, perking up thy poor talk into crotchets, thy poor conduct into fatuous somnambulisms,—and *art* as an 'enchanted Ape' under God's sky, where thou mightest have been a man, had proper Schoolmasters and Conquerors, and Constables

with cat-o'-nine tails, been vouchsafed thee dost thou call that 'liberty'? Or your unreposing Mammon-worshipper, again, driven, as if by Galvanisms, by Devils and Fixed Ideas, who rises early and sits late, chasing the impossible, straining every faculty to 'fill himself with the east wind',—how merciful were it, could you, by mild persuasion or by the severest tyranny so called, check him in his mad path, and turn him into a wiser one! All painful tyranny, in that case again, were but mild 'surgery'; the pain of it cheap, as health and life, instead of galvanism and fixed idea, are cheap at any price.

Sure enough, of all paths a man could strike into, there *is*, at any given moment, a *best path* for every man; a thing which, here and now, it were of all things *wisest* for him to do,—which could he be but led or driven to do, he were then doing 'like a man', as we phrase it; all men and gods agreeing with him, the whole Universe virtually exclaiming Well-done to him! His success, in such case, were complete; his felicity a maximum. This path, to find this path and walk in it, is the one thing needful for him. Whatsoever forwards him in that, let it come to him even in the shape of blows and spurnings, is liberty: whatsoever hinders him, were it wardmotes, open-vestries, poll booths, tremendous cheers, rivers of heavy-wet, is slavery.

The notion that a man's liberty consists in giving his vote at election-hustings, and saying, 'Behold now I too have my twenty-thousandth part of a Talker in our National Palaver; will not all the gods be good to me?'—is one of the pleasantest! Nature nevertheless is kind at present; and puts it into the heads of many, almost of all. The liberty especially which has to purchase itself by social isolation, and each man standing separate from the other, having 'no business with him' but a cash-account: this is such a liberty as the Earth seldom saw;—as the Earth will not long put up with, recommend it how you may. This liberty turns out, before it have long continued in action, with

all men flinging up their caps round it, to be, for the Working Millions, a liberty to die by want of food; for the Idle Thousands and Units, alas, a still more fatal liberty to live in want of work, to have no earnest duty to do in this God's-World any more. What becomes of a man in such predicament? Earth's Laws are silent, and Heaven's speak in a voice which is not heard No work, and the ineradicable need of work, give rise to new very wondrous life-philosophies, new very wondrous life-practices! Dilettantism, Pococurantism, Beau-Brummelism, with perhaps an occasional, half-mad, protesting burst of Byronism, establish themselves at the end of a certain period,—if you go back to 'the Dead Sea', there is, say our Moslem friends, a very strange 'Sabbath-day' transacting itself there!—Brethren, we know but imperfectly yet, after ages of Constitutional Government, what Liberty and Slavery are

Democracy, the chase of Liberty in that direction, shall go its full course, unrestrained by him of Pferde-fuss-Quacksalber, or any of *his* household The Toiling Millions of Mankind, in most vital need and passionate instinctive desire of Guidance, shall cast away False-Guidance, and hope, for an hour, that No-Guidance will suffice them but it can be for an hour only The smallest item of human Slavery is the oppression of man by his Mock-Superiors, the palpablest, but I say at bottom the smallest Let him shake off such oppression, trample it indignantly under his feet, I blame him not, I pity and commend him. But oppression by your Mock Superiors well shaken off, the grand problem yet remains to solve That of finding government by your Real-Superiors! Alas, how shall we ever learn the solution of that, benighted, bewildered, sniffing, sneering, godforgetting unfortunates as we are? It is a work for centuries, to be taught us by tribulations, confusions, insurrections, obstructions, who knows if not by conflagration and despair! It is a lesson inclusive of all other lessons, the hardest of all lessons to learn

One thing I do know. Those Apes, chattering on the branches by the Dead Sea, never got it learned, but chatter there to this day To them no Moses need come a second time, a thousand Moseses would be but so many painted Phantasms, interesting Fellow-Apes of new strange aspect,—whom they would 'invite to dinner', be glad to meet with in lion-soirées To them the voice of Prophecy, of heavenly monition, is quite ended They chatter there, all Heaven shut to them, to the end of the world The unfortunates! Oh, what is dying of hunger, with honest tools in your hand, with a manful purpose in your heart, and much real labour lying round you done, in comparison? You honestly quit your tools, quit a most muddy confused coil of sore work, short rations, of sorrows, dispiritments and contradictions, having now honestly done with it all,—and await, not entirely in a distracted manner, what the Supreme Powers, and the Silences and the Eternities may have to say to you

A second thing I know: This lesson will have to be learned,—under penalties! England will either learn it, or England also will cease to exist among Nations. England will either learn to reverence its Heroes, and discriminate them from its Sham-Heroes and Valets and gaslighted Histrios; and to prize them as the audible God's-voice, amid all inane jargons and temporary market-cries, and say to them with heart-loyalty, 'Be ye King and Priest, and Gospel and Guidance for us': or else England will continue to worship now and ever-new forms of Quackhood,—and so, with what resiliences and reboundings matters little, go down to the Father of Quacks! Can I dread such things of England? Wretched, thick-eyed, gross-hearted mortals, why will ye worship lies, and 'Stuffed Clothes-suits, created by the ninth-parts of men!' It is not your purses that suffer, your farm-rents, your commerces, your mill-revenues, loud as ye lament over these, no, it is not these alone, but a far deeper than these: it is your souls that lie dead, crushed down under despicable Nightmares, Atheisms, Brain-fumes,

and are not souls at all, but mere succedanea *for salt* to keep your bodies and their appetites from putrefying! Your cotton-spinning and thrice-miraculous mechanism, what is this too, by itself, but a larger kind of Animalism? Spiders can spin, Beavers can build and show contrivance; the Ant lays up accumulation of capital, and has, for aught I know, a Bank of Antland. If there is no soul in man higher than all that, did it reach to sailing on the cloud-rack and spinning sea-sand; then I say, man is but an animal, a more cunning kind of brute: he has no soul, but only a succedaneum for salt. Whereupon, seeing himself to be truly of the beasts that perish, he ought to admit it, I think;—and also straightway universally to kill himself; and so, in a manlike manner, at least, *end*, and wave these brute-worlds *his* dignified farewell!—

CHAPTER XIV

SIR JABESH WINDBAG

OLIVER CROMWELL, whose body they hung on their Tyburn Gallows because he had found the Christian Religion inexecutable in this country, remains to me by far the remarkablest Governor we have had here for the last five centuries or so. For the last five centuries, there has been no Governor among us with anything like similar talent; and for the last two centuries, no Governor, we may say, with the possibility of similar talent,—with an idea in the heart of him capable of inspiring similar talent, capable of co-existing therewith. When you consider that Oliver believed in a God, the difference between Oliver's position and that of any subsequent Governor of this Country becomes, the more you reflect on it, the more immeasurable!

Oliver, no volunteer in Public Life, but plainly a balloted soldier strictly ordered thither, enters upon Public Life; comports himself there like a man who carried his own life in his hand; like a man whose

Great Commander's eye was always on him Not without results. Oliver, well-advanced in years, finds now, by Destiny and his own Deservings, or as he himself better phrased it, by wondrous successive 'Births of Providence', the Government of England put into his hands In senate-house and battle-field, in counsel and in action, in private and in public, this man has proved himself a man England and the voice of God, through waste awful whirlwinds and environments, speaking to his great heart, summon him to assert formally, in the way of solemn Public Fact and as a new piece of English Law, what informally and by Nature's eternal Law needed no asserting, That he, Oliver, was the Ablest Man of England, the King of England, that he, Oliver, would undertake governing England His way of making this same 'assertion', the one way he had of making it, has given rise to immense criticism. but the assertion itself, in what way soever 'made', is it not somewhat of a solemn one, somewhat of a tremendous one!

And now do but contrast this Oliver with my right honourable friend Sir Jabesh Windbag, Mr Facing-both-ways, Viscount Mealymouth, Earl of Windlestraw, or what other Cagliostro, Cagliostrino, Cagliostraccio, the course of Fortune and Parliamentary Majorities has constitutionally guided to that dignity, any time during these last sorrowful hundred-and-fifty years! Windbag, weak in the faith of a God, which he believes only at Church on Sundays, if even then, strong only in the faith that Paragraphs and Plausibilities bring votes, that Force of Public Opinion, as he calls it, is the primal Necessity of Things, and highest God we have:—Windbag, if we will consider him, has a problem set before him which may be ranged in the impossible class He is a Columbus minded to sail to the indistinct country of NOWHERE, to the indistinct country of WHITHERWARD, by the *friendship* of those same waste-tumbling Water-Alps and howling waltz of All the Winds, not by conquest of them and in spite of them, but by friend-

ship of them, when once *they* have made up their mind! He is the most original Columbus I ever saw. Nay, his problem is not an impossible one: he will infallibly *arrive* at that same country of NOWHERE; his indistinct Whitherward will be a *Thither*ward! In the Ocean Abysses and Locker of Davy Jones, there certainly enough do he and *his* ship's company, and all their cargo and navigatings, at last find lodgement.

Oliver knew that his America lay THERE, Westward Ho;—and it was not entirely by *friendship* of the Water-Alps, and yeasty insane Froth-Oceans, that he meant to get thither! He sailed accordingly; had compass-card, and Rules of Navigation,—older and greater than these Froth-Oceans, old as the Eternal God! Or again, do but think of this. Windbag in these his probable five years of office has to prosper and get Paragraphs: the Paragraphs of these five years must be his salvation, or he is a lost man; redemption nowhere in the Worlds or in the Times discoverable for him. Oliver too would like his Paragraphs; successes, popularities in these five years are not undesirable to him: but mark, I say, this enormous circumstance: *after* these five years are gone and done, comes an Eternity for Oliver! Oliver has to appear before the Most High Judge: the utmost flow of Paragraphs, the utmost ebb of them, is now, in strictest arithmetic, verily no matter at all; its exact value *zero*; an account altogether erased! Enormous;—which a man, in these days, hardly fancies with an effort! Oliver's Paragraphs are all done, his battles, division-lists, successes all summed: and now in that awful unerring Court of Review, the real question first rises, Whether he has succeeded at all; whether he has not been defeated miserably for evermore? Let him come with world-wide *Io-Paeans*, these avail him not. Let him come covered over with the world's execrations, gashed with ignominious death-wounds, the gallows rope about his neck: what avails that? The word is, Come thou brave and faithful; the word is, Depart thou quack and accursed!

O Windbag, my right honourable friend, in very truth I pity thee I say, these Paragraphs, and low or loud votings of thy poor fellow-blockheads of mankind, will never guide thee in any enterprise at all Govern a country on such guidance ? Thou canst not make a pair of shoes, sell a pennyworth of tape, on such No, thy shoes are vamped up falsely to meet the market, behold, the leather only *seemed* to be tanned, thy shoes melt under me to rubbishy pulp, and are not veritable mud-defying shoes, but plausible vendible similitudes of shoes,—thou unfortunate, and I! O my right honourable friend, when the Paragraphs flowed in, who was like Sir Jabesh ? On the swelling tide he mounted, higher, higher, triumphant, heaven-high But the Paragraphs again ebbed out, as unwise Paragraphs needs must · Sir Jabesh lies stranded, sunk and for ever sinking in ignominious ooze, the Mud-nymphs, and ever-deepening bottomless Oblivion, his portion to eternal time 'Posterity ?' Thou appealest to Posterity, thou ? My right honourable friend, what will Posterity do for thee ! The voting of Posterity, were it continued through centuries in thy favour, will be quite inaudible, extra-forensic, without any effect whatever Posterity can do simply nothing for a man ; nor even seem to do much if the man be not brainsick Besides, to tell thee truth, the bets are a thousand to one, Posterity will not hear of thee, my right honourable friend! Posterity, I have found, has generally his own Windbags sufficiently trumpeted in all market-places, and no leisure to attend to ours Posterity, which has made of Norse Odin a similitude, and of Norman William a brute monster, what will or can it make of English Jabesh ? O Heavens, 'Posterity' !—

'These poor persecuted Scotch Covenanters', said I to my inquiring Frenchman, in such stinted French as stood at command, '*ils s'en appelaient à*'—'*A la Postérité*,' interrupted he, helping me out—'*Ah, Monsieur, non, mille fois non!* They appealed to the Eternal God, not to Posterity at all! *C'était différent*'

CHAPTER XV

MORRISON AGAIN

NEVERTHELESS, O Advanced Liberal, one cannot promise thee any 'New Religion', for some time, to say truth, I do not think we have the smallest chance of any! Will the candid reader, by way of closing this Book Third, listen to a few transient remarks on that subject?

Candid readers have not lately met with any man who had less notion to interfere with their Thirty-Nine, or other Church-Articles, wherewith, very helplessly as is like, they may have struggled to form for themselves some not inconceivable hypothesis about this Universe, and their own Existence there Superstition, my friend, is far from me, Fanaticism, for any *Fanum* likely to arise soon on this Earth, is far A man's Church-Articles are surely articles of price to him, and in these times one has to be tolerant of many strange 'Articles', and of many still stranger 'No articles', which go about placarding themselves in a very distracted manner,—the numerous long placard-poles, and questionable infirm paste-pots, interfering with one's peaceable thoroughfare sometimes!

Fancy a man, moreover, recommending his fellow men to believe in God, that so Chartism might abate, and the Manchester Operatives be got to spin peaceably! The idea is more distracted than any placard-pole seen hitherto in a public thoroughfare of men! My friend, if thou ever do come to believe in God, thou wilt find all Chartism, Manchester riot, Parliamentary incompetence, Ministries of Windbag, and the wildest Social Dissolutions, and the burning up of this entire Planet, a most small matter in comparison Brother, this Planet, I find, is but an inconsiderable

sandgrain in the continents of Being: this Planet's poor temporary interests, thy interests and my interests there, when I look fixedly into that eternal Light-Sea and Flame-Sea with *its* eternal interests, dwindle literally into Nothing; my speech of it is—silence for the while. I will as soon think of making Galaxies and Star-Systems to guide little herring-vessels by, as of preaching Religion that the Constable may continue possible. Oh my Advanced-Liberal friend, this new second progress, of proceeding 'to invent God', is a very strange one! Jacobinism unfolded into Saint-Simonism bodes innumerable blessed things; but the thing itself might draw tears from a Stoic!—As for me, some twelve or thirteen New Religions, heavy Packets, most of them unfranked, having arrived here from various parts of the world, in a space of six calendar months, I have instructed my invaluable friend the Stamped Postman to introduce no more of them, if the charge exceeded one penny.

Henry of Essex, duelling in that Thames Island, 'near to Reading Abbey,' had a religion. But was it in virtue of his seeing armed Phantasms of St. Edmund 'on the rim of the horizon', looking minatory on him? Had that, intrinsically, anything to do with his religion at all? Henry of Essex's religion was the Inner Light or Moral Conscience of his own soul; such as is vouchsafed still to all souls of men;—which Inner Light shone here 'through such intellectual and other media' as there were; producing 'Phantasms', Kircherean Visual-Spectra, according to circumstances! It is so with all men. The clearer my Inner Light may shine, through the *less* turbid media, the *fewer* Phantasms it may produce,—the gladder surely shall I be, and not the sorrier! Hast thou reflected, O serious reader, Advanced Liberal or other, that the one end, essence, use of all religion past, present and to come, was this only: To keep that same Moral Conscience or Inner Light of ours alive and shining;—which certainly the 'Phantasms' and the 'turbid media'

were not essential for! All religion was here to remind us, better or worse, of what we already know better or worse, of the quite *infinite* difference there is between a Good man and a Bad, to bid us love infinitely the one, abhor and avoid infinitely the other,—strive infinitely *to be* the one, and not to be the other 'All religion issues in due Practical Hero-worship' He that has a soul unasphyxied will never want a religion, he that has a soul asphyxied, reduced to a succedaneum for salt, will never find any religion, though you rose from the dead to preach him one

But indeed, when men and reformers ask for 'a religion', it is analogous to their asking, 'What would you have us to do?' and such like. They fancy that their religion too shall be a kind of Morrison's Pill, which they have only to swallow once, and all will be well Resolutely once gulp down your Religion, your Morrison's Pill, you have it all plain sailing now: you can follow your affairs, your no-affairs, go along money hunting, pleasure-hunting, dilettanteing, dangling, and miming and chattering like a Dead-Sea Ape your Morrison will do your business for you Men's notions are very strange!—Brother, I say there is not, was not, nor will ever be, in the wide circle of Nature, any Pill or Religion of that character Man cannot afford thee such, for the very gods it is impossible I advise thee to renounce Morrison, once for all, quit hope of the Universal Pill For body, for soul, for individual or society, there has not any such article been made. *Non extat* In Created Nature it is not, was not, will not be In the void imbroglios of Chaos only, and realms of Bedlam, does some shadow of it hover, to bewilder and bemock the poor inhabitants *there*.

Rituals, Liturgies, Creeds, Hierarchies: all this is not religion, all this, were it dead as Odinism, as Fetishism, does not kill religion at all! It is Stupidity alone, with never so many rituals, that kills religion. Is not this still a World? Spinning Cotton under Arkwright and Adam Smith, founding Cities by the Fountain of Juturna, on the Janiculum Mount,

tilling Canaan under Prophet Samuel and Psalmist David, man is ever man, the missionary of Unseen Powers, and great and victorious, while he continues true to his mission; mean, miserable, foiled, and at last annihilated and trodden out of sight and memory, when he proves untrue Brother, thou art a Man, I think; thou art not a mere building Beaver, or two-legged Cotton-Spider, thou hast verily a Soul in thee, asphyxied or otherwise! Sooty Manchester,—it too is built on the infinite Abysses, overspanned by the skyey Firmaments, and there is birth in it, and death in it,—and it is every whit as wonderful, as fearful, unimaginable, as the oldest Salem or Prophetic City Go and stand, in what time, in what place we will, are there not Immensities, Eternities over us, around us, in us.

> Solemn before us,
> Veiled, the dark Portal,
> Goal of all mortal:—
> Stars silent rest o'er us,
> Graves under us silent!

Between *these* two great Silences, the hum of all our spinning cylinders, Trades-Unions, Anti-Corn-Law Leagues and Carlton Clubs goes on Stupidity itself ought to pause a little and consider that I tell thee, through all thy Ledgers, Supply-and-demand Philosophies, and daily most modern melancholy Business and Cant, there does shine the presence of a Primaeval Unspeakable, and thou wert wise to recognize, not with lips only, that same!

The Maker's Laws, whether they are promulgated in Sinai Thunder, to the ear or imagination, or quite otherwise promulgated, are the Laws of God, transcendent, everlasting, imperatively demanding obedience from all men This, without any thunder, or with never so much thunder, thou, if there be any soul left in thee, canst know of a truth The Universe, I say, is made by Law, the great Soul of the World is just and not unjust Look thou, if thou have eyes

or soul left, into this great shoreless Incomprehensible: in the heart of its tumultuous Appearances, Embroilments, and mad Time-vortexes, is there not, silent, eternal, an All-just, an All-beautiful; sole Reality and ultimate controlling Power of the whole? This is not a figure of speech, this is a fact. The fact of Gravitation known to all animals, is not surer than this inner Fact, which may be known to all men. He who knows this, it will sink, silent, awful, unspeakable, into his heart. He will say with Faust: 'Who *dare* name HIM?' Most rituals or 'namings' he will fall in with at present, are like to be 'namings'—which shall be nameless! In silence, in the Eternal Temple, let him worship, if there be no fit word. Such knowledge, the crown of his whole spiritual being, the life of his life, let him keep and sacredly walk by. He has a religion. Hourly and daily, for himself and for the whole world, a faithful, unspoken, but not ineffectual prayer rises, 'Thy will be done.' His whole work on Earth is an emblematic spoken or acted prayer, Be the will of God done on Earth,—not the Devil's will, or any of the Devil's servants' wills! He has a religion, this man; an everlasting Lodestar that beams the brighter in the Heavens, the darker here on Earth grows the night around him. Thou, if thou know not this, what are all rituals, liturgies, mythologies, mass-chantings, turnings of the rotatory calabash? They are as nothing; in a good many respects they are as *less*. Divorced from this, getting half-divorced from this, they are a thing to fill one with a kind of horror; with a sacred inexpressible pity and fear. The most tragical thing a human eye can look on. It was said to the Prophet, 'Behold, I will show thee worse things than these: women weeping to Thammuz.' That was the acme of the Prophet's vision,—then as now.

Rituals, Liturgies, Credos, Sinai Thunder: I know more or less the history of these; the rise, progress, decline and fall of these. Can thunder from all the thirty-two azimuths, repeated daily for centuries of years, make God's Laws more godlike to me? Brother,

No Perhaps I am grown to be a man now, and do not need the thunder and the terror any longer! Perhaps I am above being frightened, perhaps it is not Fear, but Reverence alone, that shall now lead me!—Revelations, Inspirations? Yes and thy own god-created Soul, dost thou call that a 'revelation'? Who made THEE? Where didst Thou come from? The Voice of Eternity, if thou be not a blasphemer and poor asphyxied mute, speaks with that tongue of thine! *Thou* art the latest Birth of Nature, it is 'the Inspiration of the Almighty' that giveth *thee* understanding! My brother, my brother!—

Under baleful Atheisms, Mammonisms, Joe Manton Dilettantisms, with their appropriate Cants and Idolisms, and whatsoever scandalous rubbish obscures and all but extinguishes the soul of man,—religion now is, its Laws, written if not on stone tables, yet on the Azure of Infinitude, in the inner heart of God's Creation, certain as Life, certain as Death! I say the Laws are there, and thou shalt not disobey them It were better for thee not Better a hundred deaths than yes Terrible 'penalties' withal, if thou still need 'penalties', are there for disobeying Dost thou observe, O redtape Politician, that fiery infernal Phenomenon, which men name FRENCH REVOLUTION, sailing, unlooked-for, unbidden, through thy inane Protocol Dominion —far-seen, with splendour not of Heaven? Ten centuries will see it There were Tanneries at Meudon for human skins And Hell, very truly Hell, had power over God's upper Earth for a season. The cruellest Portent that has risen into created Space these ten centuries let us hail it, with awestruck repentant hearts, as the voice once more of a God, though of one in wrath Blessed be the God's-voice, for *it* is true, and Falsehoods have to cease before it! But for that same preternatural quasi-infernal Portent, one could not know what to make of this wretched world, in these days, at all The deplorablest quack-ridden, and now hunger-ridden, down-trodden Despicability and *Flebile Ludibrium*

of redtape Protocols, rotatory Calabashes, Poor-Law Bastilles: who is there that could think of *its* being fated to continue?—

Penalties enough, my brother! This penalty inclusive of all: Eternal Death to thy own hapless Self, if thou heed no other. Eternal Death, I say,—with many meanings old and new, of which let this single one suffice us here: The eternal impossibility for thee to be aught but a Chimera, and swift-vanishing deceptive Phantasm, in God's Creation;—swift-vanishing, never to reappear: why should *it* reappear! Thou hadst one chance, thou wilt never have another. Everlasting ages will roll on, and no other be given thee. The foolishest articulate-speaking soul now extant, may not he say to himself: 'A whole Eternity I waited to be born; and now I have a whole Eternity waiting to see what I will do when born!' This is not Theology, this is Arithmetic. And thou but half-discernest this; thou but half-believest it? Alas, on the shores of the Dead Sea, on Sabbath, there goes on a Tragedy!—

But we will leave this of 'Religion'; of which, to say truth, it is chiefly profitable in these unspeakable days to keep silence. Thou needest no 'New Religion'; nor art thou like to get any. Thou hast already more 'religion' than thou makest use of. This day, thou knowest ten commanded duties, seest in thy mind ten things which should be done, for one that thou doest! *Do* one of them; this of itself will show thee ten others which can and shall be done. 'But my future fate?' Yes, thy future fate, indeed? Thy future fate, while thou makest *it* the chief question, seems to me—extremely questionable! I do not think it can be good. Norse Odin, immemorial centuries ago, did not he, though a poor Heathen, in the dawn of Time, teach us that for the Dastard there was, and could be, no good fate; no harbour anywhere, save down with Hela, in the pool of Night! Dastards, Knaves, are they that lust for Pleasure, that tremble at Pain. For this world and for

the next, Dastards are a class of creatures made to be 'arrested', they are good for nothing else, can look for nothing else A greater than Odin has been here A greater than Odin has taught us—not a great Dastardism, I hope! My brother, thou must pray for a *soul*, struggle, as with life-and death energy, to get back thy soul! Know that 'religion' is no Morrison's Pill from without, but a reawakening of thy own Self from within —and, above all, leave me alone of thy 'religions' and 'new religions' here and elsewhere! I am weary of this sick croaking for a Morrison's-Pill religion, for any and for every such I want none such, and discern all such to be impossible The resuscitation of old liturgies fallen dead; much more, the manufacture of new liturgies that will never be alive how hopeless! Stylitisms, eremite fanaticisms and fakeerisms, spasmodic agonistic posture-makings, and narrow, cramped, morbid, if for ever noble wrestlings: all this is not a thing desirable to me It is a thing the world *has* done once, —when its beard was not grown as now!

And yet there is, at worst, one Liturgy which does remain for ever unexceptionable that of *Praying* (as the old Monks did withal) *by Working*. And indeed the Prayer which accomplished itself in special chapels at stated hours, and went not with a man, rising up from all his Work and Action, at all moments sanctifying the same,—what was it ever good for? 'Work is Worship': yes, in a highly considerable sense,—which, in the present state of all 'worship', who is there that can unfold! He that understands it well, understands the Prophecy of the whole Future, the last Evangel, which has included all others *Its* cathedral the Dome of Immensity,—hast thou seen it? coped with the star-galaxies, paved with the green mosaic of land and ocean, and for altar, verily, the Star-throne of the Eternal! Its litany and psalmody the noble acts, the heroic work and suffering, and true heart-utterance of all the Valiant of the Sons of Men

Its choir-music the ancient Winds and Oceans, and deep-toned, inarticulate, but most speaking voices of Destiny and History,—supernal ever as of old. Between two great Silences:

> Stars silent rest o'er us,
> Graves under us silent.

Between which two great Silences, do not, as we said, all human Noises, in the naturallest times, most *preter*naturally march and roll?—

I will insert this also, in a lower strain, from Sauerteig's *Aesthetische Springwurzeln*. 'Worship?' says he: 'Before that inane tumult of Hearsay filled men's heads, while the world lay yet silent, and the heart true and open, many things were Worship! To the primaeval man whatsoever good came, descended on him (as, in mere fact, it ever does) direct from God; whatsoever duty lay visible for him, this a Supreme God had prescribed. To the present hour I ask thee, Who else? For the primaeval man, in whom dwelt Thought, this Universe was all a Temple; Life everywhere a Worship.

'What Worship, for example, is there not in mere Washing! Perhaps one of the most moral things a man, in common cases, has it in his power to do. Strip thyself, go into the bath, or were it into the limpid pool and running brook, and there wash and be clean; thou wilt step out again a purer and a better man. This consciousness of perfect outer pureness, that to thy skin there now adheres no foreign speck of imperfection, how it radiates in on thee, with cunning symbolic influences, to thy very soul! Thou hast an increase of tendency towards all good things whatsoever. The oldest Eastern Sages, with joy and holy gratitude, had felt it so,—and that it was the Maker's gift and will. Whose else *is* it? It remains a religious duty, from oldest times, in the East.—Nor could Herr Professor Strauss, when I put the question, deny that for us at present it is still such here in the West! To that dingy fuliginous Operative, emerging from his

soot-mill, what is the first duty I will prescribe, and offer help towards? That he clean the skin of him. *Can* he pray, by any ascertained method? One knows not entirely —but with soap and a sufficiency of water, he can wash Even the dull English feel something of this, they have a saying, "Cleanliness is near of kin to Godliness" —yet never, in any country, saw I operative men worse washed, and, in a climate drenched with the softest cloud-water, such a scarcity of baths!'—Alas, Sauerteig, our operative men are at present short even of potatoes what 'duty' can you prescribe to them!

Or let us give a glance at China Our new friend, the Emperor there, is Pontiff of three hundred million men, who do all live and work, these many centuries now, authentically patronized by Heaven so far, and therefore must have some 'religion' of a kind This Emperor-Pontiff has, in fact, a religious belief of certain Laws of Heaven, observes, with a religious rigour, his 'three thousand punctualities', given out by men of insight, some sixty generations since, as a legible transcript of the same,—the Heavens do seem to say, not totally an incorrect one He has not much of a ritual, this Pontiff-Emperor; believes, it is likest, with the old Monks, that 'Labour is Worship' His most public Act of Worship, it appears, is the drawing solemnly at a certain day, on the green bosom of our Mother Earth, when the Heavens, after dead black winter, have again with their vernal radiances awakened her, a distinct red Furrow with the Plough,—signal that all the Ploughs of China are to begin ploughing and worshipping! It is notable enough He, in sight of the Seen and Unseen Powers, draws his distinct red Furrow there, saying, and praying, in mute symbolism, so many most eloquent things!

If you ask this Pontiff, 'Who made him? What is to become of him and us?' he maintains a dignified reserve, waves his hand and pontiff eyes over the unfathomable deep of Heaven, the 'Tsien', the azure

kingdoms of Infinitude, as if asking, 'Is it doubtful that we are right *well* made? Can aught that is *wrong* become of us?'—He and his three hundred millions (it is their chief 'punctuality') visit yearly the Tombs of their Fathers, each man the Tomb of his Father and his Mother: alone there, in silence, with what of 'worship' or of other thought there may be, pauses solemnly each man, the divine Skies all silent over him, the divine Graves, and this divinest Grave, all silent under him, the pulsings of his own soul, if he have any soul, alone audible Truly it may be a kind of worship! Truly, if a man cannot get some glimpse into the Eternities, looking through this portal,—through what other need he try it?

Our friend the Pontiff-Emperor permits cheerfully, though with contempt, all manner of Buddhists, Bonzes, Talapoins and such like, to build brick Temples, on the voluntary principle; to worship with what of chantings, paper-lanterns and tumultuous brayings, pleases them; and make night hideous, since they find some comfort in so doing Cheerfully, though with contempt. He is a wiser Pontiff than many persons think! He is as yet the one Chief Potentate or Priest in this Earth who has made a distinct systematic attempt at what we call the ultimate result of all religion, '*Practical* Hero-worship'. he does incessantly, with true anxiety, in such way as he can, search and sift (it would appear) his whole enormous population for the Wisest born among them, by which Wisest, as by born Kings, these three hundred million men are governed. The Heavens, to a certain extent, do appear to countenance him These three hundred millions actually make porcelain, souchong tea, with innumerable other things, and fight, under Heaven's flag, against Necessity;—and have fewer Seven-Years Wars, Thirty-Years Wars, French-Revolution Wars, and infernal fightings with each other, than certain millions elsewhere have!

Nay, in our poor distracted Europe itself, in these

newest times, have there not religious voices risen,—with a religion new and yet the oldest; entirely indisputable to all hearts of men? Some I do know, who did not call or think themselves 'Prophets', far enough from that; but who were, in very truth, melodious Voices from the eternal Heart of Nature once again, souls for ever venerable to all that have a soul. A French Revolution is one phenomenon, as complement and spiritual exponent thereof, a Poet Goethe and German Literature is to me another. The old Secular or Practical World, so to speak, having gone up in fire, is not here the prophecy and dawn of a new Spiritual World, parent of far nobler, wider, new Practical Worlds? A Life of Antique devoutness, Antique veracity and heroism, has again become possible, is *again seen* actual there, for the most modern man. A phenomenon, as quiet as it is, comparable for greatness to no other! 'The great event for the world is, now as always, the arrival in it of a new Wise Man.' Touches there are, be the Heavens ever thanked, of new Sphere-melody, audible once more, in the infinite jargoning discords and poor scrannel-pipings of the thing called Literature,—priceless there, as the voice of new Heavenly Psalms! Literature, like the old Prayer-Collections of the first centuries, were it 'well selected from and burnt', contains precious things. For Literature, with all its printing-presses, puffing-engines and shoreless deafening triviality, is yet 'the Thought of Thinking Souls'. A sacred 'religion', if you like the name, does live in the heart of that strange froth-ocean, not wholly froth, which we call Literature, and will more and more disclose itself therefrom,—not now as scorching Fire: the red smoky scorching Fire has purified itself into white sunny Light. Is not Light grander than Fire? It is the same element in a state of purity.

My ingenuous readers, we will march out of this Third Book with a rhythmic word of Goethe's on our lips; a word which perhaps has already sung itself, in dark hours and in bright, through many a heart.

To me, finding it devout yet wholly credible and veritable, full of piety yet free of cant; to me, joyfully finding much in it, and joyfully missing so much in it, this little snatch of music, by the greatest German Man, sounds like a stanza in the grand *Road-Song* and *Marching-Song* of our great Teutonic Kindred, wending, wending, valiant and victorious, through the undiscovered Deeps of Time! He calls it *Mason-Lodge*,—not Psalm or Hymn:

The Mason's ways are
A type of Existence,
And his persistence
Is as the days are
Of men in this world.

The Future hides in it
Gladness and sorrow;
We press still thorow,
Naught that abides in it
Daunting us,—onward.

And solemn before us,
Veiled, the dark Portal,
Goal of all mortal:—
Stars silent rest o'er us,
Graves under us silent!

While earnest thou gazest,
Comes boding of terror,
Comes phantasm and error,
Perplexes the bravest
With doubt and misgiving.

But heard are the Voices,—
Heard are the Sages,
The Worlds and the Ages:
'Choose well; your choice is
Brief and yet endless.

Here eyes do regard you,
In Eternity's stillness;
Here is all fullness,
Ye brave, to reward you;
Work, and despair not.'

BOOK IV—HOROSCOPE

CHAPTER I

ARISTOCRACIES

To predict the Future, to manage the Present, would not be so impossible, had not the Past been so sacrilegiously mishandled ; effaced, and what is worse, defaced ! The Past cannot be seen ; the Past, looked at through the medium of 'Philosophical History' in these times, cannot even be *not* seen : it is misseen ; affirmed to have existed,—and to have been a godless Impossibility. Your Norman Conquerors, true royal souls, crowned kings as such, were vulturous irrational tyrants : your Becket was a noisy egoist and hypocrite ; getting his brains spilt on the floor of Canterbury Cathedral, to secure the main chance,—somewhat uncertain how ! 'Policy, Fanaticism' ; or say 'Enthusiasm', even 'honest Enthusiasm',—ah yes, of course :

> The Dog, to gain his private ends,
> *Went* mad, and bit the Man !—

For in truth, the eye sees in all things 'what it brought with it the means of seeing'. A godless century, looking back on centuries that were godly, produces portraitures more miraculous than any other. All was inane discord in the Past ; brute Force bore rule everywhere ; Stupidity, savage Unreason, fitter for Bedlam than for a human World ! Whereby indeed it becomes sufficiently natural that the like qualities, in new sleeker habiliments, should continue in our

time to rule. Millions enchanted in Bastille Workhouses; Irish Widows proving their relationship by typhus-fever: what would you have? It was ever so, or worse. Man's History, was it not always even this: The cookery and eating-up of imbecile Dupedom by successful Quackhood, the battle, with various weapons, of vulturous Quack and Tyrant against vulturous Tyrant and Quack? No God was in the Past Time; nothing but Mechanisms and Chaotic Brute-Gods:—how shall the poor 'Philosophic Historian', to whom his own century is all godless, see any God in other centuries?

Men believe in Bibles, and disbelieve in them: but of all Bibles the frightfullest to disbelieve in is this 'Bible of Universal History.' This is the Eternal Bible and God's-Book, 'which every man born,' till once the soul and eyesight are extinguished in him, 'can and must, with his own eyes, see the God's Finger writing!' To discredit this, is an *infidelity* like no other. Such infidelity you would punish, if not by fire and faggot, which are difficult to manage in our times, yet by the most peremptory order, To hold its peace till it got something wiser to say. Why should the blessed Silence be broken into noises, to communicate only the like of this? If the Past have no God's-Reason in it, nothing but Devil's-Unreason, let the Past be eternally forgotten: mention *it* no more;—we whose ancestors were all hanged, why should we talk of ropes!

It is, in brief, not true that men ever lived by Delirium, Hypocrisy, Injustice, or any form of Unreason, since they came to inhabit this Planet. It is not true that they ever did, or ever will, live except by the reverse of these. Men will again be taught this. Their acted History will then again be a Heroism; their written History, what it once was, an Epic. Nay, for ever it is either such, or else it virtually is—Nothing. Were it written in a thousand volumes, the Unheroic of such volumes hastens incessantly to be forgotten; the net content of an Alexandrian Library

of Unheroics is, and will ultimately show itself to be, *zero* What man is interested to remember *it*, have not all men, at all times, the liveliest interest to forget it ?—'Revelations', if not celestial, then infernal, will teach us that God is, we shall then, if needful, discern without difficulty that He has always been! The Dryasdust Philosophisms and enlightened Scepticisms of the Eighteenth Century, historical and other, will have to survive for a while with the Physiologists, as a memorable *Nightmare-Dream.* All this haggard epoch, with its ghastly Doctrines, and death's-head Philosophies 'teaching by example' or otherwise, will one day have become, what to our Moslem friends their godless ages are, 'the Period of Ignorance'

If the convulsive struggles of the last Half-Century have taught poor struggling convulsed Europe any truth, it may perhaps be this as the essence of innumerable others· That Europe requires a real Aristocracy, a real Priesthood, or it cannot continue to exist. Huge French Revolutions, Napoleonisms, then Bourbonisms with their corollary of Three Days, finishing in very unfinal Louis-Philippisms all this ought to be didactic! All this may have taught us, That False Aristocracies are insupportable, that No-Aristocracies are insupportable, that No-Aristocracies, Liberty-and-Equalities are impossible, that True Aristocracies are at once indispensable and not easily attained

Aristocracy and Priesthood, a Governing Class and a Teaching Class. these two, sometimes separate, and endeavouring to harmonize themselves, sometimes conjoined as one, and the King a Pontiff King·—there did no Society exist without these two vital elements, there will none exist It lies in the very nature of man you will visit no remotest village in the most republican country of the world, where virtually or actually you do not find these two powers at work Man, little as he may suppose it, is necessitated to obey superiors He is a social being in virtue of this necessity, nay, he could not be gregarious otherwise He obeys those

whom he esteems better than himself, wiser, braver; and will for ever obey such, and even be ready and delighted to do it

The Wiser, Braver these, a Virtual Aristocracy everywhere and everywhen, do in all Societies that reach any articulate shape, develop themselves into a ruling class, an Actual Aristocracy, with settled modes of operating, what are called laws and even *private-laws* or privileges, and so forth, very notable to look upon in this world —Aristocracy and Priesthood, we say, are sometimes united For indeed the Wiser and the Braver are properly but one class, no wise man but needed first of all to be a brave man, or he never had been wise The noble Priest was always a noble *Aristos* to begin with, and something more to end with Your Luther, your Knox, your Anselm, Becket, Abbot Samson, Samuel Johnson, if they had not been brave enough, by what possibility could they ever have been wise?—If, from accident or forethought, this your Actual Aristocracy have got discriminated into Two Classes, there can be no doubt but the Priest Class is the more dignified, supreme over the other, as governing head is over active hand And yet in practice again, it is likeliest the reverse will be found arranged,—a sign that the arrangement is already vitiated; that a split is introduced into it, which will widen and widen till the whole be rent asunder

In England, in Europe generally, we may say that these two Virtualities have unfolded themselves into Actualities, in by far the noblest and richest manner any region of the world ever saw A spiritual Guideship, a practical Governorship, fruit of the grand conscious endeavours, say rather of the immeasurable unconscious instincts and necessities of men, have established themselves, very strange to behold Everywhere, while so much has been forgotten, you find the King's Palace, and the Viceking's Castle, Mansion, Manorhouse, till there is not an inch of ground from sea to sea but has both its King and Viceking, long due series of Vicekings, its Squire, Earl,

Duke or whatever the title of him,—to whom you have given the land, that he may govern you in it.

More touching still, there is not a hamlet where poor peasants congregate, but, by one means and another a Church-Apparatus has been got together,—roofed edifice, with revenues and belfries, pulpit, reading-desk, with Books and Methods possibility in short, and strict prescription, That a man stand there and speak of spiritual things to men It is beautiful ,—even in its great obscuration and decadence, it is among the beautifullest, most touching objects one sees on the Earth This Speaking Man has indeed, in these times, wandered terribly from the point , has, alas, as it were, totally lost sight of the point . yet, at bottom, whom have we to compare with him ? Of all public functionaries boarded and lodged on the Industry of Modern Europe, is there one worthier of the board he has ? A man even professing, and never so languidly making still some endeavour, to save the souls of men contrast him with a man professing to do little but shoot the partridges of men ! I wish he could find the point again, this Speaking One , and stick to it with tenacity, with deadly energy , for there is need of him yet ! The Speaking Function, this of Truth coming to us with a living voice, nay in a living shape, and as a concrete practical exemplar this, with all our Writing and Printing Functions, has a perennial place Could he but find the point again,—take the old spectacles off his nose, and looking up discover, almost in contact with him, what the *real* Satanas, and soul-devouring, world-devouring *Devil*, now is ! Original Sin and suchlike are bad enough, I doubt not but distilled Gin, dark Ignorance, Stupidity, dark Corn-Law, Bastille and Company, what are they ! *Will* he discover our new real Satan, whom he has to fight , or go on droning through his old nose-spectacles about old extinct Satans , and never see the real one, till he *feel* him at his own throat and ours ? That is a question, for the world ! Let us not intermeddle with it here

Sorrowful, phantasmal as this same Double Aristocracy of Teachers and Governors now looks, it is worth all men's while to know that the purport of it is and remains noble and most real Dryasdust, looking merely at the surface, is greatly in error as to those ancient Kings William Conqueror, William Rufus or Redbeard, Stephen Curthose himself, much more Henry Beauclerc and our brave Plantagenet Henry the life of these men was not vulturous Fighting; it was a valorous Governing,—to which occasionally Fighting did, and alas must yet, though far seldomer now, superadd itself as an accident, a distressing impedimental adjunct The fighting too was indispensable, for ascertaining who had the might over whom, the right over whom By much hard fighting, as we once said, 'the unrealities, beaten into dust, flew gradually off'; and left the plain reality and fact, 'Thou stronger than I, thou wiser than I, thou king, and subject I,' in a somewhat clearer condition

Truly we cannot enough admire, in those Abbot-Samson and William-Conqueror times, the arrangement they had made of their Governing Classes Highly interesting to observe how the sincere insight, on their part, into what did, of primary necessity, behove to be accomplished, had led them to the way of accomplishing it, and in the course of time to get it accomplished! No imaginary Aristocracy would serve their turn, and accordingly they attained a real one The Bravest men, who, it is ever to be repeated and remembered, are also on the whole the Wisest, Strongest, everyway Best, had here, with a respectable degree of accuracy, been got selected, seated each on his piece of territory, which was lent him, then gradually given him, that he might govern it These Vikings, each on his portion of the common soil of England, with a Head King over all, were a 'Virtuality perfected into an Actuality' really to an astonishing extent

For those were rugged stalwart ages, full of earnestness, of a rude God's-truth —nay, at any rate, their

quilting was so unspeakably *thinner* than ours; Fact came swiftly on them, if at any time they had yielded to Phantasm! 'The Knaves and Dastards' had to be 'arrested' in some measure, or the world, almost within year and day, found that it could not live The Knaves and Dastards accordingly were got arrested Dastards upon the very throne had to be got arrested, and taken off the throne,—by such methods as there were, by the roughest method, if there chanced to be no smoother one! Doubtless there was much harshness of operation, much severity, as indeed government and surgery are often somewhat severe Gurth, born thrall of Cedric, it is like, got cuffs as often as pork-parings, if he misdemeaned himself, but Gurth did belong to Cedric no human creature then went about connected with nobody; left to go his way into Bastilles or worse, under *Laissez-faire*, reduced to prove his relationship by dying of typhus fever!—Days come when there is no King in Israel, but every man is his own king, doing that which is right in his own eyes,—and tarbarrels are burnt to 'Liberty', 'Tenpound Franchise' and the like, with considerable effect in various ways!—

That Feudal Aristocracy, I say, was no imaginary one To a respectable degree, its *Jarls*, what we now call Earls, were *Strong-Ones* in fact as well as etymology, its Dukes *Leaders*, its Lords *Law-wards* They did all the Soldiering and Police of the country, all the Judging, Law-making, even the Church-Extension, whatsoever in the way of Governing, of Guiding and Protecting could be done It was a Land Aristocracy, it managed the Governing of this English People, and had the reaping of the Soil of England in return It is, in many senses, the Law of Nature, this same Law of Feudalism,—no right Aristocracy but a Land one! The curious are invited to meditate upon it in these days Soldiering, Police and Judging, Church-Extension, nay real Government and Guidance, all this was actually *done* by the Holders of the Land in return for their Land How much of it is now done

by them; done by anybody? Good Heavens, 'Laissez-faire, Do ye nothing, eat your wages and sleep,' is everywhere the passionate half-wise cry of this time; and they will not so much as do nothing, but must do mere Corn-Laws! We raise Fifty-two millions, from the general mass of us, to get our Governing done —or, alas, to get ourselves persuaded that it is done· and the 'peculiar burden of the Land' is to pay, not all this, but to pay, as I learn, one twenty-fourth part of all this Our first Chartist Parliament, or Oliver *Redivivus*, you would say, will know where to lay the new taxes of England!—Or, alas, taxes? If we made the Holders of the Land pay every shilling still of the expense of Governing the Land, what were all that? The Land, by mere hired Governors, cannot be got governed You cannot hire men to govern the Land it is by a mission not contracted for in the Stock-Exchange, but felt in their own hearts as coming out of Heaven, that men can govern a Land The mission of a Land Aristocracy is a *sacred* one, in both the senses of that old word The footing it stands on, at present, might give rise to thoughts other than of Corn-Laws!—

But truly a 'Splendour of God', as in William Conqueror's rough oath, did dwell in those old rude veracious ages, did inform, more and more, with a heavenly nobleness, all departments of their work and life Phantasms could not yet walk abroad in mere Cloth Tailorage, they were at least Phantasms 'on the rim of the horizon', pencilled there by an eternal Light-beam from within A most 'practical' Hero-worship went on, unconsciously or half consciously, everywhere A Monk Samson, with a maximum of two shillings in his pocket, could, without ballot-box, be made a Viceking of, being seen to be worthy The difference between a good man and a bad man was as yet felt to be, what it for ever is, an immeasurable one Who *durst* have elected a Pandarus Dogdraught, in those days, to any office, Carlton Club, Senatorship, or place whatsoever? It was felt that the arch Satanas and no other had a clear right of

property in Pandarus, that it were better for you to have no hand in Pandarus, to keep out of Pandarus his neighbourhood! Which is, to this hour, the mere fact, though for the present, alas, the forgotten fact. I think they were comparatively blessed times those, in their way! 'Violence,' 'war,' 'disorder': well, what is war, and death itself, to such a perpetual life-in-death, and 'peace, peace, where there is no peace!' Unless some Hero-worship, in its new appropriate form, can return, this world does not promise to be very habitable long.

Old Anselm, exiled Archbishop of Canterbury, one of the purest minded 'men of genius', was travelling to make his appeal to Rome against King Rufus,—a man of rough ways, in whom the 'inner Lightbeam' shone very fitfully. It is beautiful to read, in Monk Eadmer, how the Continental populations welcomed and venerated this Anselm, as no French population now venerates Jean-Jacques or giant-killing Voltaire, as not even an American population now venerates a Schnuspel the distinguished Novelist! They has, by phantasy and true insight, the intensest conviction that a God's-Blessing dwelt in this Anselm,—as is my conviction too. They crowded round, with bent knees and enkindled hearts, to receive his blessing, to hear his voice, to see the light of his face. My blessings on them and on him!—But the notablest was a certain necessitous or covetous Duke of Burgundy, in straitened circumstances we shall hope,—who reflected that in all likelihood this English Archbishop, going towards Rome to appeal, must have taken store of cash with him to bribe the Cardinals. Wherefore he of Burgundy, for his part, decided to lie in wait and rob him. 'In an open space of a wood', some 'wood' then green and growing, eight centuries ago, in Burgundian Land,—this fierce Duke, with fierce steel followers, shaggy, savage, as the Russian bear, dashes out on the weak old Anselm, who is riding along there, on his small quiet-going pony, escorted only by Eadmer and another poor Monk on ponies, and, except small

modicum of roadmoney, not a gold coin in his possession The steelclad Russian bear emerges, glaring: the old white-bearded man starts not,—paces on unmoved, looking into him with those clear old earnest eyes, with that venerable sorrowful time-worn face, of whom no man or thing need be afraid, and who also is afraid of no created man or thing The fire eyes of his Burgundian Grace meet these clear eye-glances, convey them swift to his heart. he bethinks him that probably this feeble, fearless, hoary Figure has in it something of the Most High God, that probably he shall be damned if he meddle with it,—that, on the whole, he had better not He plunges, the rough savage, from his war-horse, down to his knees; embraces the feet of old Anselm he too begs his blessing, orders men to escort him, guard him from being robbed, and under dread penalties see him safe on his way *Per os Dei*, as his Majesty was wont to ejaculate!

Neither is this quarrel of Rufus and Anselm, or Henry and Becket, uninstructive to us It was, at bottom, a great quarrel For, admitting that Anselm was full of divine blessing, he by no means included in him all forms of divine blessing —there were far other forms withal, which he little dreamed of, and William Redbeard was unconsciously the representative and spokesman of these In truth, could your divine Anselm, your divine Pope Gregory have had their way, the results had been very notable Our Western World had all become a European Thibet, with one Grand Lama sitting at Rome, our one honourable business that of singing mass, all day and all night Which would not in the least have suited us! The Supreme Powers willed it not so

It was as if King Redbeard unconsciously, addressing Anselm, Becket and the others, had said 'Right Reverend, your Theory of the Universe is indisputable by man or devil To the core of our heart we feel that this divine thing, which you call Mother Church, does fill the whole world hitherto known, and is and shall be all our salvation and all our desire And yet—

and yet—Behold, though it is an unspoken secret, the world is *wider* than any of us think, Right Reverend! Behold, there are yet other immeasurable Sacrednesses in this that you call Heathenism, Secularity! On the whole, I, in an obscure but most rooted manner, feel that I cannot comply with you. Western Thibet and perpetual mass-chanting,—No. I am, so to speak, in the family-way; with child, of I know not what,—certainly of something far different from this! I have—*Per os Dei*, I have Manchester Cotton-trades, Bromwicham Iron-trades, American Commonwealths, Indian Empires, Steam Mechanisms and Shakespeare Dramas, in my belly; and cannot do it, Right Reverend!'—So accordingly it was decided: and Saxon Becket spilt his life in Canterbury Cathedral, as Scottish Wallace did on Tower-hill, and as generally a noble man and martyr has to do,—not for nothing; no, but for a divine something, other than *he* had altogether calculated. We will now quit this of the hard, organic, but limited Feudal Ages; and glance timidly into the immense Industrial Ages, as yet all inorganic, and in a quite pulpy condition, requiring desperately to harden themselves into some organism!

Our Epic having now become *Tools and the Man*, it is more than usually impossible to prophesy the Future. The boundless Future does lie there, predestined, nay already extant though unseen; hiding, in its Continents of Darkness, 'gladness and sorrow:' but the supremest intelligence of man cannot prefigure much of it:—the united intelligence and effort of All Men in all coming generations, this alone will gradually prefigure it, and figure and form it into a seen fact! Straining our eyes hitherto, the utmost effort of intelligence sheds but some most glimmering dawn, a little way into its dark enormous Deeps: only huge outlines loom uncertain on the sight; and the ray of prophecy, at a short distance, expires. But may we not say, here as always, Sufficient for the day is the evil thereof! To shape the whole Future is not our problem; but only to shape faithfully a small part

of it, according to rules already known It is perhaps possible for each of us, who will with due earnestness inquire, to ascertain clearly what he, for his own part, ought to do this let him, with true heart, do, and continue doing The general issue will, as it has always done, rest well with a Higher Intelligence than ours

One grand 'outline', or even two, many earnest readers may perhaps, at this stage of the business, be able to prefigure for themselves,—and draw some guidance from One prediction, or even two, are already possible. For the Life-tree Igdrasil, in all its new developments, is the selfsame world-old Life tree having found an element or elements there, running from the very roots of it in Hela's Realms, in the Well of Mimer and of the Three Nornas or TIMES, up to this present hour of it in our own hearts, we conclude that such will have to continue A man has, in his own soul, an Eternal, can read something of the Eternal there, if he will look! He already knows what will continue, what cannot, by any means or appliance whatsoever, be made to continue!

One wide and widest 'outline' ought really, in all ways, to be becoming clear to us, this namely That a 'Splendour of God', in one form or other, will have to unfold itself from the heart of these our Industrial Ages too, or they will never get themselves 'organized', but continue chaotic, distressed, distracted evermore, and have to perish in frantic suicidal dissolution A second 'outline' or prophecy, narrower, but also wide enough, seems not less certain That there will again *be* a King in Israel, a system of Order and Government, and every man shall, in some measure, see himself constrained to do that which is right in the King's eyes This too we may call a sure element of the Future, for this too is of the Eternal,—this too is of the Present, though hidden from most, and without it no fibre of the Past ever was An actual new Sovereignty, Industrial Aristocracy, real not imaginary Aristocracy, is indispensable and indubitable for us.

But what an Aristocracy, on what new, far more

complex and cunningly devised conditions than that old Feudal fighting one! For we are to bethink us that the Epic verily is not *Arms and the Man*, but *Tools and the Man*,—an infinitely wider kind of Epic. And again we are to bethink us that men cannot now be bound to men by *brass-collars*,—not at all: that this brass-collar method, in all figures of it, has vanished out of Europe for evermore! Huge Democracy, walking the streets everywhere in its Sack Coat, has asserted so much; irrevocably, brooking no reply! True enough, man *is* for ever the 'born thrall' of certain men, born master of certain other men, born equal of certain others, let him acknowledge the fact or not. It is unblessed for him when he cannot acknowledge this fact; he is in the chaotic state, ready to perish, till he do get the fact acknowledged. But no man is, or can henceforth be, the brass-collar thrall of any man; you will have to bind him by other, far nobler and cunninger methods. Once for all, he is to be loose of the brass-collar, to have a scope *as* wide as his faculties now are:—will he not be all the usefuller to you, in that new state? Let him go abroad as a trusted one, as a free one; and return home to you with rich earnings at night! Gurth could only tend pigs; this one will build cities, conquer waste worlds.—How, in conjunction with inevitable Democracy, indispensable Sovereignty is to exist: certainly it is the hugest question ever heretofore propounded to Mankind! The solution of which is work for long years and centuries. Years and centuries, of one knows not what complexion;—blessed or unblessed, according as they shall, with earnest valiant effort, make progress therein, or, in slothful unveracity and dilettantism, only talk of making progress. For either progress therein, or swift and ever swifter progress towards dissolution, is henceforth a necessity.

It is of importance that this grand reformation were begun; that Corn-Law Debatings and other jargon, little less than delirious in such a time, had fled far

away, and left us room to begin! For the evil has grown practical, extremely conspicuous; if it be not seen and provided for, the blindest fool will have to feel it ere long. There is much that can wait; but there is something also that cannot wait. With millions of eager Working Men imprisoned in 'Impossibility' and Poor-Law Bastilles, it is time that some means of dealing with them were trying to become 'possible'! Of the Government of England, of all articulate-speaking functionaries, real and imaginary Aristocracies, of me and of thee, it is imperatively demanded, 'How do you mean to manage these men? Where are they to find a supportable existence? What is to become of them,—and of you!'

CHAPTER II

BRIBERY COMMITTEE

In the case of the late Bribery Committee, it seemed to be the conclusion of the soundest practical minds that Bribery could not be put down; that Pure Election was a thing we had seen the last of, and must now go on without, as we best could. A conclusion not a little startling; to which it requires a practical mind of some seasoning to reconcile yourself at once! It seems, then, we are henceforth to get ourselves constituted Legislators not according to what merit we may have, or even what merit we may seem to have, but according to the length of our purse, and our frankness, impudence and dexterity in laying out the contents of the same. Our theory, written down in all books and law-books, spouted forth from all barrel-heads, is perfect purity of Tenpound Franchise, absolute sincerity of question put and answer given;—and our practice is irremediable bribery; irremediable, unpunishable, which you will do more harm than good by attempting to punish! Once more, a very startling

conclusion indeed, which, whatever the soundest practical minds in Parliament may think of it, invites all British men to meditations of various kinds

A Parliament, one would say, which proclaims itself elected and eligible by bribery, tells the Nation that is governed by it a piece of singular news Bribery have we reflected what bribery is? Bribery means not only length of purse, which is neither qualification nor the contrary for legislating well, but it means dishonesty, and even impudent dishonesty,—brazen insensibility to lying and to making others lie, total oblivion, and flinging overboard, for the nonce, of any real thing you can call veracity, morality, with dexterous putting on the cast-clothes of that real thing, and strutting about in them! What Legislating can you get out of a man in that fatal situation? None that will profit much, one would think! A Legislator who has left his veracity lying on the door-threshold, he, why verily *he*—ought to be sent out to seek it again!

Heavens, what an improvement, were there once fairly in Downing-street an Election-Office opened, with a Tariff of Boroughs! Such and such a population, amount of property-tax, ground-rental, extent of trade, returns two Members, returns one Member, for so much money down Ipswich so many thousands, Nottingham so many,—as they happened, one by one, to fall into this new Downing-street Schedule A! An incalculable improvement, in comparison for now at least you have it fairly by length of purse, and leave the dishonesty, the impudence, the unveracity all handsomely aside Length of purse and desire to be a Legislator ought to get a man into Parliament, not *with*, but if possible *without* the unveracity, the impudence and the dishonesty! Length of purse and desire, these are, as intrinsic qualifications, correctly equal to zero, but they are not yet *less* than zero,—as the smallest addition of that latter sort will make them!

And is it come to this? And does our venerable Parliament announce itself elected and eligible in this

manner? Surely such a Parliament promulgates strange horoscopes of itself What is to become of a Parliament elected or eligible in this manner? Unless Belial and Beelzebub have got possession of the throne of this Universe, such Parliament is preparing itself for new Reform-bills We shall have to try it by Chartism, or any conceivable *ism*, rather than put up with this! There is already in England 'religion' enough to get six hundred and fifty-eight Consulting Men brought together who do *not* begin work with a lie in their mouth Our poor old Parliament, thousands of years old, is still good for something, for several things,—though many are beginning to ask, with ominous anxiety, in these days For what thing? But for whatever thing and things Parliament be good, indisputably it must start with other than a lie in its mouth! On the whole, a Parliament working with a lie in its mouth, will have to take itself away To no Parliament or thing, that one has heard of, did this Universe ever long yield harbour on that footing At all hours of the day and night, some Chartism is advancing, some armed Cromwell is advancing, to apprise such Parliament. 'Ye are no Parliament In the name of God,—go!'

In sad truth, once more, how is our whole existence, in these present days, built on Cant, Speciosity, Falsehood, Dilettantism, with this one serious Veracity in it: Mammonism! Dig down where you will, through the Parliament-floor or elsewhere, how infallibly do you, at spade's depth below the service, come upon this universal *Liars*-rock substratum! Much else is ornamental, true on barrel-heads, in pulpits, hustings, Parliamentary benches, but this is for ever true and truest 'Money does bring money's worth, Put money in your purse' Here, if nowhere else, is the human soul still in thorough earnest, sincere with a prophet's sincerity: and 'the Hell of the English', as Sauerteig said, 'is the infinite terror of Not getting on, especially of Not making money' With results!

To many persons the horoscope of Parliament is more interesting than to me but surely all men with souls must admit that sending members to Parliament by bribery is an infamous solecism, an act entirely immoral, which no man can have to do with, more or less, but he will soil his fingers more or less No Carlton Clubs, Reform Clubs, nor any sort of clubs or creatures, or of accredited opinions or practices, can make a Lie Truth, can make Bribery a Propriety The Parliament should really either punish and put away Bribery, or legalize it by some Office in Downing street. As I read the Apocalypses, a Parliament that can do neither of these things is not in a good way —And yet, alas, what of Parliaments and their Elections? Parliamentary Elections are but the topmost ultimate outcome of an electioneering which goes on at all hours, in all places, in every meeting of two or more men. It is *we* that vote wrong, and teach the poor ragged Freemen of Boroughs to vote wrong. We pay respect to those worthy of no respect

Is not Pandarus Dogdraught a member of select clubs, and admitted into the drawing-rooms of men? Visibly to all persons he is of the offal of Creation; but he carries money in his purse, due lacquer on his dog-visage, and it is believed will not steal spoons The human species does not with one voice, like the Hebrew Psalmist, 'shun to sit' with Dogdraught, refuse totally to dine with Dogdraught, men called of honour are willing enough to dine with him, his talk being lively, and his champagne excellent We say to ourselves, 'The man is in good society,'—others have already voted for him, why should not I? We *forget* the indefeasible right of property that Satan has in Dogdraught,—we are not afraid to be near Dogdraught! It is we that vote wrong, blindly, nay, with falsity prepense! It is we that no longer know the difference between Human Worth and Human Unworth, or feel that the one is admirable and alone admirable, the other detestable, damnable! How shall *we* find out a Hero and Viceking Samson with

a maximum of two shillings in his pocket? We have no chance to do such a thing We have got out of the Ages of Heroism, deep into the Ages of Flunkeyism,—and must return or die What a noble set of mortals are we, who, because there is no Saint Edmund threatening us at the rim of the horizon, are not afraid to be whatever, for the day and hour, is smoothest for us!

And now, in good sooth, why should an indigent discerning Freeman give his vote without bribes? Let us rather honour the poor man that he does discern clearly wherein lies, for him, the true kernel of the matter What is it to the ragged grimy Freeman of a Tenpound-Franchise Borough, whether Aristides Rigmarole, Esq of the Destructive, or the Hon Alcides Dolittle of the Conservative Party, be sent to Parliament,—much more, whether the two-thousandth part of them be sent, for that is the amount of his faculty in it? Destructive or Conservative, what will either of them destroy or conserve of vital moment to this Freeman? Has he found either of them care, at bottom, a sixpence for him or his interests, or those of his class or of his cause, or of any class or cause that is of much value to God or to man? Rigmarole and Dolittle have alike cared for themselves hitherto, and for their own clique, and self-conceited crotchets,—their greasy dishonest interests of pudding, or windy dishonest interests of praise, and not very perceptibly for any other interest whatever Neither Rigmarole nor Dolittle will accomplish any good or any evil for this grimy Freeman, like giving him a five-pound note, or refusing to give it him It will be smoothest to vote according to value received That is the veritable fact, and he indigent, like others that are not indigent, acts conformably thereto.

Why, reader, truly, if they asked thee or me, Which way we meant to vote?—were it not our likeliest answer Neither way! I, as a Tenpound Franchiser, will receive no bribe, but also I will not vote for either of these men Neither Rigmarole nor Dolittle shall,

by furtherance of mine, go and make laws for this country I will have no hand in such a mission How dare I ! If other men cannot be got in England, a totally other sort of men, different as light is from dark, as star-fire is from street-mud, what is the use of votings, or of Parliaments in England ? England ought to resign herself, there is no hope or possibility for England If England cannot get her Knaves and Dastards 'arrested', in some degree, but only get them 'elected', what is to become of England ?

I conclude, with all confidence, that England will verily have to put an end to briberies on her Election Hustings and elsewhere, at what cost soever,—and likewise that we, Electors and Eligibles, one and all of us, for our own behoof and hers, cannot too soon begin, at what cost soever, to put an end to *bribe-abilities* in ourselves The death-leprosy, attacked in this manner, by purifying lotions from without and by rallying of the vital energies and purities from within, will probably abate somewhat ! It has otherwise no chance to abate.

CHAPTER III

THE ONE INSTITUTION

WHAT our Government can do in this grand Problem of the Working Classes of England ? Yes, supposing the insane Corn-Laws totally abolished, all speech of them ended, and 'from ten to twenty years of new possibility to live and find wages' conceded us in consequence · What the English Government might be expected to accomplish or attempt towards rendering the existence of our Labouring Millions somewhat less anomalous, somewhat less impossible, in the years that are to follow those 'ten or twenty', if either 'ten' or 'twenty' there be ?

It is the most momentous question For all this of

the Corn-Law Abrogation, and what can follow therefrom, is but as the shadow on King Hezekiah's Dial: the shadow has gone back twenty years; but will again, in spite of Free-Trades and Abrogations, travel forward its old fated way. With our present system of individual Mammonism, and Government by Laissez-faire, this Nation cannot live And if, in the priceless interim, some new life and healing be not found, there is no second respite to be counted on The shadow on the Dial advances thenceforth without pausing. What Government can do? This that they call 'Organizing of Labour' is, if well understood, the Problem of the whole Future, for all who will in future pretend to govern men But our first preliminary stage of it How to deal with the Actual Labouring Millions of England? this is the imperatively pressing Problem of the Present, pressing with a truly fearful intensity and imminence in these very years and days No Government can longer neglect it. once more, what can our Government do in it?

Governments are of very various degrees of activity: some, altogether Lazy Governments, in 'free countries' as they are called, seem in these times almost to profess to do, if not nothing, one knows not at first what To debate in Parliament, and gain majorities, and ascertain who shall be, with a toil hardly second to Ixion's, the Prime Speaker and Spoke-holder, and keep the Ixion's-Wheel going, if not forward, yet round? Not altogether so —much, to the experienced eye, is not what it seems! Chancery and certain other Law-Courts seem nothing, yet in fact they are, the worst of them, something chimneys for the devilry and contention of men to escape by,—a very considerable something! Parliament too has its tasks, if thou wilt look, fit to wear-out the lives of toughest men. The celebrated Kilkenny Cats, through their tumultuous congress, cleaving the ear of Night, could they be said to do nothing? Hadst thou been of them, thou hadst

seen! The feline heart laboured, as with steam up—to the bursting point, and death-doing energy nerved every muscle: they had a work there, and did it! On the morrow, two tails were found left, and peaceable annihilation; a neighbourhood *delivered* from despair.

Again, are not Spinning-Dervishes an eloquent emblem, significant of much? Hast thou noticed him, that solemn-visaged Turk, the eyes shut; dingy wool mantle circularly hiding his figure;—bell-shaped; like a dingy bell set spinning on the *tongue* of it? By centrifugal force the dingy wool mantle heaves itself; spreads more and more, like upturned cup widening into upturned saucer: thus spins he, to the praise of Allah and advantage of mankind, fast and faster, till collapse ensue, and sometimes death!—

A Government such as ours, consisting of from seven to eight hundred Parliamentary Talkers, with their escort of Able Editors and Public Opinion; and for head, certain Lords and Servants of the Treasury, and Chief Secretaries and others, who find themselves at once Chiefs and No-Chiefs, and often commanded rather than commanding,—is doubtless a most complicate entity, and none of the alertest for getting on with business! Clearly enough, if the Chiefs be not self-motive and what we call men, but mere patient lay-figures without self-motive principle, the Government will not move anywhither; it will tumble disastrously, and jumble, round its own axis, as for many years past we have seen it do.—And yet a self-motive man who is not a lay-figure, place him in the heart of what entity you may, will make it move more or less! The absurdest in Nature he will make a little *less* absurd, he. The unwieldiest he will make to move;—that is the use of his existing there. He will at least have the manfulness to depart out of it, if not; to say: 'I cannot move in thee, and be a man; like a wretched drift-log dressed in man's clothes and minister's clothes, doomed to a lot baser than belongs to man, I will not continue with thee, tumbling aimless on the Mother of Dead Dogs here.—Adieu!'

For, on the whole, it is the lot of Chiefs everywhere, this same. No Chief in the most despotic country but was a Servant withal; at once an absolute commanding General, and a poor Orderly-Sergeant, ordered by the very men in the ranks,—obliged to collect the vote of the ranks too, in some articulate or inarticulate shape, and weigh well the same. The proper name of all Kings is Minister, Servant. In no conceivable Government can a lay-figure get forward! *This* Worker, surely he above all others has to 'spread out his Gideon's Fleece', and collect the monitions of Immensity; the poor Localities, as we said, and Parishes of Palace-yard or elsewhere, having no due monition in them. A Prime Minister, even here in England, who shall dare believe the heavenly omens, and address himself like a man and hero to the great dumb-struggling heart of England; and speak out for it, and act out for it, the God's-Justice it is writhing to get uttered and perishing for want of,—yes, he too will see awaken round him, in passionate burning all-defiant loyalty, the heart of England, and such a 'support' as no Division-List or Parliamentary Majority was ever yet known to yield a man! Here as there, now as then, he who can and dare trust the heavenly Immensities, all earthly Localities are subject to him. We will pray for such a Man and First-Lord;—yes, and far better, we will strive and incessantly make ready, each of us, to be worthy to serve and second such a First-Lord! We shall then be as good as sure of his arriving; sure of many things, let him arrive or not.

Who can despair of Governments that passes a Soldier's Guardhouse, or meets a redcoated man on the streets! That a body of men could be got together to kill other men when you bade them: this, *a priori*, does it not seem one of the impossiblest things? Yet look, behold it: in the stolidest of Donothing Governments, that impossibility is a thing done. See it there, with buff-belts, red coats on its back; walking sentry

at guardhouses, brushing white breeches in barracks, an indisputable palpable fact Out of grey Antiquity, amid all finance-difficulties, *scaccarium*-tallies, ship-moneys, coat-and-conduct moneys, and vicissitudes of Chance and Time, there, down to the present blessed hour, it is

Often, in these painfully decadent and painfully nascent Times, with their distresses, inarticulate gaspings and 'impossibilities', meeting a tall Lifeguardsman in his snow-white trousers, or seeing those two statuesque Lifeguardsmen in their frowning bearskins, pipe-clayed buckskins, on their coal-black sleek-fiery quadrupeds, riding sentry at the Horse-Guards,—it strikes one with a kind of mournful interest, how, in such universal down-rushing and wrecked impotence of almost all old institutions, this oldest Fighting Institution is still so young! Fresh-complexioned, firm-limbed, six feet by the standard, this fighting-man has verily been got up, and can fight While so much has not yet got into being, while so much has gone gradually out of it, and become an empty Semblance or Clothes suit, and highest king's-cloaks, mere chimeras parading under them so long, are getting unsightly to the earnest eye, unsightly, almost offensive, like a costlier kind of scarecrow's-blanket,—here still is a reality!

The man in horsehair wig advances, promising that he will get me 'justice' he takes me into Chancery Law-Courts, into decades, half-centuries of hubbub, of distracted jargon, and does *get* me—disappointment, almost desperation, and one refuge that of dismissing him and his 'justice' altogether out of my head. For I have work to do, I cannot spend my decades in mere arguing with other men about the exact wages of my work I will work cheerfully with no wages, sooner than with a ten-years gangrene or Chancery Lawsuit in my heart! He of the horsehair wig is a sort of failure, no substance, but a fond imagination of the mind He of the shovel hat, again, who comes forward professing that he will save my

soul—O ye Eternities, of him in this place be absolute silence!—But he of the red coat, I say, is a success and no failure! He will veritably, if he get orders, draw out a long sword and kill me. No mistake there. He is a fact and not a shadow. Alive in this Year Forty-three, able and willing to do *his* work. In dim old centuries, with William Rufus, William of Ipres, or far earlier, he began; and has come down safe so far. Catapult has given place to cannon, pike has given place to musket, iron mail-shirt to coat of red cloth, saltpetre ropematch to percussion-cap; equipments, circumstances have all changed, and again changed: but the human battle-engine, in the inside of any or of each of these, ready still to do battle, stands there, six feet in standard size. There are Pay-Offices, Woolwich Arsenals, there is a Horse-Guards, War-Office, Captain-General; persuasive Sergeants, with tap of drum, recruit in market-towns and villages;—and, on the whole, I say, here is your actual drilled fighting-man; here are your actual Ninety-thousand of such, ready to go into any quarter of the world and fight!

Strange, interesting, and yet most mournful to reflect on. Was this, then, of all the things mankind had some talent for, the one thing important to learn well, and bring to perfection; this of successfully killing one another? Truly you have learned it well, and carried the business to a high perfection. It is incalculable what, by arranging, commanding and regimenting, you can make of men. These thousand straight-standing firmset individuals, who shoulder arms, who march, wheel, advance, retreat; and are, for your behoof, a magazine charged with fiery death, in the most perfect condition of potential activity. few months ago, till the persuasive sergeant came, what were they? Multiform ragged losels, runaway apprentices, starved weavers, thievish valets; an entirely broken population, fast tending towards the treadmill. But the persuasive sergeant came; by tap of drum enlisted, or formed lists of them, took heartily

to drilling them ,—and he and you have made them this! Most potent, effectual for all work whatsoever, is wise planning, firm combining and commanding among men Let no man despair of Governments who looks on these two sentries at the Horse-Guards, and our United-Service Clubs! I could conceive an Emigration Service, a Teaching Service, considerable varieties of United and Separate Services, of the due thousands strong, all effective as this Fighting Service is, all doing *their* work, like it ,—which work, much more than fighting, is henceforth the necessity of these New Ages we are got into! Much lies among us, convulsively, nigh desperately *struggling to be born*

But mean Governments, as mean-limited individuals do, have stood by the physically indispensable , have realized that and nothing more The Soldier is perhaps one of the most difficult things to realize , but Governments, had they not realized him, could not have existed accordingly he is here O Heavens, if we saw an army ninety-thousand strong, maintained and fully equipped, in continual real action and battle against Human Starvation, against Chaos, Necessity, Stupidity, and our real 'natural enemies', what a business were it! Fighting and molesting not 'the French', who, poor men, have a hard enough battle of their own in the like kind, and need no additional molesting from us, but fighting and incessantly spearing down and destroying Falsehood, Nescience, Delusion, Disorder, and the Devil and his Angels! Thou thyself, cultivated reader, hast done something in that alone true warfare , but, alas, under what circumstances was it? Thee no beneficent drill-sergeant, with any effectiveness, would rank in line beside thy fellows , train, like a true didactic artist, by the wit of all past experience, to do thy soldiering , encourage thee when right, punish thee when wrong, and everywhere with wise word-of-command say, Forward on this hand, Forward on that! Ah, no thou hadst to learn thy small-sword and platoon exercise where and how thou couldst , to all mortals

but thyself it was indifferent whether thou shouldst ever learn it. And the rations, and shilling a day, were they provided thee,—reduced as I have known brave Jean-Pauls, learning their exercise, to live on 'water *without* the bread'? The rations, or any furtherance of promotion to corporalship, lance-corporalship, or due cat-o'-nine tails, with the slightest reference to thy deserts, were not provided. Forethought, even as of a pipe-clayed drill-sergeant, did not preside over thee. To corporalship, lance-corporalship, thou didst attain; alas, also to the halberts and cat: but thy rewarder and punisher seemed blind as the Deluge: neither lance-corporalship, nor even drummer's cat, because both appeared delirious, brought thee due profit.

It was well, all this, we know;—and yet it was not well! Forty soldiers, I am told, will disperse the largest Spitalfields mob: forty to ten-thousand, that is the proportion between drilled and undrilled. Much there is which cannot yet be organized in this world; but somewhat also which can, somewhat also which must. When one thinks, for example, what Books are become and becoming for us, what Operative Lancashires are become; what a Fourth Estate, and innumerable Virtualities not yet got to be Actualities are become and becoming,—one sees Organisms enough in the dim huge Future; and 'United Services' quite other than the redcoat one; and much, even in these years, struggling to be born!

Of Time-Bill, Factory Bill and other such Bills the present Editor has no authority to speak. He knows not, it is for others than he to know, in what specific ways it may be feasible to interfere, with Legislation, between the Workers and the Master-Workers;—knows only and sees, what all men are beginning to see, that Legislative interference, and interferences not a few are indispensable; that as a lawless anarchy of supply-and-demand, on market-wages alone, this province of things cannot longer be left. Nay inter-

ference has begun; there are already Factory Inspectors,—who seem to have no *lack* of work. Perhaps there might be Mine-Inspectors too:—might there not be Furrowfield Inspectors withal, and ascertain for us how on seven-and-sixpence a week a human family does live! Interference has begun; it must continue, must extensively enlarge itself, deepen and sharpen itself. Such things cannot longer be idly lapped in darkness, and suffered to go on unseen: the Heavens do see them; the curse, not the blessing of the Heavens is on an Earth that refuses to see them.

Again, are not Sanitary Regulations possible for a Legislature? The old Romans had their Aediles; who would, I think, in direct contravention to supply-and-demand, have rigorously seen rammed up into total abolition many a foul cellar in our Southwarks, Saint-Gileses, and dark poison-lanes; saying sternly, 'Shall a Roman man dwell there?' The Legislature, at whatever cost of consequences, would have had to answer, 'God forbid!'—The Legislature, even as it now is, could order all dingy Manufacturing Towns to cease from their soot and darkness; to let-in the blessed sunlight, the blue of Heaven, and become clear and clean; to burn their coal-smoke, namely, and make flame of it. Baths, free air, a wholesome temperature, ceilings twenty feet high, might be ordained, by Act of Parliament, in all establishments licensed as Mills. There are such Mills already extant;—honour to the builders of them! The Legislature can say to others: Go ye and do likewise; better if you can.

Every toiling Manchester, its smoke and soot all burnt, ought it not, among so many world-wide conquests, to have a hundred acres or so of free greenfield, with trees on it, conquered, for its little children to disport in; for its all-conquering workers to take a breath of twilight air in? You would say so! A willing Legislature could say so with effect. A willing Legislature could say very many things! And to whatsoever 'vested interest', or suchlike, stood up,

gainsaying merely, 'I shall lose profits,'—the willing Legislature would answer, 'Yes, but my sons and daughters will gain health, and life, and a soul'— 'What is to become of our Cotton-trade?' cried certain Spinners, when the Factory Bill was proposed, 'What is to become of our invaluable Cotton-trade?' The Humanity of England answered steadfastly 'Deliver me these rickety perishing souls of infants, and let your Cotton trade take its chance God Himself commands the one thing, not God especially the other We cannot have prosperous Cotton-trades at the expense of keeping the Devil a partner in them!'—

Bills enough, were the Corn-Law Abrogation Bill once passed, and a Legislature willing! Nay this one Bill, which lies yet unenacted, a right Education Bill, is not this of itself the sure parent of innumerable wise Bills,—wise regulations, practical methods and proposals, gradually ripening towards the state of Bills? To irradiate with intelligence, that is to say, with order, arrangement and all blessedness, the Chaotic, Unintelligent how, except by educating, *can* you accomplish this? That thought, reflection, articulate utterance and understanding be awakened in these individual million heads, which are the atoms of your Chaos. there is no other way of illuminating any Chaos! The sum-total of intelligence that is found in it, determines the extent of order that is possible for your Chaos,—the feasibility and rationality of what your Chaos will dimly demand from you, and will gladly obey when proposed by you! It is an exact equation, the one accurately measures the other — If the whole English People, during these 'twenty years of respite', be not educated, with at least schoolmaster's educating, a tremendous responsibility, before God and men, will rest somewhere! How dare any man, especially a man calling himself minister of God, stand up in any Parliament or place, under any pretext or delusion, and for a day or an hour forbid God's Light to come into the world, and bid the Devil's

Darkness continue in it one hour more! For all light and science, under all shapes, in all degrees of perfection, is of God; all darkness, nescience, is of the Enemy of God. 'The schoolmaster's creed is somewhat awry?' Yes, I have found few creeds entirely correct; few light-beams shining *white*, pure of admixture: but of all creeds and religions now or ever before known, was not that of thoughtless thriftless Animalism, of Distilled Gin, and Stupor and Despair, unspeakably the least orthodox? We will exchange *it* even with Paganism, with Fetishism; and, on the whole, must exchange it with something.

An effective 'Teaching Service' I do consider that there must be; some Education Secretary, Captain-General of Teachers, who will actually contrive to get us *taught*. Then again, why should there not be an 'Emigration Service', and Secretary, with adjuncts, with funds, forces, idle Navy-ships, and ever-increasing apparatus; in fine an *effective system* of Emigration; so that, at length, before our twenty years of respite ended, every honest willing Workman who found England too strait, and the 'Organization of Labour' not yet sufficiently advanced, might find likewise a bridge built to carry him into new Western Lands, there to 'organize' with more elbow-room some labour for himself? There to be a real blessing, raising new corn for us, purchasing new webs and hatchets from us; leaving us at least in peace;—instead of staying here to be a Physical-Force Chartist, unblessed and no blessing! Is it not scandalous to consider that a Prime Minister could raise within the year, as I have seen it done, a Hundred and Twenty Millions Sterling to shoot the French; and we are stopped short for want of the hundredth part of that to keep the English living? The bodies of the English living, and the souls of English living:—these two 'Services', an Education Service and an Emigration Service, these with others will actually have to be organized!

A free bridge for Emigrants: why, we should then be on a par with America itself, the most favoured

of all lands that have no government; and we should have, besides, so many traditions and mementoes of priceless things which America has cast away We could proceed deliberately to 'organize Labour', not doomed to perish unless we effected it within year and day,—every willing Worker that proved superfluous, finding a bridge ready for him This verily will have to be done, the Time is big with this Our little Isle is grown too narrow for us, but the world is wide enough yet for another Six Thousand Years England's sure markets will be among new Colonies of Englishmen in all quarters of the Globe All men trade with all men, when mutually convenient, and are even bound to do it by the Maker of men Our friends of China, who guiltily refused to trade, in these circumstances,—had we not to argue with them, in cannon shot at last, and convince them that they ought to trade! 'Hostile Tariffs' will arise, to shut us out, and then again will fall, to let us in but the Sons of England, speakers of the English language were it nothing more, will in all times have the ineradicable predisposition to trade with England Mycale was the *Pan-Ionion*, rendezvous of all the Tribes of Ion, for old Greece · why should not London long continue the *All-Saxon-home*, rendezvous of all the 'Children of the Harz-Rock', arriving, in select samples, from the Antipodes and elsewhere, by steam and otherwise, to the 'season' here!—What a Future, wide as the world, if we have the heart and heroism for it,—which, by Heaven's blessing, we shall

> Keep not standing fixed and rooted,
> Briskly venture, briskly roam,
> Head and hand, where'er thou foot it,
> And stout heart are still at home
>
> In what land the sun does visit,
> Brisk are we, whate'er betide
> To give space for wandering is it
> That the world was made so wide [1]

[1] Goethe, *Wilhelm Meister*

Fourteen hundred years ago, it was by a considerable 'Emigration Service', never doubt it, by much enlistment, discussion and apparatus, that we ourselves arrived in this remarkable Island,—and got into our present difficulties among others!

It is true the English Legislature, like the English People, is of slow temper; essentially conservative. In our wildest periods of reform, in the Long Parliament itself, you notice always the invincible instinct to hold fast by the Old; to admit the *minimum* of New; to expand, if it be possible, some old habit or method, already found fruitful, into new growth for the new need. It is an instinct worthy of all honour; akin to all strength and all wisdom. The Future hereby is not dissevered from the Past, but based continuously on it; grows with all the vitalities of the Past, and is rooted down deep into the beginnings of us. The English Legislature is entirely repugnant to believe in 'new epochs.' The English Legislature does not occupy itself with epochs; has, indeed, other business to do than looking at the Time-Horologe and hearing it tick! Nevertheless new epochs do actually come; and with them new imperious peremptory necessities; so that even an English Legislature has to look up, and admit, though with reluctance, that the hour has struck. The hour having struck, let us not say 'impossible':—it will have to be possible! 'Contrary to the habits of Parliament, the habits of Government'? Yes: but did any Parliament or Government ever sit in a Year Forty-three before? One of the most original, unexampled years and epochs; in several important respects, totally unlike any other! For Time, all-edacious and all-feracious, does run on: and the Seven Sleepers, awakening hungry after a hundred years, find that it is not their old nurses who can now give them suck!

For the rest, let not any Parliament, Aristocracy, Millocracy, or Member of the Governing Class, condemn with much triumph this small specimen of

'remedial measures', or ask again, with the least anger, of this Editor, What is to be done, How that alarming problem of the Working Classes is to be managed? Editors are not here, foremost of all, to say How. A certain Editor thanks the gods that nobody pays him three hundred thousand pounds a year, two hundred thousand, twenty thousand, or any similar sum of cash for saying How;—that his wages are very different, his work somewhat fitter for him. An Editor's stipulated work is to apprise *thee* that it must be done. The 'way to do it',—is to try it, knowing that thou shalt die if it be not done. There is the bare back, there is the web of cloth; thou shalt cut me a coat to cover the bare back, thou whose trade it is. 'Impossible'? Hapless Fraction, dost thou discern Fate there, half unveiling herself in the gloom of the future, with her gibbet-cords, her steel-whips, and very authentic Tailor's Hell; waiting to see whether it is 'possible'? Out with thy scissors, and cut that cloth or thy own windpipe!

CHAPTER IV

CAPTAINS OF INDUSTRY

If I believed that Mammonism with its adjuncts was to continue henceforth the one serious principle of our existence, I should reckon it idle to solicit remedial measures from any Government, the disease being insusceptible of remedy. Government can do much, but it can in no wise do all. Government, as the most conspicuous object in Society, is called upon to give signal of what shall be done; and, in many ways, to preside over, further, and command the doing of it. But the Government cannot do, by all its signalling and commanding, what the Society is radically indisposed to do. In the long-run every Government is the exact symbol of its People, with

their wisdom and unwisdom, we have to say, Like People like Government.—The main substance of this immense Problem of Organizing Labour, and first of all of Managing the Working Classes, will, it is very clear, have to be solved by those who stand practically in the middle of it; by those who themselves work and preside over work. Of all that can be enacted by any Parliament in regard to it, the germs must already lie potentially extant in those two Classes, who are to obey such enactment. A Human Chaos *in* which there is no light, you vainly attempt to irradiate by light shed *on* it: order never can arise there.

But it is my firm conviction that the 'Hell of England' will *cease* to be that of 'not making money'; that we shall get a nobler Hell and a nobler Heaven! I anticipate light *in* the Human Chaos, glimmering, shining more and more; under manifold true signals from without That light shall shine. Our deity no longer being Mammon,—O Heavens, each man will then say to himself: 'Why such deadly haste to make money? I shall not go to Hell, even if I do not make money! There is another Hell, I am told!' Competition, at railway-speed, in all branches of commerce and work will then abate:—good felt-hats for the head, in every sense, instead of seven-feet lath-and-plaster hats on wheels, will then be discoverable! Bubble-periods, with their panics and commercial crises, will again become infrequent; steady modest industry will take the place of gambling speculation. To be a noble Master, among noble Workers, will again be the first ambition with some few; to be a rich Master only the second. How the Inventive Genius of England, with the whirr of its bobbins and billy-rollers shoved somewhat into the backgrounds of the brain, will contrive and devise, not cheaper produce exclusively, but fairer distribution of the produce at its present cheapness! By degrees, we shall again have a Society with something of Heroism in it, something of Heaven's Blessing on it; we shall again have, as my German friend asserts, 'instead of Mammon-

Feudalism with unsold cotton-shirts and Preservation of the Game, noble just Industrialism and Government by the Wisest!'

It is with the hope of awakening here and there a British man to know himself for a man and divine soul, that a few words of parting admonition, to all persons to whom the Heavenly Powers have lent power of any kind in this land, may now be addressed. And first to those same Master-Workers, Leaders of Industry, who stand nearest, and in fact powerfullest, though not most prominent, being as yet in too many senses a Virtuality rather than an Actuality.

The Leaders of Industry, if Industry is ever to be led, are virtually the Captains of the World; if there be no nobleness in them, there will never be an Aristocracy more. But let the Captains of Industry consider: once again, are they born of other clay than the old Captains of Slaughter; doomed for ever to be no Chivalry, but a mere gold-plated *Doggery*,—what the French well name *Canaille*, 'Doggery' with more or less gold carrion at its disposal? Captains of Industry are the true Fighters, henceforth recognizable as the only true ones: Fighters against Chaos, Necessity and the Devils and Jotuns; and lead on Mankind in that great, and alone true, and universal warfare; the stars in their courses fighting for them, and all Heaven and all Earth saying audibly, Well done! Let the Captains of Industry retire into their own hearts, and ask solemnly, If there is nothing but vulturous hunger for fine wines, valet reputation and gilt carriages, discoverable there? Of hearts made by the Almighty God I will not believe such a thing. Deep-hidden under wretchedest god-forgetting Cants, Epicurisms, Dead-Sea Apisms; forgotten as under foulest fat Lethe mud and weeds, there is yet, in all hearts born into this God's-World, a spark of the Godlike slumbering. Awake, O nightmare sleepers; awake, arise, or be for ever fallen! This is not playhouse poetry; it is sober fact. Our England, our world cannot live as

it is. It will connect itself with a God again, or go down with nameless throes and fire-consummation to the Devils. Thou who feelest aught of such a Godlike stirring in thee, any faintest intimation of it as through heavy-laden dreams, follow *it*, I conjure thee Arise, save thyself, be one of those that save thy country

Bucaniers, Chactaw Indians, whose supreme aim in fighting is that they may get the scalps, the money, that they may amass scalps and money, out of such came no Chivalry, and never will! Out of such came only gore and wreck, infernal rage and misery, desperation quenched in annihilation Behold it, I bid thee, behold there, and consider! What is it that thou have a hundred thousand-pound bills laid up in thy strong-room, a hundred scalps hung up in thy wigwam? I value not them or thee Thy scalps and thy thousand-pound bills are as yet nothing, if no nobleness from within irradiate them, if no Chivalry, in action, or in embryo ever struggling towards birth and action, be there

Love of men cannot be bought by cash-payment, and without love, men cannot endure to be together You cannot lead a Fighting World without having it regimented, chivalried: the thing, in a day, becomes impossible, all men in it, the highest at first, the very lowest at last, discern consciously, or by a noble instinct, this necessity And can you any more continue to lead a Working World unregimented, anarchic? I answer, and the Heavens and Earth are now answering, No! The thing becomes not 'in a day' impossible, but in some two generations it does Yes, when fathers and mothers, in Stockport hunger-cellars, begin to eat their children, and Irish widows have to prove their relationship by dying of typhus-fever, and amid Governing 'Corporations of the Best and Bravest', busy to preserve their game by 'bushing', dark millions of God's human creatures start up in mad Chartisms impracticable Sacred-Months, and Manchester Insurrections,—and there is a virtual Industrial Aristocracy as yet only half-alive, spell-bound amid money-bags

and ledgers; and an actual Idle Aristocracy seemingly near dead in somnolent delusions, in trespasses and double-barrels, 'sliding,' as on inclined-planes, which every new year they *soap* with new Hansard's-jargon under God's sky, and so are 'sliding' ever faster, towards a 'scale' and balance-scale whereon is written *Thou art found Wanting*:—in such days, after a generation or two, I say, it does become, even to the low and simple, very palpably impossible! No Working World, any more than a Fighting World, can be led on without a noble Chivalry of Work, and laws and fixed rules which follow out of that,—far nobler than any Chivalry of Fighting was. As an anarchic multitude on mere Supply-and-demand, it is becoming inevitable that we dwindle in horrid suicidal convulsion, and self-abrasion, frightful to the imagination, into *Chactaw* Workers. With wigwams and scalps,—with palaces and thousand-pound bills; with savagery, depopulation, chaotic desolation! Good Heavens, will not one French Revolution and Reign of Terror suffice us, but must there be two? There will be two if needed; there will be twenty if needed; there will be precisely as many as are needed. The Laws of Nature will have themselves fulfilled. That is a thing certain to me.

Your gallant battle-hosts and work-hosts, as the others did, will need to be made loyally yours; they must and will be regulated, methodically secured in their just share of conquest under you;—joined with you in veritable brotherhood, sonhood, by quite other and deeper ties than those of temporary day's wages! How would mere redcoated regiments, to say nothing of chivalries, fight for you, if you could discharge them on the evening of the battle, on payment of the stipulated shillings,—and they discharge you on the morning of it! Chelsea Hospitals, pensions, promotions, rigorous lasting covenant on the one side and on the other, are indispensable even for a hired fighter. The Feudal Baron, much more,—how could he subsist with mere temporary mercenaries round him, at sixpence a day; ready to go over to the other side, if sevenpence

were offered? He could not have subsisted,—and his noble instinct saved him from the necessity of even trying! The Feudal Baron had a Man's Soul in him, to which anarchy, mutiny, and the other fruits of temporary mercenaries, were intolerable: he had never been a Baron otherwise, but had continued a Chactaw and Bucanier. He felt it precious, and at last it became habitual, and his fruitful enlarged existence included it as a necessity, to have men round him who in heart loved him, whose life he watched over with rigour yet with love, who were prepared to give their life for him, if need came. It was beautiful, it was human! Man lives not otherwise, nor can live contented, anywhere or anywhen. Isolation is the sum-total of wretchedness to man. To be cut off, to be left solitary: to have a world alien, not your world, all a hostile camp for you, not a home at all, of hearts and faces who are yours, whose you are! It is the frightfullest enchantment, too truly a work of the Evil One. To have neither superior, nor inferior, nor equal, united manlike to you. Without father, without child, without brother. Man knows no sadder destiny. 'How is each of us,' exclaims Jean Paul, 'so lonely in the wide bosom of the All!' Encased each as in his transparent 'ice-palace', our brother visible in his, making signals and gesticulations to us,—visible, but for ever unattainable: on his bosom we shall never rest, nor he on ours. It was not a God that did this, no!

Awake, ye noble Workers, warriors in the one true war: all this must be remedied. It is you who are already half alive, whom I will welcome into life, whom I will conjure in God's name to shake off your enchanted sleep, and live wholly! Cease to count scalps, gold-purses, not in these lies your or our salvation. Even these, if you count only these, will not be left. Let bucaniering be put far from you, alter, speedily abrogate all laws of the bucaniers, if you would gain any victory that shall endure. Let God's justice, let pity, nobleness and manly valour,

with more gold-purses or with fewer, testify themselves in this your brief Life-transit to all the Eternities, the Gods and Silences. It is to you I call, for ye are not dead, ye are already half-alive. there is in you a sleepless dauntless energy, the prime-matter of all nobleness in man. Honour to you in your kind It is to you I call ye know at least this, That the mandate of God to His creature man is Work! The future Epic of the World rests not with those that are near dead, but with those that are alive, and those that are coming into life.

Look around you Your world-hosts are all in mutiny, in confusion, destitution, on the eve of fiery wreck and madness! They will not march farther for you, on the sixpence a day and supply-and-demand principle: they will not, nor ought they, nor can they Ye shall reduce them to order, begin reducing them. To order, to just subordination, noble loyalty in return for noble guidance Their souls are driven nigh mad, let yours be sane and ever saner Not as a bewildered bewildering mob, but as a firm regimented mass, with real captains over them, will these men march any more All human interests, combined human endeavours, and social growths in this world, have, at a certain stage of their development, required organizing: and Work, the grandest of human interests, does now require it.

God knows, the task will be hard: but no noble task was ever easy This task will wear away your lives, and the lives of your sons and grandsons. but for what purpose, if not for tasks like this, were lives given to men? Ye shall cease to count your thousand-pound scalps, the noble of you shall cease! Nay, the very scalps, as I say, will not long be left if you count on these Ye shall cease wholly to be barbarous vulturous Chactaws, and become noble European Nineteenth-Century Men Ye shall know that Mammon, in never such gigs and flunkey 'respectabilities', is not the alone God, that of himself he is but a Devil, and even a Brute god

Difficult? Yes, it will be difficult. The short-fibre cotton, that too was difficult. The waste cotton shrub, long useless, disobedient, as the thistle by the wayside,—have ye not conquered it, made it into beautiful bandana webs, white woven shirts for men, bright-tinted air-garments wherein flit goddesses? Ye have shivered mountains asunder, made the hard iron pliant to you as soft putty: the Forest-giants, Marsh-jotuns bear sheaves of golden grain; Aegir the Sea-demon himself stretches his back for a sleek highway to you, and on Firehorses and Windhorses ye career. Ye are most strong. Thor red-bearded, with his blue sun-eyes, with his cheery heart and strong thunder-hammer, he and you have prevailed. Ye are most strong, ye Sons of the icy North, of the far East,—far marching from your rugged Eastern Wildernesses, hitherward from the grey Dawn of Time! Ye are Sons of the *Jotun*-land; the land of Difficulties Conquered. Difficult? You must try this thing. Once try it with the understanding that it will and shall have to be done. Try it as ye try the paltrier thing, making of money! I will bet on you once more, against all Jotuns, Tailor-gods, Double-barrelled Law-wards, and Denizens of Chaos whatsoever!

CHAPTER V

PERMANENCE

Standing on the threshold, nay as yet outside the threshold, of a 'Chivalry of Labour', and an immeasurable Future which it is to fill with fruitfulness and verdant shade; where so much has not yet come even to the rudimental state, and all speech of positive enactments were hazardous in those who know this business only by the eye,—let us here hint at simply one widest universal principle, as the basis from which all organization hitherto has grown up among men,

and all henceforth will have to grow The principle of Permanent Contract instead of Temporary

Permanent not Temporary —you do not hire the mere red-coated fighter by the day, but by the score of years! Permanence, persistence is the first condition of all fruitfulness in the ways of men The 'tendency to persevere', to persist in spite of hindrances, discouragements and 'impossibilities' it is this that in all things distinguishes the strong soul from the weak, the civilized burgher from the nomadic savage,—the Species Man from the Genus Ape! The Nomad has his very house set on wheels, the Nomad, and in a still higher degree the Ape, are all for 'liberty', the privilege to flit continually is indispensable for them Alas, in how many ways does our humour, in this swift-rolling self-abrading Time, show itself nomadic, apelike, mournful enough to him that looks on it with eyes! This humour will have to abate, it is the first element of all fertility in human things, that such 'liberty' of apes and nomads do by free-will or constraint abridge itself, give place to a better The civilized man lives not in wheeled houses He builds stone castles, plants lands, makes lifelong marriage-contracts,—has long-dated hundred-fold possessions, not to be valued in the money-market, has pedigrees, libraries, law codes, has memories and hopes, even for this Earth, that reach over thousands of years Lifelong marriage-contracts how much preferable were year-long or month-long—to the nomad or ape!

Month-long contracts please me little, in any province where there can by possibility be found virtue enough for more Month-long contracts do not answer well even with your house servants, the liberty on both sides to change every month is growing very apelike, nomadic,—and I hear philosophers predict that it will alter, or that strange results will follow. that wise men, pestered with nomads, with unattached ever-shifting spies and enemies rather than friends and

servants, will gradually, weighing substance against semblance with indignation, dismiss such, down almost to the very shoeblack, and say, 'Begone, I will serve myself rather, and have peace!' Gurth was hired for life to Cedric, and Cedric to Gurth. O Anti-Slavery Convention, loud sounding long-eared Exeter-Hall—But in thee too is a kind of instinct towards justice, and I will complain of nothing. Only black Quashee over the seas being once sufficiently attended to, wilt thou not perhaps open thy dull sodden eyes to the 'sixty thousand valets in London itself who are yearly dismissed to the streets, to be what they can, when the season ends',—or to the hunger-stricken, pallid, *yellow* coloured 'Free Labourers' in Lancashire, Yorkshire, Buckinghamshire, and all other shires! These Yellow-coloured, for the present, absorb all my sympathies: if I had a Twenty Millions, with Model-Farms and Niger Expeditions, it is to these that I would give it! Quashee has already victuals, clothing; Quashee is not dying of such despair as the yellow-coloured pale man's. Quashee, it must be owned, is hitherto a kind of blockhead. The Haiti Duke of Marmalade, educated now for almost half a century, seems to have next to no sense in him. Why, in one of those Lancashire Weavers, dying of hunger, there is more thought and heart, a greater arithmetical amount of misery and desperation, than in whole gangs of Quashees. It must be owned, thy eyes are of the sodden sort; and with thy emancipations, and thy twenty-millionings and long-eared clamourings, thou, like Robespierre with his pasteboard *Être Suprême*, threatenest to become a bore to us. *Avec ton Être Suprême tu commences m'embêter!*—

In a Printed Sheet of the assiduous, much-abused, and truly useful Mr Chadwick's, containing queries and responses from far and near, as to this great question, 'What is the effect of Education on working-men, in respect of their value as mere workers?' the present Editor, reading with satisfaction a decisive

unanimous verdict as to Education, reads with inexpressible interest this special remark, put in by way of marginal incidental note, from a practical manufacturing Quaker, whom, as he is anonymous, we will call Friend Prudence Prudence keeps a thousand workmen; has striven in all ways to attach them to him; has provided conversational soirées; playgrounds, bands of music for the young ones, went even 'the length of buying them a drum'. all which has turned out to be an excellent investment For a certain person, marked here by a black stroke, whom we shall name Blank, living over the way,—he also keeps somewhere about a thousand men, but has done none of these things for them, nor any other thing, except due payment of the wages by supply-and-demand. Blank's workers are perpetually getting into mutiny, into broils and coils every six months, we suppose, Blank has a strike, every one month, every day and every hour, they are fretting and obstructing the shortsighted Blank, pilfering from him, wasting and idling for him, omitting and committing for him 'I would not,' says Friend Prudence, 'exchange my workers for his *with seven thousand pounds to boot*'[1]

Right, O honourable Prudence, thou art wholly in the right· Seven thousand pounds even as a matter of profit for this world, nay for the mere cash market of this world! And as a matter of profit not for this world only, but for the other world and all worlds, it outweighs the Bank of England!—Can the sagacious reader descry here, as it were the outmost inconsiderable rock-ledge of a universal rock-foundation, deep once more as the Centre of the World, emerging so, in the experience of this good Quaker, through the Stygian mud vortexes and general Mother of Dead Dogs, whereon, for the present, all sways and insecurely hovers, as if ready to be swallowed?

Some Permanence of Contract is already almost possible, the principle of Permanence, year by year,

[1] Report on the Training of Pauper Children (1841), p 18

better seen into and elaborated, may enlarge itself, expand gradually on every side into a system This once secured, the basis of all good results were laid Once permanent, you do not quarrel with the first difficulty on your path, and quit it in weak disgust; you reflect that it cannot be quitted, that it must be conquered, a wise arrangement fallen on with regard to it Ye foolish Wedded Two, who have quarrelled, between whom the Evil Spirit has stirred up transient strife and bitterness, so that 'incompatibility' seems almost nigh, ye are nevertheless the Two who, by long habit, were it not by nothing more, do best of all others suit each other. it is expedient for your own two foolish selves, to say nothing of the infants, pedigrees and public in general, that ye agree again, that ye put away the Evil Spirit, and wisely on both hands struggle for the guidance of a Good Spirit!

The very horse that is permanent, how much kindlier do his rider and he work, than the temporary one, hired on any hack principle yet known! I am for permanence in all things, at the earliest possible moment, and to the latest possible Blessed is he that continueth where he is Here let us rest, and lay out seedfields, here let us learn to dwell Here, even here, the orchards that we plant will yield us fruit, the acorns will be wood and pleasant umbrage, if we wait How much grows everywhere, if we do but wait! Through the swamps we will shape causeways, force purifying drains, we will learn to thread the rocky inaccessibilities, and beaten tracks, worn smooth by mere travelling of human feet, will form themselves Not a difficulty but can transfigure itself into a triumph, not even a deformity but, if our own soul have imprinted worth on it, will grow dear to us The sunny plains and deep indigo transparent skies of Italy are all indifferent to the great sick heart of a Sir Walter Scott on the back of the Apennines, in wild spring weather, the sight of bleak Scotch firs, and snow-spotted heath and desolation, brings tears into his eyes[1]

[1] Lockhart's *Life of Scott*

O unwise mortals that for ever change and shift, and say, Yonder, not Here! Wealth richer than both the Indies lies everywhere for man, if he will endure. Not his oaks only and his fruit-trees, his very heart roots itself wherever he will abide;—roots itself, draws nourishment from the deep fountains of Universal Being! Vagrant Sam-Slicks, who rove over the Earth doing 'strokes of trade', what wealth have they? Horseloads, shiploads of white or yellow metal: in very sooth, what *are* these? Slick rests nowhere, he is homeless. He can build stone or marble houses; but to continue in them is denied him. The wealth of a man is the number of things which he loves and blesses, which he is loved and blessed by! The herdsman in his poor clay shieling, where his very cow and dog are friends to him, and not a cataract but carries memories for him, and not a mountain-top but nods old recognition: his life, all encircled as in blessed mother's-arms, is it poorer than Slick's with the ass-loads of yellow metal on his back? Unhappy Slick! Alas, there has so much grown nomadic, apelike, with us: so much will have, with whatever pain, repugnance and 'impossibility', to alter itself, to fix itself again,—in some wise way, in any not delirious way!

A question arises here: Whether, in some ulterior, perhaps some not far-distant stage of this 'Chivalry of Labour', your Master-Worker may not find it possible, and needful, to grant his Workers permanent *interest* in his enterprise and theirs? So that it become, in practical result, what in essential fact and justice it ever is, a joint enterprise; all men, from the Chief Master down to the lowest Overseer and Operative, economically as well as loyally concerned for it?—Which question I do not answer. The answer, near or else far, is perhaps, Yes;—and yet one knows the difficulties. Despotism is essential in most enterprises; I am told, they do not tolerate 'freedom of debate' on board a Seventy-four! Republican senate and

plebiscita would not answer well in Cotton-Mills And yet observe there too Freedom, not nomad's or ape's Freedom, but man's Freedom , this is indispensable We must have it, and will have it ! To reconcile Despotism with Freedom —well, is that such a mystery ? Do you not already know the way ? It is to make your Despotism *just* Rigorous as Destiny , just too, as Destiny and its Laws The Laws of God all men obey these, and have no 'Freedom' at all but in obeying them. The way is already known, part of the way ;—and courage and some qualities are needed for walking on it !

CHAPTER VI

THE LANDED

A MAN with fifty, with five hundred, with a thousand pounds a day, given him freely, without condition at all,—on condition, as it now runs, that he will sit with his hands in his pockets and do no mischief, pass no Corn-Laws or the like,—he too, you would say, is or might be a rather strong Worker ! He is a Worker with such tools as no man in this world ever before had But in practice, very astonishing, very ominous to look at, he proves not a strong Worker ,—you are too happy if he will prove but a No-worker, do nothing, and not be a Wrong-worker

You ask him, at the year's end 'Where is your three hundred thousand pound , what have you realized to us with that ?' He answers, in indignant surprise · 'Done with it ? Who are you that ask ? I have eaten it , I and my flunkeys, and parasites, and slaves two-footed and four footed, in an ornamental manner , and I am here alive by it , *I* am realized by it to you !'—It is, as we have often said, such an answer as was never before given under this Sun An answer that fills me with boding apprehension, with foreshadows of despair. O stolid Use and wont

of an atheistic Half-century, O Ignavia, Tailor-godhood, soul killing Cant, to what passes art thou bringing us! —Out of the loud-piping whirlwind, audibly to him that has ears, the Highest God is again announcing in these days 'Idleness shall not be.' God has said it, man cannot gainsay.

Ah, how happy were it, if he this Aristocrat Worker would, in like manner, see *his* work and do it! It is frightful seeking another to do it for him Guillotines, Meudon Tanneries, and half-a-million men shot dead, have already been expended in that business, and it is yet far from done This man too is something, nay he is a great thing Look on him there a man of manful aspect, something of the 'cheerfulness of pride' still lingering in him A free air of graceful stoicism, of easy silent dignity sits well on him, in his heart, could we reach it, lie elements of generosity, self-sacrificing justice, true human valour Why should he, with such appliances, stand an encumbrance in the Present, perish disastrously out of the Future! From no section of the Future would we lose these noble courtesies, impalpable yet all-controlling, these dignified reticences, these kingly simplicities;—lose aught of what the fruitful Past still gives us token of, memento of, in this man Can we not save him — can he not help us to save him! A brave man he too; had not undivine Ignavia, Hearsay, Speech without meaning,—had not Cant, thousandfold Cant within him and around him, enveloping him like choke-damp, like thick Egyptian darkness, thrown his soul into asphyxia, as it were extinguished his soul, so that he sees not, hears not, and Moses and all the Prophets address him in vain

Will he awaken, be alive again, and have a soul; or is this death-fit very death? It is a question of questions, for himself and for us all! Alas, is there no noble work for this man too? Has he not thick-headed ignorant boors, lazy, enslaved farmers, weedy lands? Lands! Has he not weary heavy-laden ploughers of land, immortal souls of men, ploughing,

ditching, day drudging, bare of back, empty of stomach, nigh desperate of heart; and none peaceably to help them but he, under Heaven? Does he find, with his three hundred thousand pounds, no noble thing trodden down in the thoroughfares, which it were godlike to help up? Can he do nothing for his Burns but make a Gauger of him, lionize him, bedinner him, for a foolish while, then whistle him down the wind, to desperation and bitter death?—His work too is difficult, in these modern, far-dislocated ages But it may be done, it may be tried,—it must be done.

A modern Duke of Weimar, not a god he either, but a human duke, levied, as I reckon, in rents and taxes and all incomings whatsoever, less than several of our English Dukes do in rent alone The Duke of Weimar, with these incomings, had to govern, judge, defend, everyway administer *his* Dukedom He does all this as few others did and he improves lands besides all this, makes river embankments, maintains not soldiers only but Universities and Institutions,—and in his Court were these four men Wieland, Herder, Schiller, Goethe Not as parasites, which was impossible, not as table wits and poetic Katerfeltoes, but as noble Spiritual Men working under a noble Practical Man Shielded by him from many miseries, perhaps from many shortcomings, destructive aberrations Heaven had sent, once more, heavenly Light into the world; and this man's honour was that he gave it welcome. A new noble kind of Clergy, under an old but still noble kind of King! I reckon that this one Duke of Weimar did more for the Culture of his Nation than all the English Dukes and *Duces* now extant, or that were extant since Henry the Eighth gave them the Church Lands to eat, have done for theirs!—I am ashamed, I am alarmed for my English Dukes. what word have I to say?

If our Actual Aristocracy, appointed 'Best-and-Bravest', will be wise, how inexpressibly happy for us! If not,—the voice of God from the whirlwind

is very audible to me Nay, I will thank the Great God, that He has said, in whatever fearful ways, and just wrath against us, 'Idleness shall be no more!' Idleness? The awakened soul of man, all but the asphyxied soul of man, turns from it as from worse than death It is the life-in-death of Poet Coleridge. That fable of the Dead-Sea Apes ceases to be a fable The poor Worker starved to death is not the saddest of sights He lies there, dead on his shield; fallen down into the bosom of his old Mother, with haggard pale face, sorrow-worn, but stilled now into divine peace, silently appeals to the Eternal God and all the Universe,—the most silent, the most eloquent of men

Exceptions,—ah yes, thank Heaven, we know there are exceptions Our case were too hard, were there not exceptions, and partial exceptions not a few, whom we know, and whom we do not know Honour to the name of Ashley,—honour to this and the other valiant Abdiel, found faithful still, who would fain, by work and by word, admonish their Order not to rush upon destruction! These are they who will, if not save their Order, postpone the wreck of it,—by whom, under blessing of the Upper Powers, 'a quiet euthanasia spread over generations, instead of a swift torture-death concentrated into years,' may be brought about for many things All honour and success to these The noble man can still strive nobly to save and serve his Order,—at lowest, he can remember the precept of the Prophet. 'Come out of her, my people, come out of her!'

To sit idle aloft, like living statues, like absurd Epicurus'-gods, in pampered isolation, in exclusion from the glorious fateful battlefield of this God's World it is a poor life for a man, when all Upholsterers and French-Cooks have done their utmost for it!—Nay, what shallow delusion is this we have all got into, That any man should or can keep himself apart from men, have 'no business' with them, except a cash-account 'business!' It is the silliest tale

a distressed generation of men ever took to telling one another. Men cannot live isolated: we *are* all bound together, for mutual good or else for mutual misery, as living nerves in the same body No highest man can disunite himself from any lowest Consider it Your poor 'Werter blowing out his distracted existence because Charlotte will not have the keeping thereof' this is no peculiar phasis, it is simply the highest expression of a phasis traceable wherever one human creature meets another! Let the meanest crookbacked Thersites teach the supremest Agamemnon that he actually does not reverence him, the supremest Agamemnon's eyes flash fire responsive, a real pain, and partial insanity, has seized Agamemnon Strange enough: a many counselled Ulysses is set in motion by a scoundrel-blockhead, plays tunes, like a barrel-organ, at the scoundrel-blockhead's touch,—has to snatch, namely, his sceptre cudgel, and weal the crooked back with bumps and thumps! Let a chief of men reflect well on it Not in having 'no business' with men, but in having no unjust business with them, and in *having* all manner of true and just business, can either his or their blessedness be found possible, and this waste world become, for both parties, a home and peopled garden

Men do reverence men Men do worship in that 'one temple of the world', as Novalis calls it, the Presence of a Man! Hero-worship, true and blessed, or else mistaken, false and accursed, goes on everywhere and everywhen In this world there is one godlike thing, the essence of all that was or ever will be of godlike in this world the veneration done to Human Worth by the hearts of men Hero-worship, in the souls of the heroic, of the clear and wise,—it is the perpetual presence of Heaven in our poor Earth when it is not there, Heaven is veiled from us, and all is under Heaven's ban and interdict, and there is no worship, or worth-ship, or worth or blessedness in the Earth any more!—

Independence, 'lord of the lion-heart and eagle-eye,' —alas, yes, he is one we have got acquainted with in these late times. a very indispensable one, for spurning off with due energy innumerable sham-superiors, Tailor-made honour to him, entire success to him! Entire success is sure to him But he must not stop there, at that small success, with his eagle-eye He has now a second far greater success to gain to seek out his real superiors, whom not the Tailor but the Almighty God has made superior to him, and see a little what he will do with these! Rebel against these also? Pass by with minatory eagle-glance, with calm-sniffing mockery, or even without any mockery or sniff, when these present themselves? The lion-hearted will never dream of such a thing For ever far be it from him! His minatory eagle-glance will veil itself in softness of the dove his lion-heart will become a lamb's; all its just indignation changed into just reverence, dissolved in blessed floods of noble humble love, how much heavenlier than any pride, nay, if you will, how much prouder! I know him, this lion hearted, eagle-eyed one; have met him, rushing on, 'with bosom bare,' in a very distracted dishevelled manner, the times being hard,—and can say, and guarantee on my life, That in him is no rebellion, that in him is the reverse of rebellion, the needful preparation for obedience For if you do mean to obey God-made superiors, your first step is to sweep out the Tailor made ones, order them, under penalties, to vanish, to make ready for vanishing!

Nay, what is best of all, he cannot rebel, if he would Superiors whom God has made for us we cannot order to withdraw! Not in the least No Grand-Turk himself, thickest-quilted tailor-made Brother of the Sun and Moon can do it: but an Arab Man, in cloak of his own clouting, with black beaming eyes, with flaming sovereign-heart direct from the centre of the Universe, and also, I am told, with terrible 'horse-shoe vein' of swelling wrath in his brow, and lightning (if you will not have it as light) tingling through

every vein of him,—he rises, says authoritatively 'Thickest-quilted Grand-Turk, tailor-made Brother of the Sun and Moon, No —*I* withdraw not, thou shalt obey me or withdraw!' And so accordingly it is: thickest-quilted Grand-Turks and all their progeny, to this hour, obey that man in the remarkablest manner, preferring *not* to withdraw

O brother, it is an endless consolation to me, in this disorganic, as yet so quack ridden, what you may well call hag-ridden and hell-ridden world, to find that disobedience to the Heavens, when they send any messenger whatever, is and remains impossible It cannot be done, no Turk grand or small can do it 'Show the dullest clodpole,' says my invaluable German friend, 'show the haughtiest featherhead, that a soul higher than himself is here, were his knees stiffened into brass, he must down and worship'

CHAPTER VII

THE GIFTED

Yes, in what tumultuous huge anarchy soever a Noble human Principle may dwell and strive, such tumult is in the way of being calmed into a fruitful sovereignty. It is inevitable No Chaos can continue chaotic with a soul in it Besouled with earnest human Nobleness, did not slaughter, violence and fire-eyed fury, grow into a Chivalry, into a blessed Loyalty of Governor and Governed? And in Work, which is of itself noble, and the only true fighting, there shall be no such possibility? Believe it not, it is incredible, the whole Universe contradicts it Here too the Chactaw Principle will be subordinated, the Man Principle will, by degrees, become superior, become supreme

I know Mammon too, Banks-of-England, Credit-Systems, world-wide possibilities of work and traffic;

and applaud and admire them. Mammon is like Fire; the usefullest of all servants, if the frightfullest of all masters! The Cliffords, Fitzadelms and Chivalry Fighters 'wished to gain victory', never doubt it: but victory, unlesss gained in a certain spirit, was no victory; defeat, sustained in a certain spirit, was itself victory. I say again and again, had they counted the scalps alone, they had continued Chactaws, and no Chivalry or lasting victory had been. And in Industrial Fighters and Captains is there no nobleness discoverable? To them, alone of men, there shall for ever be no blessedness but in swollen coffers? To see beauty, order, gratitude, loyal human hearts around them, shall be of no moment; to see fuliginous deformity, mutiny, hatred and despair, with the addition of half-a-million guineas, shall be better? Heaven's blessedness not there; Hell's cursedness, and your half-million bits of metal, a substitute for that! Is there no profit in diffusing Heaven's blessedness, but only in gaining gold?—If so, I apprise the Mill-owner and Millionaire, that he too must prepare for vanishing; that neither is *he* born to be of the sovereigns of this world; that he will have to be trampled and chained down in whatever terrible ways, and brass-collared safe, among the born thralls of this world! We cannot have *Canailles* and Doggeries that will not make some Chivalry of themselves: our noble Planet is impatient of such; in the end, totally intolerant of such!

For the Heavens, unwearying in their bounty, do send other souls into this world, to whom yet, as to their forerunners, in Old Roman, in Old Hebrew and all noble times, the omnipotent guinea is, on the whole, an impotent guinea. Has your half-dead avaricious Corn-Law Lord, your half-alive avaricious Cotton-Law Lord, never seen one such? Such are, not one, but several; are, and will be, unless the gods have doomed this world to swift dire ruin. These are they, the elect of the world; the born champions, strong men, and liberatory Samsons of this poor world:

whom the poor Delilah-world will not always shear of their strength and eyesight, and set to grind in darkness at *its* poor gin-wheel! Such souls are, in these days, getting somewhat out of humour with the world Your very Byron, in these days, is at least driven mad, flatly refuses fealty to the world The world with its injustices, its golden brutalities, and dull yellow guineas, is a disgust to such souls the ray of Heaven that is in them does at least predoom them to be very miserable here Yes —and yet all misery is faculty misdirected, strength that has not yet found its way The black whirlwind is mother of the lightning No *smoke*, in any sense, but can become flame and radiance! Such soul, once graduated in Heaven's stern University, steps out superior to your guinea

Dost thou know, O sumptuous Corn Lord, Cotton-Lord, O mutinous Trades-Unionist, gin-vanquished, undeliverable, O much-enslaved World,—this man is not a slave with thee! None of thy promotions is necessary for him His place is with the stars of Heaven to thee it may be momentous, to thee it may be life or death, to him it is indifferent, whether thou place him in the lowest hut, or forty feet higher at the top of thy stupendous high tower, while here on Earth The joys of Earth that are precious, they depend not on thee and thy promotions Food and raiment, and, round a social hearth, souls who love him, whom he loves these are already his He wants none of thy rewards, behold also, he fears none of thy penalties Thou canst not answer even by killing him: the case of Anaxarchus thou canst kill, but the self of Anaxarchus, the word or act of Anaxarchus, in no wise whatever To this man death is not a bugbear, to this man life is already as earnest and awful, and beautiful and terrible, as death

Not a May game is this man's life, but a battle and a march, a warfare with principalities and powers No idle promenade through fragrant orange groves and green flowery spaces, waited on by the choral Muses and the rosy Hours: it is a stern pilgrimage

through burning sandy solitudes, through regions of thick-ribbed ice He walks among men; loves men, with inexpressible soft pity,—as they *cannot* love him: but his soul dwells in solitude, in the uttermost parts of Creation In green oases by the palm-tree wells, he rests a space, but anon he has to journey forward, escorted by the Terrors and the Splendours, the Arch-demons and Archangels All Heaven, all Pandemonium are his escort The stars keen-glancing, from the Immensities, send tidings to him, the graves, silent with their dead, from the Eternities Deep calls for him unto Deep

Thou, O World, how wilt thou secure thyself against this man? Thou canst not hire him by thy guineas, nor by thy gibbets and law-penalties restrain him. He eludes thee like a Spirit. Thou canst not forward him, thou canst not hinder him Thy penalties, thy poverties, neglects, contumelies: behold, all these are good for him. Come to him as an enemy, turn from him as an unfriend, only do not this one thing,—infect him not with thy own delusion. the benign Genius, were it by very death, shall guard him against this!—What wilt thou do with him? He is above thee, like a god. Thou, in thy stupendous three-inch pattens, art under him He is thy born king, thy conqueror and supreme lawgiver not all the guineas and cannons, and leather and prunella, under the sky can save thee from him Hardest thick-skinned Mammon-world, ruggedest Caliban shall obey him, or become not Caliban but a cramp Oh, if in this man, whose eyes can flash Heaven's lightning, and make all Calibans into a cramp, there dwelt not, as the essence of his very being, a God's justice, human Nobleness, Veracity and Mercy,—I should tremble for the world But his strength, let us rejoice to understand, is even this, The quantity of Justice, of Valour and Pity that is in him To hypocrites and tailored quacks in high places, his eyes are lightning; but they melt in dewy pity softer than a mother's to the downpressed, maltreated, in his heart, in his great

thought, is a sanctuary for all the wretched. This world's improvement is for ever sure.

'Man of Genius'? Thou hast small notion, meseems, O Maecenas Twiddledee, of what a Man of Genius is. Read in thy New Testament and elsewhere,—if, with floods of mealy-mouthed inanity, with miserable froth-vortices of Cant now several centuries old, thy New Testament is not all bedimmed for thee. *Canst* thou read in thy New Testament at all? The Highest Man of Genius, knowest thou him; Godlike and a God to this hour? His crown a Crown of Thorns? Thou fool, with *thy* empty Godhoods, Apotheoses *edge-gilt*; the Crown of Thorns made into a poor jewel-room crown, fit for the head of blockheads; the bearing of the Cross changed to a riding in the Long-Acre Gig! Pause in thy mass-chantings, in thy litanyings, and Calmuck prayings by machinery; and pray, if noisily, at least in a more human manner. How with thy rubrics and dalmatics, and clothwebs and cobwebs, and with thy stupidities and grovelling baseheartedness, hast thou hidden the Holiest into all but invisibility!—

'Man of Genius:' O Maecenas Twiddledee, hast thou any notion what a Man of Genius is? Genius is 'the inspired gift of God.' It is the clearer presence of God Most High in a man. Dim, potential in all men; in this man it has become clear, actual. So says John Milton, who ought to be a judge; so answer him the Voices of all Ages and all Worlds. Wouldst thou commune with such a one? *Be* his real peer then: does that lie in thee? Know thyself and thy real and thy apparent place, and know him and his real and his apparent place, and act in some noble conformity with all that. What! The star-fire of the Empyrean shall eclipse itself, and illuminate magic-lanterns to amuse grown children? He, the god inspired, is to twang harps for thee, and blow through scrannel-pipes, to soothe thy sated soul with visions of new, still wider Eldorados, Houri Paradises, richer Lands of Cockaigne? Brother, this is not he; this is a counterfeit, this

twangling, jangling, vain, acrid, scrannel piping man Thou dost well to say with sick Saul, 'It is naught, such harping!'—and in sudden rage, to grasp thy spear, and try if thou canst pin such a one to the wall King Saul was mistaken in his man, but thou art right in thine. It is the due of such a one: nail him to the wall, and leave him there So ought copper shillings to be nailed on counters, copper geniuses on walls, and left there for a sign!—

I conclude that the Men of Letters too may become a 'Chivalry', an actual instead of a virtual Priesthood, with result immeasurable,—so soon as there is nobleness in themselves for that And, to a certainty, not sooner! Of intrinsic Valetisms you cannot, with whole Parliaments to help you, make a Heroism. Doggeries never so gold-plated, Doggeries never so escutcheoned, Doggeries never so diplomaed, bepuffed, gas lighted, continue Doggeries, and must take the fate of such

CHAPTER VIII

THE DIDACTIC

Certainly it were a fond imagination to expect that any preaching of mine could abate Mammonism, that Bobus of Houndsditch will love his guineas less, or his poor soul more, for any preaching of mine! But there is one Preacher who does preach with effect, and gradually persuade all persons his name is Destiny, is Divine Providence, and his Sermon the inflexible Course of Things Experience does take dreadfully high school-wages, but he teaches like no other!

I revert to Friend Prudence the good Quaker's refusal of 'seven thousand pounds to boot'. Friend Prudence's practical conclusion will, by degrees, become that of all rational practical men whatsoever On the present scheme and principle, Work cannot continue Trades' Strikes, Trades' Unions, Chartisms, mutiny, squalor, rage and desperate revolt, growing ever more

desperate, will go on their way As dark misery settles down on us, and our refuges of lies fall in pieces one after one, the hearts of men, now at last serious, will turn to refuges of truth. The eternal stars shine out again, so soon as it is dark *enough*

Begirt with desperate Trades' Unionism and Anarchic Mutiny, many an Industrial *Law-ward*, by and by, who has neglected to make laws and keep them, will be heard saying to himself 'Why have I realized five hundred thousand pounds? I rose early and sat late, I toiled and moiled, and in the sweat of my brow and of my soul I strove to gain this money, that I might become conspicuous, and have some honour among my fellow-creatures. I wanted them to honour me, to love me The money is here, earned with my best lifeblood but the honour? I am encircled with squalor, with hunger, rage, and sooty desperation Not honoured, hardly even envied, only fools and the flunkey-species so much as envy me I am conspicuous,—as a mark for curses and brickbats. What good is it? My five hundred scalps hang here in my wigwam would to Heaven I had sought something else than the scalps, would to Heaven I had been a Christian Fighter, not a Chactaw one! To have ruled and fought not in a Mammonish but in a Godlike spirit, to have had the hearts of the people bless me, as a true ruler and captain of my people, to have felt my own heart bless me, and that God above instead of Mammon below was blessing me,—this had been something Out of my sight, ye beggarly five hundred scalps of banker's-thousands I will try for something other, or account my life a tragical futility!'

Friend Prudence's 'rock-ledge', as we called it, will gradually disclose itself to many a man, to all men Gradually, assaulted from beneath and from above, the Stygian mud-deluge of Laissez-faire, Supply-and-demand, Cash-payment the one Duty, will abate on all hands, and the everlasting mountain-tops, and secure rock foundations that reach to the centre of the world, and rest on Nature's self, will again emerge

to found on, and to build on. When Mammon-worshippers here and there begin to be God-worshippers, and bipeds-of-prey become men, and there is a Soul felt once more in the huge-pulsing elephantine mechanic Animalism of this Earth, it will be again a blessed Earth

'Men cease to regard money?' cries Bobus of Houndsditch 'What else do all men strive for? The very Bishop informs me that Christianity cannot get on without a minimum of Four thousand five hundred in its pocket. Cease to regard money? That will be at Doomsday in the afternoon!'—O Bobus, my opinion is somewhat different My opinion is, that the Upper Powers have not yet determined on destroying this Lower World A respectable, ever-increasing minority, who do strive for something higher than money, I with confidence anticipate, ever-increasing, till there be a sprinkling of them found in all quarters, as salt of the Earth once more The Christianity that cannot get on without a minimum of Four thousand five hundred, will give place to something better that can Thou wilt not join our small minority, thou? Not till Doomsday in the afternoon? Well, *then*, at least, thou wilt join it, thou and the majority in mass!

But truly it is beautiful to see the brutish empire of Mammon cracking everywhere, giving sure promise of dying, or of being changed A strange, chill, almost ghastly dayspring strikes up in Yankeeland itself; my Transcendental friends announce there, in a distinct, though somewhat lankhaired, ungainly manner, that the Demiurgus Dollar is dethroned, that new unheard-of Demiurgus-ships, Priesthoods, Aristocracies, Growths and Destructions, are already visible in the grey of coming Time Chronos is dethroned by Jove, Odin by St. Olaf, the Dollar cannot rule in Heaven for ever No, I reckon, not Socinian Preachers quit their pulpits in Yankeeland, saying, 'Friends, this is all gone to coloured cobweb, we regret to say!'—and retire into the fields to cultivate onion-beds, and live frugally on vegetables It is very

notable Old godlike Calvinism declares that its old body is now fallen to tatters, and done, and its mournful ghost, disembodied, seeking new embodiment, pipes again in the winds,—a ghost and spirit as yet, but heralding new Spirit worlds, and better Dynasties than the Dollar one

Yes, here as there, light is coming into the world, men love not darkness, they do love light A deep feeling of the eternal nature of Justice looks out among us everywhere,—even through the dull eyes of Exeter Hall; an unspeakable religiousness struggles, in the most helpless manner, to speak itself, in Puseyisms and the like Of our Cant, all condemnable, how much is not condemnable without pity, we had almost said, without respect! The *inarticulate* worth and truth that is in England goes down yet to the Foundations

Some 'Chivalry of Labour', some noble Humanity and practical Divineness of Labour, will yet be realized on this Earth Or why *will*, why do we pray to Heaven, without setting our own shoulder to the wheel? The Present, if it will have the Future accomplish, shall itself commence Thou who prophesiest, who believest, begin thou to fulfil Here or nowhere, now equally as at any time! That outcast help needing thing or person, trampled down under vulgar feet or hoofs, no help 'possible' for it, no prize offered for the saving of it,—canst not thou save it, then, without prize? Put forth thy hand, in God's name, know that 'impossible', where Truth and Mercy and the everlasting Voice of Nature order, has no place in the brave man's dictionary That when all men have said 'Impossible', and tumbled noisily elsewhither, and thou alone art left, then first thy time and possibility have come It is for thee now, do thou that, and ask no man's counsel, but thy own only and God's. Brother, thou hast possibility in thee for much the possibility of writing on the eternal skies the record of a heroic life. That noble downfallen or yet unborn 'Impossibility', thou canst lift it up, thou canst, by thy soul's travail, bring it into clear being That loud

inane Actuality, with millions in its pocket, too 'possible' that, which rolls along there, with quilted trumpeters blaring round it, and all the world escorting it as mute or vocal flunkey,—escort it not thou; say to it, either nothing, or else deeply in thy heart. 'Loud-blaring Nonentity, no force of trumpets, cash, Long-Acre art, or universal flunkeyhood of men, makes thee an Entity, thou art a *Non*entity, and deceptive Simulacrum, more accursed than thou seemest Pass on in the Devil's name, unworshipped by at least one man, and leave the thoroughfare clear!'

Not on Ilion's or Latium's plains, on far other plains and places henceforth can noble deeds be now done. Not on Ilion's plains, how much less in Mayfair's drawing-rooms! Not in victory over poor brother French or Phrygians, but in victory over Frost-jotuns, Marsh giants, over demons of Discord, Idleness, Injustice, Unreason, and Chaos come again None of the old Epics is longer possible The Epic of French and Phrygians was comparatively a small Epic: but that of Flirts and Fribbles, what is that? A thing that vanishes at cock-crowing,—that already begins to scent the morning air! Game-preserving Aristocracies, let them 'bush' never so effectually, cannot escape the Subtle Fowler Game seasons will be excellent, and again will be indifferent, and by and by they will not be at all The Last Partridge of England, of an England where millions of men can get no corn to eat, will be shot and ended. Aristocracies with beards on their chins will find other work to do than amuse themselves with trundling-hoops

But it is to you, ye Workers, who do already work, and are as grown men, noble and honourable in a sort, that the whole world calls for new work and nobleness. Subdue mutiny, discord, widespread despair, by manfulness, justice, mercy and wisdom Chaos is dark, deep as Hell, let light be, and there is instead a green flowery World O, it is great, and there is no other greatness To make some nook of God's Creation

a little fruitfuller, better, more worthy of God, to make some human hearts a little wiser, manfuller, happier,—more blessed, less accursed! It is work for a God Sooty Hell of mutiny and savagery and despair can, by man's energy, be made a kind of Heaven, cleared of its soot, of its mutiny, of its need to mutiny, the everlasting arch of Heaven's azure overspanning *it* too, and its cunning mechanisms and tall chimney-steeples, as a birth of Heaven, God and all men looking on it well pleased

Unstained by wasteful deformities, by wasted tears or heart's-blood of men, or any defacement of the Pit, noble fruitful Labour, growing ever nobler, will come forth,—the grand sole miracle of Man, whereby Man has risen from the low places of this Earth, very literally, into divine Heavens Ploughers, Spinners, Builders, Prophets, Poets, Kings, Brindleys and Goethes, Odins and Arkwrights, all martyrs, and noble men, and gods are of one grand Host, immeasurable, marching ever forward since the Beginnings of the World The enormous, all-conquering, flame crowned Host, noble every soldier in it, sacred, and alone noble Let him who is not of it hide himself, let him tremble for himself Stars at every button cannot make him noble, sheaves of Bath-garters, nor bushels of Georges, nor any other contrivance but manfully enlisting in it, valiantly taking place and step in it O Heavens, will he not bethink himself, he too is so needed in the Host! It were so blessed, thrice-blessed, for himself and for us all! In hope of the Last Partridge, and some Duke of Weimar among our English Dukes, we will be patient yet a while

> The Future hides in it
> Gladness and sorrow;
> We press still thorow,
> Naught that abides in it
> Daunting us,—onward

SUMMARY

BOOK I—PROEM

Chapter I Midas

The condition of England one of the most ominous ever seen in this world Full of wealth in every kind, yet dying of inanition Workhouses, in which no work can be done Destitution in Scotland Stockport Assizes (p 1)—England's unprofitable success Human faces glooming discordantly on one another Midas longed for gold, and the gods gave it him (5)

Chapter II The Sphinx

The grand unnameable Sphinx-riddle, which each man is called upon to solve Notions of the foolish concerning justice and judgement Courts of Westminster, and the general High Court of the Universe The one strong thing, the just thing, the true thing (p. 7)—A noble Conservatism, as well as an ignoble In all battles of men each fighter, in the end, prospers according to his right Wallace of Scotland (11)—Fact and Semblance What is Justice? As many men as there are in a Nation who can *see* Heaven's Justice, so many are there who stand between it and perdition (13)

Chapter III Manchester Insurrection

Peterloo not an unsuccessful Insurrection Governors who wait for Insurrection to instruct them, getting into the fatallest courses Unspeakable County Yeomanry Poor Manchester operatives, and their huge inarticulate question Unhappy Workers, unhappier Idlers, of this actual England! (p 14)—Fair day's-wages for fair day's-

work Milton's 'wages', Cromwell's Pay to each man what he has earned and done and deserved; what more have we to ask?—Some not insupportable approximation indispensable and inevitable (19)

CHAPTER IV MORRISON'S PILL

A state of mind worth reflecting on No Morrison's Pill for curing the maladies of Society Universal alteration of regimen and way of life Vain jargon giving place to some genuine Speech again (p. 23) —If we walk according to the Law of this Universe, the Law-Maker will befriend us, if not, not Quacks, sham heroes, the one bane of the world. Quack and Dupe, upper side and under of the selfsame substance (25)

CHAPTER V. ARISTOCRACY OF TALENT

All misery the fruit of unwisdom Neither with individuals nor with Nations is it fundamentally otherwise. Nature in late centuries universally supposed to be dead, but now everywhere asserting herself to be alive and miraculous The guidance of this country not sufficiently wise (p 27) —Aristocracy of Talent, or government by the Wisest, a dreadfully difficult affair to get started The true *eye* for talent, and the flunkey eye for respectabilities, warm garnitures and larders dropping fatness · Bobus and Bobissimus (30)

CHAPTER VI HERO-WORSHIP

Enlightened Egoism, never so luminous, not the rule by which man's life can be led A *soul*, different from a stomach in any sense of the word Hero-worship, done differently in every different epoch of the world Reform, like Charity, must begin at home 'Arrestment of the knaves and dastards,' beginning by arresting our own poor selves out of that fraternity (p 33) —The present Editor's purpose to himself full of hope A Lode-star in the eternal sky A glimmering of light, for here and there a human soul (37)

BOOK II —THE ANCIENT MONK

CHAPTER I JOCELIN OF BRAKELOND

How the Centuries stand lineally related to each other The one Book not permissible, the kind that has nothing in it Jocelin's 'Chronicle', a private Boswellean Note-book, now seven centuries old How Jocelin, from under his monk's cowl, looked out on that narrow section of the world in a really *human* manner A wise simplicity in him, a *veracity* that goes deeper than words Jocelin's Monk-Latin, and Mr Rokewood's editorial helpfulness and fidelity (p 41) —A veritable Monk of old Bury St Edmunds worth attending to This England of ours, of the year 1200 Cœur-de-Lion King Lackland, and his thirteenpenny mass The poorest historical Fact, and the grandest imaginative Fiction (45)

CHAPTER II ST EDMUNDSBURY

St Edmund's Bury, a prosperous brisk Town · Extensive ruins of the Abbey still visible Assiduous Pedantry, and its rubbish-heaps called 'History' Another world it was, when those black ruins first saw the sun as walls At lowest, O dilettante friend, let us know always that it *was* a world No easy matter to get across the chasm of Seven Centuries Of all helps, a Boswell, even a small Boswell, the welcomest (p 48)

CHAPTER III LANDLORD EDMUND

'Battle of Fornham', a fact, though a forgotten one Edmund, Landlord of the Eastern Counties A very singular kind of 'landlord' How he came to be 'sainted' Seen and felt to have done verily a man's part in this life-pilgrimage of his How they took up the slain body of their Edmund, and reverently embalmed it (p 52) — Pious munificence, ever growing by new pious gifts Certain Times do crystallize themselves in a magnificent manner, others in a rather shabby one (58)

CHAPTER IV ABBOT HUGO.

All things have two faces, a light one and a dark The Ideal has to grow in the Real, and to seek its bed and

board there, often in a very sorry manner Abbot Hugo, grown old and feeble Jew debts, and Jew creditors. How approximate justice strives to accomplish itself (p 59) —In the old monastic Books, almost no mention whatever of 'personal religion'. A poor Lord Abbot, all stuck-over with horse-leeches A 'royal commission of inquiry', to no purpose A monk's first duty, obedience Magister Samson, Teacher of the Novices The Abbot's providential death (62)

Chapter V Twelfth Century

Inspectors or Custodiars, the King not in any breathless haste to appoint a new Abbot Dim and very strange looks that monk-life to us Our venerable ancient spinning grandmothers, shrieking, and rushing out with their distaffs Lakenheath eels, too slippery to be caught (p 65) —How much is alive in England, in that Twelfth Century, how much not yet come into life Feudal Aristocracy, Willelmus Conquestor Not a steeple-chimney yet got on end from sea to sea (68).

Chapter VI Monk Samson

Monk-Life and Monk-Religion A great heaven-high Unquestionability, encompassing, interpenetrating all human Duties. Our modern Arkwright Joe-Manton ages All human dues and reciprocities changed into one great due of 'cash-payment' The old monks but a limited class of creatures, with a somewhat dull life of it (p 69) —One Monk of a taciturn nature distinguishes himself among those babbling ones A Son of poor Norfolk parents Little Samson's awful dream His poor mother dedicates him to St Edmund He grows to be a learned man, of devout grave nature Sent to Rome on business, and returns *too* successful Method of travelling thither in those days His tribulations at home Strange conditions under which Wisdom has sometimes to struggle with Folly (71)

Chapter VII The Canvassing

A new Abbot to be elected. Even gossip, seven centuries off, has significance The Prior with Twelve Monks, to wait on his Majesty at Waltham. An 'election' the

one important social act Given the Man a People choose, the worth and worthlessness of the People itself is given (p 76)

CHAPTER VIII THE ELECTION

Electoral methods and manipulations Brother Samson ready oftenest with some question, some suggestion, that has wisdom in it The Thirteen off to Waltham, to choose their Abbot. In the solitude of the Convent, Destiny thus big and in her birthtime, what gossiping, babbling, dreaming of dreams! (p 79) —King Henry II in his high Presence-chamber Samson chosen Abbot The King's royal acceptation (82) —St Edmundsbury Monks, without express ballot-box or other winnowing machine In every Nation and Community, there is at all times *a fittest*, wisest, bravest, best Human Worth and human Worthlessness (85)

CHAPTER IX ABBOT SAMSON

The Lord Abbot's arrival at St Edmundsbury The selfsame Samson, yesterday a poor mendicant, this day finds himself a *Dominus Abbas* and mitred Peer of Parliament (p 87) —Depth and opulence of true social vitality in those old barbarous ages True Governors go about under all manner of disguises now as then Genius, Poet, what these words mean George the Third, head charioteer of England, and Robert Burns, gauger of ale in Dumfries (88) —How Abbot Samson found a Convent all in dilapidation His life-long harsh apprenticeship to governing, namely obeying First get your Man, all is got Danger of blockheads (90)

CHAPTER X GOVERNMENT

Beautiful, how the chrysalis governing-soul, shaking off its dusty slough and prison, starts forth winged, a true royal soul!—One first labour, to institute a strenuous review and radical reform of his economics Wheresoever Disorder may stand or lie, let it have a care, here is a man that has declared war with it (p 93) —In less than four years the Convent Debts are all liquidated, and the harpy Jews banished from St Edmundsbury New life springs beneficent everywhere Spiritual rubbish as little tolerated as material (95)

Chapter XI The Abbot's Ways

Reproaches, open and secret, of ingratitude, unsociability Except for 'fit men' in all kinds, hard to say for whom Abbot Samson had much favour Remembrance of benefits (p 97) —An eloquent man, but intent more on substance than on ornament A just clear heart the basis of all true talent One of the justest of judges His invaluable 'talent of silence' The kind of people he liked worst Hospitality and stoicism (99) —The country, in those days, still dark with noble wood and umbrage How the old trees gradually died out, no man heeding it Monachism itself, so rich and fruitful once, now all rotted into *peat* Devastations of four-footed cattle and Henry-the-Eighths (101)

Chapter XII The Abbot's Troubles

The troubles of Abbot Samson, more than tongue can tell Not the spoil of victory, only the glorious toil of battle, can be theirs who really govern An insurrection of the Monks Behave better, ye remiss Monks, and thank Heaven for such an Abbot (p 102) —Worn down with incessant toil and tribulation Gleams of hilarity too, little snatches of encouragement granted even to a Governor. How my Lord of Clare, coming to claim his *un*due 'debt', gets a Rowland for his Oliver A Life of Literature, noble and ignoble (104)

Chapter XIII In Parliament

Confused days of Lackland's usurpation, while Cœur-de-Lion was away Our brave Abbot took helmet himself, excommunicating all who should favour Lackland King Richard a captive in Germany (p 108) —St Edmund's Shrine not meddled with A Heavenly Awe overshadowed and encompassed, as it still ought and must, all earthly Business whatsoever (109)

Chapter XIV Henry of Essex

How St Edmund punished terribly, yet with mercy A Narrative, significant of the Time Henry, Earl of Essex, standard-bearer of England No right reverence for the

Heavenly in Man A traitor or a coward Solemn Duel, by the King's appointment An evil Conscience doth make cowards of us all (p 110)

CHAPTER XV PRACTICAL-DEVOTIONAL.

A Tournament proclaimed and held in the Abbot's domain, in spite of him Roystering young dogs brought to reason The Abbot a man that generally remains master at last The importunate Bishop of Ely outwitted. A man that dare abide King Richard's anger, with justice on his side Thou brave Richard, thou brave Samson! (p 114) —The basis of Abbot Samson's life, truly religion His zealous interest in the Crusades The great antique heart, like a child's in its simplicity, like a man's in its earnest solemnity and depth His comparative silence as to his religion, precisely the healthiest sign of him and it Methodism, Dilettantism, Puseyism (118)

CHAPTER XVI ST EDMUND

Abbot Samson built many useful, many pious edifices All ruinous, incomplete things, an eye-sorrow to him Rebuilding the great Altar A glimpse of the glorious Martyr's very Body What a scene, how far vanished from us, in these unworshipping ages of ours! The manner of men's Hero-worship, verily the innermost fact of their existence, determining all the rest (p 121) —On the whole, who knows how to reverence the Body of Man? —Abbot Samson, at the culminating point of his existence Our real-phantasmagory of St Edmundsbury plunges into the bosom of the Twelfth Century again, and all is over (128)

CHAPTER XVII THE BEGINNINGS

Formulas, the very skin and muscular tissue of a Man's Life Living Formulas, and dead Habit the deepest law of *human nature* A pathway through the pathless Nationalities Pulpy infancy, kneaded, baked into any form you choose The Man of Business, the hard-handed Labourer, the genus Dandy *No mortal out of the* depths of Bedlam, but lives by Formulas (p 129) —The hosts and generations of brave men, Oblivion has swal-

lowed Their crumbled dust, the soil our life-fruit grows on Invention of Speech; Forms of Worship, Methods of Justice This English Land, here and now, the summary of what was wise, and noble, and accordant with God's Truth, in all the generations of English Men The thing called 'Fame' (133)

BOOK III —THE MODERN WORKER.

Chapter I Phenomena

How men have 'forgotten God', taken the Fact of this Universe as it *is not*, God's Laws, become a Greatest-Happiness Principle, a Parliamentary Expediency Man has lost the *soul* out of him, and begins to find the want of it (p 141) —The old Pope of Rome, with his stuffed dummy to do the kneeling for him Few men that worship by the rotatory Calabash, do it in half so great, frank or effectual a way (143) —Our Aristocracy, no longer able to *do* its work, and not in the least conscious that it has any work to do The Champion of England 'lifted into his saddle' The Hatter in the Strand, mounting a huge lath-and-plaster Hat Our noble ancestors have fashioned for us, in how many thousand senses, a 'life-road', and we their sons, are madly, literally enough, 'consuming the way' (145)

Chapter II. Gospel of Mammonism

Heaven and Hell, often as the words are on our tongue, got to be fabulous or semi-fabulous for most of us The real 'Hell' of the English Cash-payment, *not* the sole or even chief relation of human beings Practical Atheism, and its despicable fruits (p 150) —One of Dr Alison's melancholy facts A poor Irish Widow in the Lanes of Edinburgh, *proving* her sisterhood Until we get a human *soul* within us, all things are *impossible* Infatuated geese, with feathers and without (154)

Chapter III Gospel of Dilettantism

Mammonism at least works, but 'Go gracefully idle in Mayfair', what does or can that mean ?—Impotent, insolent Donothingism in Practice, and Saynothingism in

Speech No man now speaks a plain word Insincere Speech, the prime material of insincere Action (p 155) —Moslem parable of Moses and the Dwellers by the Dead Sea The Universe *become* a Humbug, to the Apes that thought it one (157)

Chapter IV Happy

All work, noble, and every noble crown a crown of thorns Man's pitiful pretension to be what he calls 'happy' His Greatest-Happiness Principle fast becoming a rather unhappy one Byron's large audience A philosophical Doctor A disconsolate Meat-jack, gnarring and creaking with rust and work (p 158) —The only 'happiness' a brave man ever troubled himself much about, the happiness to get his work done (161).

Chapter V The English

With all thy theoretic platitudes, what a depth of practical sense in thee, great England! A dumb people, who can do great acts, but not describe them The noble Warhorse, and the Dog of Knowledge The freest utterances not by any means the best (p 162) —The done Work, much more than the spoken Word, an epitome of the man The Man of Practice, and the Man of Theory Ineloquent Brindley The English, of all Nations, the stupidest in speech, the wisest in action Sadness and seriousness Unconsciously this great Universe is great to them The Silent Romans John Bull's admirable insensibility to Logic (163) —All great Peoples conservative The English Ready-Reckoner a Solecism in Eastcheap Berserkir-rage. Truth and Justice alone *capable* of being 'conserved' Bitter indignation engendered by the Corn-Laws in every just English heart (168)

Chapter VI Two Centuries

The 'Settlement' of the year 1660, one of the mournfullest that ever took place in this land of ours The true end of Government, to guide men in the way they should go The true good of this life, the portal of infinite good in the life to come Oliver Cromwell's body hung on the Tyburn-gallows, the type of Puritanism found futile, inexecutable, execrable The Spiritualism of

England, for two godless centuries, utterly forgettable: Her practical Material Work alone memorable (p 172) — Bewildering obscurations and impediments Valiant Sons of Toil enchanted, by the million, in their Poor-Law Bastille. Giant Labour, yet to be King of this Earth (175)

CHAPTER VII OVER-PRODUCTION

An idle Governing Class addressing its Workers with an indictment of 'Over-production' Duty of justly apportioning the Wages of Work done A game-preserving Aristocracy, guiltless of producing or apportioning anything Owning the soil of England (p 176) —The Working Aristocracy, steeped in ignoble Mammonism The Idle Aristocracy, with its yellow parchments and pretentious futilities (178)

CHAPTER VIII UNWORKING ARISTOCRACY

Our Land the *Mother* of us all No true Aristocracy but must possess the Land Men talk of 'selling' Land Whom it belongs to Our much-*consuming* Aristocracy By the law of their position bound to furnish guidance and governance Mad and miserable Corn-Laws (p 180) —The Working Aristocracy, and its terrible New-Work: The Idle Aristocracy, and its horoscope of despair (183) —A High Class without duties to do, like a tree planted on precipices In a valiant suffering for others, not in a slothful making others suffer for us, did nobleness ever lie. The Pagan Hercules, the Czar of Russia (185) — Parchments, venerable and not venerable Benedict the Jew, and his usuries No Chapter on the Corn-Laws The Corn-Laws too mad to have a Chapter (187)

CHAPTER IX WORKING ARISTOCRACY

Many things for the Working Aristocracy, in their extreme need, to consider A National Existence supposed to depend on 'selling cheaper' than any other People Let inventive men try to invent a little how cotton at its present cheapness could be somewhat justlier divided. Many 'impossibles' will have to become possible (p 188). —Supply-and-demand. For what noble work was there ever yet any audible 'demand in that poor sense? (192)

CHAPTER X PLUGSON OF UNDERSHOT

Man's philosophies usually the 'supplement of his practice' Symptoms of social death Cash-Payment The Plugson Ledger, and the Tablets of Heaven's Chancery, discrepant exceedingly (p 194) —All human things do require to have an Ideal in them How murderous Fighting became a 'glorious Chivalry' Noble devout-hearted Chevaliers Ignoble Bucaniers and Chactaw Indians Howel Davies Napoleon flung out, at last, to St Helena, the latter end of him sternly compensating for the beginning (195) —The indomitable Plugson, as yet a Bucanier and Chactaw William Conqueror and his Norman followers Organization of Labour Courage, there are yet many brave men in England! (198)

CHAPTER XI LABOUR

A perennial nobleness, and even sacredness in Work Significance of the Potter's Wheel Blessed is he who has found his Work, let him ask no other blessedness (p 202) —A brave Sir Christopher, and his Paul's Cathedral Every noble work, at first 'impossible' Columbus, royallest Sea-king of all A depth of Silence, deeper than the Sea, a Silence unsoundable, known to God only (204)

CHAPTER XII REWARD

Work is Worship Labour, wide as the Earth, has its summit in Heaven One monster there is in the world, the idle man (p 206) —'Fair day's-wages for a fair day's-work', the most unrefusable demand The 'wages' of every noble Work, in Heaven or else Nowhere· The brave man has to *give* his Life away He that works, bodies forth the form of Things Unseen Strange mystic affinity of Wisdom and Insanity All Work, in its degree, a making of Madness sane (209) —Labour not a devil, even when encased in Mammonism The unredeemed ugliness, a slothful People The vulgarest Plugson of a Master-Worker, not a man to strangle by Corn-Laws and Shot-belts (213)

CHAPTER XIII DEMOCRACY

Man must actually have his debts and earnings a little better paid by man At no time was the lot of the dumb millions of toilers so entirely unbearable as now Sisterhood, brotherhood, often forgotten, but never before so expressly denied Mungo Park and his poor Black Benefactress (p 215) —Gurth born thrall of Cedric the Saxon Liberty, a Divine thing, but 'liberty to die by starvation' not so divine Nature's Aristocracies William Conqueror, a resident House-Surgeon provided by Nature for her beloved English People (218) —Democracy, the despair of finding Heroes to govern us, and contented putting up with the want of them The very Tailor unconsciously symbolizing the reign of Equality Wherever ranks do actually exist, strict division of costumes will also be enforced (222) —Freedom from oppression, an indispensable yet most insignificant portion of Human Liberty A *best path* does exist for every man, a thing which, here and now, it were of all things *wisest* for him to do Mock Superiors and Real Superiors (224)

CHAPTER XIV SIR JABESH WINDBAG

Oliver Cromwell, the remarkablest Governor we have had for the last five centuries or so No volunteer in Public Life, but plainly a balloted soldier: The Government of England put into his hands (p 228) —Windbag, weak in the faith of a God, strong only in the faith that Paragraphs and Plausibilities bring votes Five years of popularity or unpopularity, and *after* those five years, an Eternity Oliver has to appear before the Most High Judge Windbag, appealing to 'Posterity' (229)

CHAPTER XV MORRISON AGAIN

New Religions This new stage of progress, proceeding 'to invent God', a very strange one indeed (p 232) —Religion, the Inner Light or Moral Conscience of a man's soul Infinite difference between a Good man and a Bad. The great Soul of the World, just and not unjust Faithful, unspoken, but not ineffectual 'prayer' Penalties The French Revolution, cruellest Portent that has risen into

created Space these ten centuries Man needs no 'New Religion', nor is like to get it Spiritual Dastardism, and sick folly (233) —One Liturgy which does remain for ever unexceptionable, that of *Praying by Working*. Sauerteig on the symbolic influences of Washing Chinese Pontiff - Emperor and his significant 'punctualities' (239) —Goethe and German Literature The great event for the world, now as always, the arrival in it of a new Wise Man Goethe's *Mason-Lodge* (243)

BOOK IV—HOROSCOPE

CHAPTER I ARISTOCRACIES

To predict the Future, to manage the Present, would not be so impossible, had not the Past been so sacrilegiously mishandled A godless century, looking back to centuries that were godly (p 245) —A new real Aristocracy and Priesthood. The noble Priest always a noble *Aristos* to begin with, and something more to end with Modern Preachers, and the *real* Satanas that now is Abbot-Samson and William-Conqueror times The mission of a Land Aristocracy, a *sacred* one, in both senses of that old word Truly a 'Splendour of God' did dwell in those old rude veracious ages Old Anselm travelling to Rome, to appeal against King Rufus Their quarrel at bottom a great quarrel (247) —The boundless Future predestined, nay already extant though unseen Our Epic, not *Arms and the Man*, but *Tools and the Man*, an infinitely wider kind of Epic Important that our grand Reformation were begun (255)

CHAPTER II BRIBERY COMMITTEE

Our theory, perfect purity of Tenpound Franchise, our practice, irremediable bribery Bribery, indicative not only of length of purse, but of brazen dishonesty. Proposed improvements A Parliament, starting with a lie in its mouth, promulgates strange horoscopes of itself (p 258) —Respect paid to those worthy of no respect. Pandarus Dogdraught The indigent discerning Freeman, and the kind of men he is called upon to vote for (261)

CHAPTER III THE ONE INSTITUTION.

The 'Organization of Labour', if well understood, the Problem of the whole Future Governments of various degrees of utility Kilkenny Cats, Spinning-Dervishes, Parliamentary Eloquence A Prime-Minister who would dare believe the heavenly omens (p 263) —Who can despair of Governments, that passes a Soldier's Guard-house ?—Incalculable what, by arranging, commanding and regimenting, can be made of men Organisms enough in the dim huge Future, and 'United Services' quite other than the redcoat one (266) —Legislative interference between Workers and Master-Workers increasingly indispensable Sanitary Reform People's Parks A right Education Bill, and effective Teaching Service Free bridge for Emigrants England's sure markets, among her Colonies London, the *All-Saxon Home*, rendezvous of all the 'Children of the Harz-Rock' (270) —The English essentially conservative Always the invincible instinct to hold fast by the Old, to admit the *minimum* of New Yet new epochs do actually come, and with them new peremptory necessities A certain Editor's stipulated work (275)

CHAPTER IV CAPTAINS OF INDUSTRY

Government can do much, but it can in nowise do all Fall of Mammon To be a noble Master among noble Workers, will again be the first ambition with some few (p 276) —The Leaders of Industry, virtually the Captains of the World Doggeries and Chivalries Isolation, the sum-total of wretchedness to man All social growths in this world have required organizing, and Work, the grandest of human interests, does now require it (278)

CHAPTER V PERMANENCE

The 'tendency to persevere', to persist in spite of hindrances, discouragements and 'impossibilities', that which distinguishes the Species Man from the Genus Ape Month-long contracts, and Exeter-Hall purblindness A practical manufacturing Quaker's care for his workmen. (p 283) —Blessing of Permanent Contract Permanence in all things, at the earliest possible moment, and to the

latest possible Vagrant Sam-Slicks The wealth of a man the number of things he loves and blesses, which he is loved and blessed by (288) —The Worker's *interest* in the enterprise with which he is connected How to reconcile Despotism with Freedom (288)

CHAPTER VI THE LANDED

A man with fifty, with five hundred, with a thousand pounds a day, given him freely, without condition at all, might be a rather strong Worker The sad reality, very ominous to look at Will he awaken, be alive again, or is this death-fit very death ?—Goethe's Duke of Weimar Doom of Idleness (p 289) —To sit idle aloft, like absurd Epicurus'-gods, a poor life for a man Independence, 'lord of the lion-heart and eagle-eye' Rejection of sham Superiors, the needful preparation for obedience to *real* Superiors (292)

CHAPTER VII THE GIFTED

Tumultuous anarchy, calmed by noble effort into fruitful sovereignty Mammon like Fire, the usefullest of servants, if the frightfullest of masters Souls to whom the omnipotent guinea is, on the whole, an impotent guinea Not a May-game is this man's life, but a battle and stern pilgrimage God's justice, human Nobleness, Veracity and Mercy, the essence of his very being (p 295) —What a man of Genius is The Highest 'Man of Genius' Genius, the clearer presence of God Most High in a man Of intrinsic Valetisms you cannot, with whole Parliaments to help you, make a Heroism (299)

CHAPTER VIII THE DIDACTIC

One preacher who does preach with effect, and gradually persuade all persons Repentant Captains of Industry A Chactaw Fighter, become a Christian Fighter (p 300) —Doomsday in the afternoon The 'Christianity' that cannot get on without a minimum of Four thousand-five-hundred, will give place to something better that can Beautiful to see the brutish empire of Mammon cracking everywhere A strange, chill, almost ghastly dayspring in Yankeeland itself Here as there, Light is coming into

the world Whoso believes, let him begin to fulfil 'Impossible,' where Truth and Mercy and the everlasting Voice of Nature order, can have no place in the brave man's dictionary (302) —Not on Ilion's or Latium's plains; on far other plains and places henceforth can noble deeds be done The last Partridge of England shot and ended: Aristocracies with beards on their chins O, it is great, and there is no other greatness To make some nook of God's Creation a little fruitfuller, to make some human hearts a little wiser, manfuller, happier It is work for a God! (304)

INDEX

Allison, Dr, 3, 154
Anger, 95
Anselm, travelling to Rome, 253
Apes, Dead-Sea, 157, 224, 227
Arab Poets, 89
Aristocracy of Talent, 27, dreadfully difficult to attain, 30, 33, 247, our Phantasm - Aristocracy, 45, 177, 182, 201, 208, 224, 290, 304, duties of an Aristocracy, 177, 182, 198, Working Aristocracy, 178, 183, 278, 301, no true Aristocracy, but must possess the Land, 180, 251, Nature's Aristocracies, 219, a Virtual Aristocracy everywhere and everywhen, 247, the Feudal Aristocracy no imaginary one, 251, 280
Army, the, 266
Arrestment of the knaves and dastards, 36, 251
Atheism, practical, 153, 159

Battlefield, a, 197 *See* Fighting
Becket, 245, 254
Beginnings, 129
Benefactresses, 217
Benthamee-Radicalism, 29
Berserkir rage, 169
Bible of Universal History, 246
Blockheads, danger of, 92
Bobus of Houndsditch, 31, 35, 302
Bonaparte, flung out to St Helena, 198
Books, 41
Bribery, 258
Brindley, 165
Bucaniering, 197
Burns, 35, 89, 210, 291
Byron's life-weariness, 160, 297

Cant, 63
Canute, King, 49
Cash-payment not the sole relation of human beings, 152, 194, 200, love of men cannot be bought with cash, 279
Centuries, the, lineally related to each other, 41, 51
Chactaw Indian, 197
Champion of England, the, 'lifted into his saddle,' 145
Chancery Law-Courts, 264, 267
China, Pontiff-Emperor of, 241

Chivalry of Labour, 196, 279, 283, 288, 296, 303
Christianity, grave of, 144; the Christian Law of God found difficult and inconvenient, 172, the Christian Religion not accomplished by Prize-Essays, 192, or by a minimum of Four-thousand-five-hundred, 302 *See* New Testament
Church, the English, 173, 267, Church-Articles, 232, what a Church-Apparatus *might* do, 249
Cœur-de-Lion, 45, 108, King Richard, too, knew a man when he saw him, 118
Colonies, England's sure markets among her, 274
Columbus, royallest Sea-king of all, 205
Competition and Devil take the hindmost, 189, 194; abatement of, 277
Conscience, 112, 233.
Conservatism, noble and ignoble, 9, 11, John Bull a born Conservative, 168; Justice alone *capable* of being 'conserved', 170
Corn-Laws, unimaginable arguments for the, 6, 25, 156, 168, bitter indignation in every just English heart, 171, ultimate basis of, 178; mischief and danger of, 182, 187, 214, after the Corn-Laws are ended, 191, 257, 263, what William Conqueror would have thought of them, 221
Cromwell, and his terrible lifelong wrestle, 19, by far our remarkablest Governor, 228
Crusades, the, 119
Custom, reverence for, 168

Dandy, the genus, 132
Death, eternal, 238 *See* Life
Debt, 94
Democracy, 215, close of kin to Atheism, 222, walking the streets everywhere, 257
Despotism reconciled with Freedom, 289
Destiny, didactic, 37
Dilettantism, 49, 120, 127, 175, gracefully idle in Mayfair, 156
Dupes and Quacks, 27
Duty, infinite nature of, 113, 119

Economics, necessity of, 94
Editor's, the, purpose to himself full of hope, 37, his stipulated work, 276
Edmund, St, 54, on the rim of the horizon, 112, opening the Shrine of, 122
Edmundsbury, St, 48
Education Service, an effective, possible, 273
Election, the one important social act, 78, electoral winnowing-machines, 81, 88
Emigration, 274

England, full of wealth, yet dying of inanition, 1, the guidance of, not wise enough, 29, 279, England of the year '1200', 45, 50, 65, 114, 250, disappearance of our English Forests, 101, this England, the practical summary of English Heroism, 136, now nearly eaten up by puffery and unfaithfulness, 149, real Hell of the English, 150, of all Nations, the stupidest in speech, the wisest in action, 163, 174, unspoken sadness, 165, conservatism, 168, Berserkir-rage, 169, a Future, wide as the world, if we have heart and heroism for it, 274
Essex, Henry, Earl of, 110, 233
Experience, 300

Fact and Semblance, 13, and Fiction, 48
Fame, the thing called, 133, 137 *See* Posterity
Fighting, all, an ascertainment who has the right to rule over whom, 13, 250, murderous Fighting become a 'glorious Chivalry', 196
Flunkeys, whom no Hero-King *can* reign over, 35 *See* Valets
Forests, disappearance of, 101
Formulas, the very skin and muscular tissue of Man's Life, 129, 131
Fornham, battle of, 53
French Donothing Aristocracy, 185, the French Revolution a voice of God, though in wrath, 237, 280
Funerals, Cockney, 128
Future, the, already extant though unseen, 255, England's Future, 274 *See* Past

Geese, with feathers and without, 155
Genius, what meant by, 89, 299
Gideon's fleece, 205.
Gifted, the, 295
God, forgetting, 141, God's Justice, 197, 235, belief in God, 229, proceeding 'to invent God', 233
Goethe, 243, 291, his *Mason Lodge*, 244
Gossip preferable to pedantry, 51, seven centuries off, 76, 81
Governing, art of, 91, Lazy Governments, 264, every Government the symbol of its People, 276
Great Man, a, 206 *See* Wisdom
Gurth, born thrall of Cedric the Saxon, 218, 251, 257

Habit, the deepest law of human nature, 130
Hampden's coffin opened, 126
Happy, pitiful pretensions

to be, 159, happiness of getting one's work done, 161
Hat, perambulating, seven-feet high, 146
Healing Art, the, a sacred one, 3
Heaven and Hell, our notions of, 150
Heaven's Chancery, 195, 199
Hell, real, of a man, 70; Hell of the English, 151, 277
Henry II choosing an Abbot, 82, his Welsh wars, 111; on his way to the Crusades, 119, our brave Plantagenet Henry, 250
Henry VIII, 102
Hercules, 186, 211
Heroic Promised-Land, 38
Hero-worship, 34, 57, 123, 126, 234, 253, 293, what Heroes have done for us, 136, 148
History, Philosophical, 245, 246
Horses, able and willing to work, 22, Goethe's thoughts about the Horse, 163
Howel Davies, the Bucanier, 197
Hugo, Abbot, old, feeble and improvident, 60, his death, 64, difficulties with Monk Samson, 75

Ideal, the, in the Real, 59, 195.
Idleness alone without hope, 151, Idle Aristocracy, 177, 184, 208, 289
Igdrasil, the Life-Tree, 39, 133, 256
Ignorance, our Period of, 247
Iliad, the, 135
Impossible, 19, 22, without *soul*, all things impossible, 155, every noble work at first 'impossible', 205, 211, 303
Independence, 294.
Industry, Captains of, 198, 213, 278, 296, 301; our Industrial Ages, 255
Infancy and Maturity, 131.
Injustice the one thing intolerable, 217
Insanity, strange affinity of Wisdom and, 212.
Insurrections, 14
Invention, 134.
Irish Widow, an, *proving* her sisterhood, 154, 217
Isolation the sum-total of wretchedness, 281.

Jew debts and creditors, 61, 94, 95; Benedict and the tooth-forceps, 187
Jocelin of Brakelond, his Boswellean Notebook seven centuries old, 42.
John, King, 46, 108
Justice, the basis of all things, 10, 19, 113, 170; what is Justice, 13, 220, a just judge, 98, venerable Wigged-Justice began in Wild-Justice, 136; God's Justice alone strong, 200, 298. *See* Parchments.

Kilkenny Cats, 264

King, the true and the sham, 86, 91, 227, the Ablest Man, the virtual King, 229, again *be* a King, 256, the proper name of all Kings, Minister, Servant, 266
'Know thyself,' 202

Labour, to be King of this Earth, 175, Organization of, 201, 215, 263, perennial nobleness and sacredness in, 202 *See* Chivalry, Work
Laissez-faire, 189, general breakdown of, 190, 191
Lakenheath eels, 67
Landlords, past and present, 54, Land-owning, 178, whom the Land belongs to, 180, the mission of a Land Aristocracy a *sacred* one, 252, 289
Laughter, 156
Law, gradual growth of, 135, the Maker's Laws, 237 *See* Chancery
Legislative interference, 270
Liberty, true meaning of, 218, 224
Life, the, to come, 172, 239, Life never a May-game for men, 216, 297
Literature, noble and ignoble, 107
Liturgies, 134
Liverpool, 69
Lodestar, a, in the eternal sky, 38
Logical futilities, 164, 167.

Machinery, exporting, 188.
Mahomet, 204
Mammon, not a god at all, 70, Gospel of Mammonism, 150, 196, Working Mammonism better than Idle Dilettantism, 151, 155, 213, getting itself strangled, 188, fall of Mammon, 277, 301, Mammon like Fire, 296 *See* Economics
Man the Missionary of Order, 95, 235, sacredness of the human Body, 128, a born Soldier, 196, a God-created Soul, 237 *See* Great Man
Manchester Insurrection, 14; poor Manchester operatives, 15, 50, Manchester in the twelfth century, 68, even sooty Manchester built on the infinite Abysses, 235
Marriage-contracts, 284, 287
Master, eye of the, 94
Meat-jack, a disconsolate, 100
Methodism, 62, 69, 120
Midas, 6
Mights and Rights, 196
Millocracy, our giant, 145
Milton's 'wages', 19
Misery, all, the fruit of unwisdom, 27; strength, that has not yet found its way, 297
Monks, ancient and modern, 44, the old monks not without secularity, 62, 69, insurrection of monks, 103
Morality, 168

Morrison's Pill, 23, men's 'Religion' a kind of, 234
Moses and the Dwellers by the Dead-Sea, 157.
Mungo Park, 217

National Misery the result of national misguidance, 28
Nationality, 131
Nature, not dead but alive and miraculous, 29
Negro Slavery and White Nomadism, 285
New Testament, 195, 299
Nobleness, meaning of, 186

Obedience, 91
Oblivion a still resting-place, 138
Organizing, what may be done by, 268, 279
Originality, 134 *See* Path-making
Over-production, charge of, 176, 209

Pandarus Dogdraught, 252, 261
Parchments, venerable and not venerable, 179, 187
Parliament and the Courts of Westminster, 9, 264; a Parliament starting with a lie in its mouth, 259
Past, Present and Future, 39, 245, 255, 274
Path-making, 130
Pedantry, 49
Permanence the first condition of all fruitfulness, 284, 286.
Peterloo, 16.
Pilate, 13
Pity, 57
Plugson of Undershot, 195, 213
Pope, the old, with stuffed devotional rump, 143
Posterity, appealing to, 231 *See* Fame
Potter's Wheel, significance of the, 203
Practice, the Man of, 162
Prayer, faithful unspoken, 236, praying *by Working*, 239
Premier, what a wise, might do, 266 *See* Windbag.
Priest, the noble, 248
Puffery, all-deafening blast of, 147
Puritanism giving way to decent Formalism, 173
Puseyism, 120, 303

Quacks and sham-heroes, 26, 86, 146, 153, 230
Quaker's, a manufacturing, care for his workmen, 286, 301

Ready-Reckoner, strange state of our, 169
Reform, like Charity, must begin at home, 36
Religion, a great heaven-high Unquestionability, 62, 69, 120, our religion gone, 141; all true Work, Religion, 206; foolish craving for a 'New Religion', 232, 238, Inner Light of a man's soul, 233. *See* Prayer, Worship
Richard I *See* Cœur-de-Lion.

Robert de Montfort, 111
Rokewood, Mr, 44
Roman Conquests, 166
Rome, a tour to, in the twelfth century, 73
Russians, the silent, worth something, 163, 166, the Czar of Russia, 186.

Saints and Sinners, 55
Sam-Slicks, vagrant, 288
Samson, Monk, teacher of the Novices, 63, his parentage, dream, and dedication to St Edmund, 72, sent to Rome, 73, home tribulations, 74, silence and wariness, 75, though a servant of servants, his words all tell, 80, elected Abbot, 85, arrival at St Edmundsbury, 87, getting to work, 90, 93, his favour for 'fit men', 97, not unmindful of kindness, 97, a just clear-hearted man, 99, hospitality and stoicism, 100, troubles and triumphs, 102, in Parliament, 108, practical devotion, 114, Bishop of Ely outwitted, 115, King Richard withstood, 117, zealous interest in the Crusades, 119, a glimpse of the Body of St Edmund, 122, the culminating point of his existence, 128
Sanitary Reform, 271
Satanas, the true, that now is, 249
Sauerteig, on Nature, 29; our reverence for Death and for Life, 128; the real Hell of the English, 151, fashionable Wits, 156; symbolic influences of Washing, 240
Saxon Heptarchy, 13
Schnuspel, the distinguished Novelist, 57
Scotch Covenanters, 231
Scotland, destitution in, 3
Scott, Sir W, on the Apennines, 287
Selfishness, 29, 34
Silence, invaluable talent of, 99, 166, 246, unsounded depths of, 206, 207, two Silences of Eternity, 235
Sliding-Scales, 184, 191 *See* Corn-Laws
Soldier, the, 266
Sorrow, Worship of, 158
Soul and Conscience, need for some, 26, 81, 195, 239, to save the 'expense of salt', 50, man has lost the *soul* out of him, 142, 168
Speech and jargon, difference between, 24, invention of articulate speech, 133, insincere speech, 157, the Speaking Man wandering terribly from the point, 249 *See* Silence
Sphinx-riddle of Life, the, 7, 13, *our* Sphinx-riddle, 17
Spinning-Dervishes, 265
Sumptuary Laws, 223
Supply-and-demand, 192

Tailor-art, symbolism of the, 222
Taxes, where to lay the new, 252
Tears, beautifullest kind of, 57
Teufelsdröckh on Democracy, 222
Theory, the Man of, 164
Thersites, 293
Thirty-nine Articles, 232
Tools and the Man, 255, 257

Unanimity in folly, 148
Unconscious, the, the alone Complete, 120
Universe, general High Court of the, 9, 25, 187, a great unintelligible 'Perhaps', 141, *become* the Humbug it was thought to be, 158, a beggarly Universe, 193, the Universe made by Law, 235
Unseen, the, 211
Unwisdom, infallible fruits of, 32.

Vacuum, and the serene Blue, 193
Valets and Heroes, 27, 86, 153, 227, 300, London valets dismissed annually to the streets, 285 *See* Flunkeys

Wages, fair day's-, for fair day's-work, 19, 209
Wallace, Scotland's debt to, 12
Washing, symbolic influences of, 240
Wealth, true, 288, 301
Weimar, Duke of, 291
Willelmus Conquestor, 68, 199, a man of most flashing discernment and strong lion-heart, 220; not a vulturous Fighter, but a valorous Governor, 250
Willelmus Sacrista, 61, 71, 76, 83, 96
William Rufus, 250, 253; the quarrel of Rufus and Anselm, a great quarrel, 254
Windbag, Sir Jabesh, 137, 228
Wisdom, how, has to struggle with Folly, 76, 77, 80, 136, 219, the higher the Wisdom the closer its kindred with Insanity, 212, a *wisest path* for every man, 225, the Wise and Brave properly but one class, 248, 250, 305, the life of the Gifted not a May-game, but a battle and stern pilgrimage, 297
Wits, fashionable, 156
Women, born worshippers, 57
Work, world-wide accumulated, 136, endless hope in work, 151, 202, all work noble, 158, and eternal, 162, the Work he has done, an epitome of the Man, 164, 203, Work is Worship, 206, 239, all Work a making of Madness sane, 212 *See* Labour.

Workhouses, in which no work can be done, 2
Working Aristocracy, 178, 183, 279, 304; getting strangled, 188
Workmen, English, unable to find work, 2, 18; intolerable lot, 217
Worship, Forms of, 134; Scenic Theory of, 144; Apelike, 158; the truest, 206, 240. *See* Religion
Worth, human, and Worthlessness, 86. *See* Pandarus

Yankee Transcendentalists, 302